नागरसर्वस्वम्
डा० रामसागर त्रिपाठी

॥श्रीः ॥

व्रजजीवन आयुर्विज्ञान ग्रन्थमाला

१७

महामति-पद्मश्रीविरचितं

नागरसर्वस्वम्

(मूल, हिन्दी अनुवाद, व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ एवं विविध परिशिष्ट)

सम्पादक-द्वय

डॉ. रामसागर त्रिपाठी

श्रीमती तारावती त्रिपाठी

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८, यू.ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर

दिल्ली-११०००७

विषय सूची

भूमिका

जगत्सृष्टा की सृष्टि जिन चमत्कारों से भरी है, उसमें जैसी स्वतः प्रवृत्त (आटोमेटिक) व्यवस्था दृष्टिगत होती है उसे देखकर कोई भी विचारक आश्चर्यचकित हुये बिना नहीं रहसकता। स्वभावतः उसकी पूजा में सर झुक जाता है और हाथ बंध जाते हैं। जोकि समस्त पूजा पद्धतियों और धार्मिक सम्प्रदायों का मूलाधार बनता है। हम उसे किसी रूप में देखे और उसे कोई भी नाम रूप दें सबके मूल में उस सृष्टिकर्ता का कौशल ही है जो अनन्त काल से मानव जगत् को आश्चर्यचकित करता चला आ रहा है और यद्यपि विज्ञान अनेक नवीन आविष्कारों एवं अनुसन्धानों का दावा करता है किन्तु उस कौशल के एक अंश तक भी नहीं पहुंच सका है।

जगत् के उक्त महान् आश्चर्यों में जीव सृष्टि और विशेष रूप से मानव सृष्टि भी एक है। विचारकों का कहना है कि मानव-मस्तिष्क परमात्मा की सर्वोत्तम रचना है जो नई सृष्टि रच देने तक के दम्भ से भरा हुआ है। मस्तिष्क ही क्यों हमारा सारा शरीर आश्चर्यों का पिटारा है जिसमें रक्त वाहिनी नाड़ियां विभिन्न अंगों की आवश्यकता के अनुसार समस्त क्रियाकलाप सञ्चालित करती रहती हैं और प्रयोज्य को उस गतिविधि का ज्ञान भी नहीं रहता। स्त्री-पुरुषों की जननेन्द्रियाँ इस आश्चर्य जनक पिटारे का सर्वोत्तम उदाहरण हैं। विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस जगन्नियन्ता के जगत्सर्जन में दो महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हैं—एक तो जीवन रक्षा और दूसरा सृष्टि परम्परा सुरक्षित रखने की कामना। हमारे ऋषियों ने कहा है कि आत्मा की आदि नहीं है और शरीर परम्परा भी अनादि है—'आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम्'। पहली आवश्यकता की पूर्ति के लिये उसने भूख प्यास बनाई है—हम देखते भी नहीं कि रक्त निर्माण के लिये उपयोगी उपकरण जल इत्यादि की कमी तो नहीं पड़ गई, हमारे बिना देखे ही भूख और प्यास के रूप में माँग स्वयं आ जाती है और उसकी पूर्ति के लिये हम बाध्य हो जाते हैं। दूसरी आवश्यकता की पूर्ति के लिये भगवान ने जो उपकरण उत्पन्न किये हैं उनमें सेक्स की भावना सर्वाधिक प्रधान है।

सेक्स के उपकरणों और उनकी रचना पर ध्यान देने से आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। कितने आश्चर्य की बात है कि पुरुष और स्त्री दोनों के अवयव संस्थान पृथक् पृथक् हैं—एक में बीज उद्भूत होता है और अपनी उर्वरा शक्ति को सुस्थिर रखता है और दूसरे में उसे धारण करने, विकसित करने और समय पर उत्पादित करने की शक्ति अन्तर्निहित रहती है। इससे बड़ा आश्चर्य उन दोनों को मिलाने की प्रक्रिया में है। न इसके लिये विज्ञापन प्रसारित

करना पड़ता है न मूल्य चुकाना पड़ता है, मिलने की एक स्वाभाविक तड़प उत्पन्न हो जाती है जो भूख, प्यास, उठना, बैठना, सोना सभी कुछ भुला देती है। सब कुछ निछावर करके भी व्यक्ति स्वयं को धन्य समझने लगता है। इसी भावनाको विचारकों ने सेक्स का नाम दिया है और यही भावना जीव-परम्परा को बनाये रखने में कारण होती है तथा प्राणियों की परम्परा अबाधित रूप में निरन्तर प्रवहमान रहती है। हमारे मनीषियों ने इस भावना को उचित ही मनोभव नाम दिया है क्योंकि समय पर यह भावना बिना शिक्षा के या बिना किसी प्रेरणा के स्वतः उद्‌भूत हो जाती है। व्यक्ति अपने सहयोगी दूसरे व्यक्ति को मिलने के लिये आतुर हो उठता है अपने मनोऽनुकूल अर्थ की प्राप्ति के लिये इसी ललक को विचारकों ने रति नाम दिया है। 'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' कविवर प्रसाद के शब्दों में—'आकर्षण बन हंसती थी, रति थी अनादि वासना वही। x x x x x x अन्तर में उसकी चाह रही।'.

हमारे विचारकों ने भारतीय धर्मसाधना का सर्वप्रमुख तत्त्व माना है पुनर्जन्म का सिद्धान्त। इसी दृष्टि से बौद्ध जैन, ब्राह्मण इत्यादि सभी धर्मों की एकता स्थापित की जा सकती है। ईसाई, मुसलमान इत्यादि विदेशोद्‌भूत धर्मों से भारतीय विचारधारा का व्यतिरेक (पृथक्करण) इसी तत्त्व के आधार पर हो जाता है। सामान्य रूप से समस्त जड़चेतन सृष्टि ब्रह्मरूप में एक है। माया के बन्धन में ब्रह्मतत्त्व ही जीव रूप धारण कर लेता है और एक होते हुए भी पृथक्ता का अनुभव करने लगता है। उस अपने स्वरूप को पुनः प्राप्त कर लेना ही जीव का सर्वोत्तम चरम लक्ष्य है जिसे दार्शनिक भाषा में सायुज्य मुक्ति की संज्ञा दी जा सकती है। वह ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। तैत्तिरीय उपनिषद् का निष्कर्ष है—

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव रवल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति; आनन्दं प्रत्यभिविशन्ति।' आशय यह है कि ऋषियों ने निर्णय किया कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हुये प्राणी आनन्द से जीवित रहते हैं (जीवन स्वयं आनन्द स्वरूप है; यही कारण है कि जीवन का मोह सबसे बड़ा मोह माना जाता है।) जीव धारियों का अन्त में आनन्द में ही विलय हो जाता है।

वह आनन्द क्या वस्तु है और उसका प्रधान अधिष्ठान क्या है? इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद का सिद्धान्त कथन है—हाथों के कर्म, पैरों की गति, पशुओं द्वारा यश, नक्षत्रों में ज्योति के समान उपस्थ (स्त्री पुरूष जननेन्द्रियाँ) ही सन्तान अमरता और आनन्द का स्रोत है। वृहदारण्यक में भी कहा गया है—

स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायतनं, सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायतनमेवं सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायतने, सर्वेषां रसानां जिह्वैकायतनमेवं सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायतनमेवं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायतनमेवं सर्वेषां वेदानां वागेकायतनम्।

(जिस प्रकार समुद्र सभी जलों का एक मात्र अधिष्ठान है त्वचा सभी स्पर्शों का एकमात्र अधिष्ठान है, नासिका सभी गन्धों का एक मात्र अधिष्ठान है, जिह्वा सभी रसों का

एकमात्र अधिष्ठान है, हृदय सभी विद्याओं का एकमात्र अधिष्ठान है, उसी प्रकार उपस्थ (जननेन्द्रियाँ) सभी आनन्दों का एकमात्र अधिष्ठान है उसी प्रकार वाणी सभी वेदों का एकमात्र अधिष्ठान है।)

उपनिषत्कार के उपस्थ को सभी आनन्दों का एकमात्र अधिष्ठान बतलाने का आशय यही है कि स्त्री पुरुष का एक दूसरे को जीवन सर्वस्व मानना और एक दूसरे के उपभोग को ही समस्त आनन्दों का सार समझना तो प्रत्यक्ष सिद्ध है ही, इसके साथ ही पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र इत्यादि वंशवेलि का विस्तार भी जीवन का सबसे बड़ा सुख है। भगवान् चरक ने कहा है कि सन्तान हीन पुरुष ऐसा ही है जैसा एक सूखा ठूंठ और वंश परम्परा से घिरा हुआ व्यक्ति उसी प्रकार का है जिस प्रकार पत्रों पुष्पों से भरा पूरा लहलहाता एक विशाल वृक्ष। इस वंशवेलि की वृद्धि स्त्री पुरुष जननेन्द्रियों से ही होती है। भोक्ता पुरुष का भी सत्ता में आने का एकमात्र साधन जननेन्द्रियाँ ही हैं। सत्ता में आना ही समस्त आनन्दानुभूति का मूल है। इसीलिये उपनिषत् कार ने समस्त आनन्दों का अधिष्ठान एक मात्र स्त्री पुरुष जननेन्द्रियों को ही बतलाया है।

ध्यान पूर्वक ही नहीं, सामान्य दृष्टि से देखने पर भी सभी व्यवहारों, सभी कलाओं, सभी उपक्रमों, सभी सम्बन्धों में प्रधानता इसी सेक्स व्यवहार की ही है। चाहे मित्र गोष्ठियां हों, चाहे कविता हो चाहे नाटक, उपन्यास, कहानी, चित्र, वास्तु, मूर्ति इत्यादि कोई विधा हो, चाहे पौराणिक उपाख्यान हो, अवतारों की मनोरम कथायें हों, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि कोई धार्मिक एवं साम्प्रदायिक क्षेत्र हो इसी सेक्स भावना की प्रधानता सर्वत्र दृष्टिगत होती है। पाश्चात्य विद्वान् फ्रायड का यही मत है और भारतीय मनीषियों ने भी ऐसा ही माना है। मनु जी का कहना है कि 'कोई भी क्रिया काम के अभाव में नहीं हो सकती, जो भी कार्य किया जाता है वह सब काम की चेष्टा ही है।' 'यद्यद्धि कुरुते कार्यं तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।' क्यों न हो निराकार अवस्था में जीव किसी आनन्द के उपभोग की क्षमता नहीं रखता। उसे आनन्दोपभोग तभी ही प्राप्त होता है जब वह जननेन्द्रिय के मार्ग से शरीरी बन जाता है।

अभिनवगुप्त का कहना है कि व्यक्ति कभी भी स्थायी भावनाओं से विरहित नहीं हो सकता सभी प्रेम करते हैं, सभी में उत्साह होता है, सभी डरते हैं, सभी क्रोध करते हैं; किन्तु इन सब भावनाओं में शृङ्गार भाव (रति भाव) ही प्रधान है। ध्वनिकार के शब्दों में—

शृङ्गार एव मधुरः परः प्रल्हादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्यमाधुर्यं प्रतितिष्ठति॥

अभिनव गुप्त का कहना है कि किसी भी रस को शृङ्गार की भंगिमा से प्रकट कर दिया जाय वह मधुर बन जाता है, किन्तु शृङ्गार रस में किसी अन्य रस का समावेश उसे

उपहत कर देता है। उदाहरण के लिये शृङ्गार का सर्वाधिक विरोधी रस रौद्र है। शिशुपालवध में शृङ्गार की भंगिमा के साथ रौद्र (युद्ध) का वर्णन निम्नलिखित पद्य में किया गया है—

सरागया श्रुतघनघर्मतोयया कराहतिध्वनितप्रथूरुपीठया।
मुहुर्मुहुः दशनविखण्डितोष्ठया रुषा नृपाः प्रियतमयेव भेजिरे ॥

(क्रोधानुभूति उन योद्धाओं पर ऐसा प्रभाव जमा रही थी मानो उनकी प्रियतमा उन्हें सम्भोग सुख दे रही हो—उनके चेहरे क्रोध से लाल हो गये थे (प्रेम में भी चेहरा लाल हो जाता है।) उनके शरीर में घनी पसीने की बूंदे झलक आई थीं मानो किसी सुन्दरी के सम्भोग सुख में उनके चेहरे पसीने से तर हो गये हों। वारवार जांघों को हाथों से पीटा जा रहा था (यह भी सम्भोग की एक क्रिया है।) वार वार दांतों से ओठों को काटा जा रहा था (जो क्रिया दोनों भावों में होती है।)

इसी प्रकार कालिदास ने ताडका वध का वर्णन शृङ्गार भंगिमा के साथ किया है—

राममन्मथशरेण ताडिता दुस्सहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरकर्दमोक्षिता जीवितेशवसतिंजगाम सा ॥

(वह निशाचरी राम के असह्य वाण से पीडित होकर गन्धयुक्त (दुर्गन्धित) रक्त से आप्लावित होकर जीवनों के स्वामी (यमराज) के निवास स्थान पर चली गई जिस प्रकार कोई निशाचरी (रात्रि में विचरण करने वाली अभिसारिका) कामदेव के वाणों से पीडित होकर गन्धयुक्त (सुगन्धित) चन्दन के पाउडर से लिप्त होकर जीवितेश (जीवन सर्वस्व प्रियतम) के निवास स्थान पर चली जाती है।)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि शृङ्गार रस अपने सबसे बड़े विरोधी को कलुषित नहीं करता किन्तु उसमें चार-चाँद लगा देता है। इसके प्रतिकूल किसी अन्य विरोधी रस की शृङ्गार में थोड़ी सी भी झलक उसे मलिन कर देती है। उदाहरण के लिये यदि रूठी हुई नायिका को नायक क्रोध में भरकर पीटने लगे या प्रियतम के काटने नोचने से डर कर नायिका भाग खड़ी हो तो शृङ्गार रस कफूर ही हो जायेगा और रसास्वादन में मलिनता आये बिना नहीं रहेगी। इसीलिये आचार्यों ने शृङ्गार को रसराज कहा है।

ऊपर के विवेचन का सार यही है कि संसार की परम्परा को बनाये रखने के लिये यौन सम्बन्ध सर्वाधिक उपयोगी वस्तु है, आनन्द का एकमात्र अधिष्ठान है और कला में आकर वह उस पर एक छत्र राज्य स्थापित कर लेता है चाहे वह काव्यकला हो चाहे मूर्तिकला, चाहे वास्तुकला। किन्तु इतनी बड़ी वस्तु को वह जगन्नियन्ता शायद इतनी सस्ती नहीं बना देना चाहता था। इसीलिये उसने स्त्री में लोकातीत लज्जा की भावना भर दी और उससे पुरुष विरत न हो जाय इसके लिये पुरुष को औद्धत्य और दर्प प्रदान कर दिया। साथ ही दो में एक को अधिकारी और दूसरे को अधिकृत बनाना ही था। इसीलिये स्त्री को अप्रधान

(Subordinate) और पुरुष को प्रमुख बना दिया गया। सहवास के दो ही उद्देश्य हैं—रति और पुत्र 'रतिपुत्रफला दारा।' स्त्री रति के विषय में पुरुष के आधीन है, वह न तो सम्भोग प्रारम्भ कर सकती है न समाप्त। सन्तान के विषय में भी एक वार गर्भवती होकर उसे वर्ष के मध्य में दूसरी वार गर्भधारण करने की व्यवस्था प्राप्त नहीं है जबकि पुरुष मनमाने रूप में उस अन्तराल में कितनी ही सन्तानें उत्पन्न कर सकता है।

ऊपर जो विवरण दिया गया वह परमात्मा (प्रकृति) की क्रिया से संबद्ध है। इस बीच में मानव समाज का समावेश कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मानव के सामने सबसे बड़ा प्रश्न समाज को व्यवस्थित रूप में चलाना था। जिसके लिये आचार्यों ने विश्व की सर्वोत्तम आनन्ददायक ब्रह्मरूप वस्तु कहा है उसमें छीना झपटी और लड़ाई झगड़े की सर्वाधिक सम्भावना थी। अतः मानव ने अपने अपने ढंग से विवाह व्यवस्था को जन्म दिया जो प्रदेश भेद, जाति भेद, सम्प्रदाय भेद इत्यादि से सैंकड़ों नहीं हजारों रूपों में बँट गया। किन्तु सभी का उद्देश्य मानव को नियन्त्रित करना ही था जिससे अपना अपना भाग सभी प्राप्त कर सकें। इसीलिये सदाचार की मर्यादायें बनाई गईं जो प्रदेशभेद इत्यादि से असंख्यविध है। फिर भी मर्यादातिक्रमणों की संख्या भी कम नहीं है जिससे अनेक जटिलतायें उत्पन्न हो जाती हैं। तिर्यक् योनि के जीव स्वेच्छा से प्रतियोगी को प्राप्त कर लेते हैं और अपनी काम पिपासा शान्त करते रहते हैं। किन्तु मानव ने ज्ञान का फल खाया है, उस पर समाज का करारा चाबुक है जो उसे मनमानी करने से रोकता है। साथ ही समाज में अनेक उलझने, अनेक झंझट, अनेक परेशानियाँ, अनेक संघर्ष इस सेक्स भावना के ही फल हैं। रामायण, महाभारत के महायुद्ध, मुसल्मानों के चित्तौड़ गुजरात इत्यादि के युद्ध इसी सेक्स भावना के परिणाम थे। समाज की इस विशृङ्खलता से व्यथित होकर ही विवाह विधि की स्थापना की गई। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि पहले स्त्रियाँ कामचारिणी थीं; क्योंकि व्यवस्था नहीं थी। प्रत्येक पुरुष का प्रत्येक स्त्री पर अधिकार था।

अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने।
कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि॥

यहाँ पर 'अनावृताः' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) स्त्रियां, अपने संभोगाङ्गों को ढक कर नहीं रखतीं थीं अर्थात् कपड़े पहनने का चलन नहीं था। (२) उनका सहवास लोगों से छिपाकर नहीं होता था। आशय यह है कि आजकल की पशु प्रवृत्ति तत्कालीन पुरुष समाज में भी प्रचलित थी।

पशु प्रवृत्ति में झगड़ों की कमी नहीं होती। कहा जाता है एक शेरणी के पीछे दो शेर भयायक युद्ध करते हैं शेरणी युद्ध का अवलोकन करती रहती है और विजेता शेर को आत्म समर्पण कर देती है। अन्य पशुओं में भी मादा व्यक्ति के लिये संघर्ष देखा जाता है। पशु जगत का संघर्ष एक व्यक्ति के आघात तक ही सीमित रहता है किन्तु यदि वह

संघर्ष पुरुष जाति में छिड़ जाय तो जनपद तक का विध्वंस हो सकता है और वह संघर्ष सहस्त्रों व्यक्तियों की मारामारी में परिणत हो सकता है।

इसीलिये विवेकशील प्रभावशाली ऋषियों मुनियों ने कामशास्त्र की रचना कर समाज को नियन्त्रणों से जकड़ दिया। जिससे अपना अपना निर्धारित भाग लेकर समाज सुखमय जीवन यापन करने लगा। किन्तु किसी व्यवहार के कार्यान्वित होने पर ही बुराइयां सामने आती हैं। अतः यथासमय और यथास्थान निर्धारित व्यवस्था में मोड़ दिये जाने लगे। यही कारण है कि यौन सम्बन्ध में स्थानकृत और कालकृत अनेक विभेद पाये जाते हैं जिनका शास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लेख पाया जाता है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न

कामशास्त्र के प्रतिनिधि आचार्य वात्स्यायन ने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है—कामदेव को मनोभव या मनोज की संज्ञा दी गई है। मानव में ही नहीं समस्त प्राणिजगत में कामवासना की उत्पत्ति और प्रवृत्ति मन से ही होती है; उसको सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। फिर इस विषय में शास्त्र की क्या आवश्यकता? इस शंका का जो समाधान वात्स्यायन ने प्रस्तुत किया है उसका संक्षेप में सार यह है—काम प्रवृत्ति पशुओं और पुरुषों में एक जैसी नहीं होती। पशुओं ने कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं बनाई है और न पशु जगत् सभ्यता के आवरण में बन्दी है। पशुओं ने पुरुषों के समान अपने गुप्तांगों को ढककर रखना नहीं सीखा है और न उनमें अपने सहवास को गुप्त रखने की प्रवृत्ति है। उनका विहार लौकिक मर्यादाओं से आवृत्त नहीं रहता। पशुओं में वैध और अवैध सहवास का विभाजन भी नहीं होता। पुरुषों में वैध सहवास को भी छिप कर करने की प्रवृत्ति है। पशु अपने ऋतुकाल को खूब पहिचानते हैं और तभी संयुक्त होते हैं जब गर्भाधान की सम्भावना होती है। (यद्यपि कुछ पशुओं में इसका अपवाद भी पाया जाता है।) परन्तु पुरुष ऋतुकाल तक ही सीमित नहीं रहता उसकी प्रवृत्ति मनमानी होती है। पशु पक्षी ऋतुकाल में विहार कर सन्तुष्ट हो जाते हैं उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं होती कि उनके सहयोगी को सन्तोष हुआ है या नहीं। उन्हें अपनी कमजोरी के लिये लज्जित होने की आवश्यकता नहीं होती। पशु पक्षिओं में एकाधिकार की भावना नहीं होती; वे यह नहीं देखते कि उनका सहयोगी किसी अन्य से न मिले। (यद्यपि इसके अपवाद भी पाये जाते हैं।) पुरुष जाति में एकाधिकार की भावना होती है और उनमें रक्त शुद्धि का विशेष ध्यान रखना होता है। पुरुष जाति को स्वयं सदाचारी रहने की चिन्ता होती है और उससे अधिक चिन्ता इस बात की होती है कि उसकी सहयोगिनी (स्त्री जाति) का चरित्र सर्वथा सुरक्षित रहे। स्त्री जाति की सुरक्षा सर्वाधिक इस बात पर निर्भर रहती है कि उसे पुरुष से सन्तोष प्राप्त हुआ है या नहीं। असन्तुष्ट रहकर वे कुपथगामिनी हो जाती है। अतःपुरुष को अनेक उपचारों का जिनमें कृत्रिम उपचार भी सम्मिलित है सहारा लेना पड़ता है।

एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि पुरुष केवल पशुधर्म तक ही सीमित नहीं रहता। उसे सहवास के लिये बहुत कुछ सोचना पड़ता है। उसे देखना पड़ता है कि कोई विशिष्ट सहवास धार्मिक है या अधार्मिक; उसका उद्देश्य क्या है? क्या उससे उसे यश मिलेगा या अपयश? क्या उस विशिष्ट सहवास से सन्तान का होना अभीष्ट है या जैसे भी सम्भव हो सन्तान का रोका जाना अनिवार्य है? क्या वह सहवास उसे विपत्ति में तो नहीं डाल देगा? इस प्रकार पुरुष सहवास में पशुधर्म के अतिरिक्त अनेक अन्य बातों पर भी विचार करना पड़ता है जिसमें शास्त्र सहायक हो सकता है। इसके अतिरिक्त शास्त्र अनेक विधियों और विशेषताओं पर प्रकाश डाल कर सहवास प्रक्रिया को अधिकाधिक मनोरम और सुस्वादुपूर्ण सुखद बना सकता है तथा मार्ग में आने वाली बाधाओं का समाधान भी कर सकता है। शास्त्र इस दृष्टि से सत्परामर्शदाता एक मित्र का कर्तव्य पूरा करता है और आवश्यकतानुसार नियन्त्रक भी बन जाता है।

कामशास्त्र के इतिहास पर एक दृष्टि

कामशास्त्र की सर्व प्राचीन और सर्वाधिक उपयोगी उपलब्ध रचना वात्स्यायन का कामसूत्र है। किन्तु इसे हम कामशास्त्र की प्रथम रचना नहीं कह सकते। स्वयं कामसूत्र में अनेक पूर्ववर्ती रचनाकारों का उल्लेख किया गया है। किन्तु अब वे रचनायें नामशेष हो गईं हैं। अब मल्लनाग (वात्स्यायन) के कामसूत्र को कामशास्त्र की प्रथम रचना मानने की एक प्रकार से वाध्यता है।

मल्लनाग ने इस शास्त्र के प्रारम्भिक विकास का जो परिचय दिया है उसका सार यह है—'ब्रह्माजी ने तीन वर्गों—धर्म, अर्थ और काम पर एक लाख अध्यायों की एक पुस्तक की रचना की थी। स्वयंभू पुत्र मनु ने उस महान ग्रन्थ के एक भाग धर्माधिकरण की पृथक् रचना की, बृहस्पति ने अर्थाधिकारिक की और महादेव के अनुचर नन्दी ने पृथक् कामसूत्र की एक हजार अध्यायों में रचना की। उसी कामसूत्र का उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने पांच सौ अध्यायों में संक्षेप किया। श्वेतकेतु की उस रचना का अर्थ के आधार पर १०० अध्यायों में पञ्चाल प्रदेशीय बाभ्रव्य ने संक्षेप किया। वाभ्रव्य की उस रचना में सात अधिकरण थे—साधारण, साम्प्रयोगिक, कन्या सम्प्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक और औपनिषदिक।

उक्त अधिकरणों में पृथक् पृथक् विषयों पर ग्रन्थ रचना करने की परम्परा एक ब्राह्मण कुमार दत्तक ने डाली। कहा जाता है यह एक माथुर ब्रह्मण का पुत्र था जो मगध में रहने लगा था। उसकी पत्नी पुत्र को जन्म देते ही स्वर्ग सिधार गई। उस पुत्र को एक अन्य व्राह्मणी ने गोद ले लिया और गोद लेने के अन्वर्थक उसका नामकरण दत्तक कर दिया। वह आयु को प्राप्त कर लोक का अनुभव प्राप्त करने मगध की वेश्याओं के यहां जाने लगा तथा उन वेश्याओं के आग्रह पर वैशिक शास्त्र की रचना की। दत्तक का ही अनुकरण कर बाभ्रव्य के दूसरे शिष्यों ने भी पृथक अधिकरणों पर रचनायें प्रस्तुत की। चारायण ने साधारण

अधिकरण, सुवर्णनाभ ने साम्प्रयोगिक अधिकरण, घोटकमुख ने कन्या सम्प्रयुक्तक गोनर्दीय ने भार्याधिकारिक, गोणिकापुत्र ने पारदारिक और कुचुमार ने औपनिषदिक प्रकरणों पर पृथक् पृथक् पुस्तकें तैयार कीं। इन दत्तक इत्यादि के ग्रन्थों में केवल एक एक विषय का विवेचन किया गया था। सम्पूर्ण कामशास्त्र के अध्येता के लिये सभी अधिकरणों का पृथक् पृथक् अध्ययन उपयोगी नहीं हो सकता था। बाभ्रव्य की रचना अत्यन्त विस्तृत होने के कारण सामान्य अध्येता के लिये अत्यन्त दुरधिगम रचना थी। दत्तक इत्यादि की रचनायें लुप्तप्राय हो गईं थीं। अतः मल्लनाग वात्स्यायन ने बाभ्रव्य की रचना का संक्षिप्तीकरण कर कामसूत्र की रचना की जो कि साहित्य जगत के सामने सर्व प्राचीन एवं सर्वप्रधान रचना मानी जाती है।

वात्स्यायन ने कामशास्त्र की प्राचीन रचनाओं का जो उक्त उल्लेख किया है उसमें सत्य का अंश कितना है यह कहना कठिन है। सामान्य परम्परा का पालन करने के हेतु इस शास्त्र के प्रवर्तन का श्रेय पितामह ब्रह्मा को दिया गया है जो एक पौराणिक कल्पना मात्र प्रतीत होती है। दूसरे लेखकों में कई एक प्रसिद्ध है और उनका उल्लेख अन्य शास्त्रों के रचयिताओं में किया जाता है। अतः सम्भव है इस विवरण में सत्य का कुछ अंश विद्यमान हो। किन्तु इस विषय में निश्चयात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता।

संस्कृत साहित्य के अनेक अन्य ग्रन्थों की भांति वात्स्यायन के कामसूत्र का समय भी अज्ञात है। इस ग्रन्थ में कुन्तल शातकर्णि शातवाहन का उल्लेख किया गया है जिनका समय मत्स्य पुराण के अनुसार ई. पू. ६१५ निश्चित किया गया है। अतः वात्स्यायन का होना भी उक्त समय से पहले ही सिद्ध होता है। यह समय कितना पूर्व रहा होगा इस विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कीथ इनका समय ५वीं शताब्दी ई. पू. मानते हैं जबकि विण्टरनित्ज ने भाषा प्रयोग इत्यादि के आधार पर इनका समय ई. पू. ४थी शताब्दी निश्चित किया है। कुछ भी हो इनका समय ई. पू. दूसरी, तीसरी शताब्दी से बाद का नहीं हो सकता।

कामसूत्र पर अनेक टीकायें लिखी गईं जिनमें यशोधर इन्द्रपाद की जयमंगला टीका सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं महत्त्वपूर्ण है। कुछ लोगों का विचार है यशोधर इस टीका के लिपिकार मात्र थे वैसे शंकर के नाम से प्रसिद्ध अप्राप्त टीका सम्भवतः यही रही होगी। ये शंकर सम्भवतः १३वीं शताब्दी के कोई कवि थे क्योंकि इस टीका का रचनाकाल १३वीं शताब्दी ही माना जाता है। १६वीं शताब्दी के बघेलावंशीय रामचन्द्र के पुत्र वीरभद्र देव की कृति कन्दर्प चूडामणि भी कामसूत्र की पद्यबद्ध टीका ही है। १८वीं शताब्दीके नृसिंह भास्कर की भी एक टीका प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त वात्स्यायन सूत्रसार नामक एक टीका भी प्रकाश में आई है।

कामशास्त्र पर वात्स्यायन के कामसूत्र के अतिरिक्त कतिपय अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें कोक्कोक का रति रहस्य सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है जो इतनी प्रतिष्ठित हुई है कि

इस शास्त्र का नामही कोक शास्त्र पड़ गया है। कोक्कोक का समय १०वीं शताब्दी माना जाता है। पद्मश्री का नागरसर्वस्व इसके बाद की ११वीं शताब्दी की रचना है। इन्हें पद्मश्रीज्ञान पद्मज्ञान महापण्डित पद्मश्री आदि नामों से भी याद किया जाता है। इस शास्त्र की दूसरी रचनाये हैं—कविशेखर ज्योतिरीश्वर का पञ्चशायक; इम्मादी प्रौढ देवराय की रति रत्न प्रदीपिका; अनन्त का कामसमूह; कल्याणमल्ल का अनङ्गरंग; क्षेमेन्द्र की समयमत्रिका वेश्याविषयक रचना है। दामोदरगुप्त की रचना कुट्टिनीमत में वेश्याओं द्वारा धनोपार्जन के उपाय बतलाये गये हैं। कहा जाता है प्रतिष्ठित पूज्य शंकराचार्य ने भी कामशास्त्र पर मनसिजसूत्र नाम की एक पुस्तक लिखी थी। कामोपभोग के लिये उपयोगी चिकित्सा को लेकर भी कतिपय स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी गई—वैसे आयुर्वेद विषयक प्रायः सभी ग्रन्थों में कामाङ्ग चिकित्सा का प्रकरण समाहित किया गया है। धर्म शास्त्रीय ग्रन्थों में स्त्री पुरुष सम्बन्धों के औचित्य अनौचित्य पर विचार भी काम शास्त्र के प्रकरण के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है।

पद्मश्री का नागर सर्वस्व

पद्मश्री के व्यक्तित्व के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। अनुमान लगाया जाता है कि नागर सर्वस्व में जो उदाहरण दिये गये हैं वे किसी रत्नकुमार नामक राजकुमार के विषय में पद्मश्री की रचनाओं के अंश हैं। नागर सर्वस्व के मङ्गलाचरण में कामदेव का विशेषण आर्य मञ्जुश्री देने से प्रमाणित होता है कि ये बौद्ध थे। इन्होंने प्रथम परिच्छेद में जो आदर्श स्थापित किये हैं वे बौद्ध धर्म के अनुकूल हैं। नागरसर्वस्व के अनेक प्रकरण ऐसे हैं जिन्हें देखने से प्रतीत हो जाता है कि उन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव है। उदाहरण के लिये अच्छे पुत्र को पैदा करने का जो अध्याय रखा गया है उसमें एक मात्र तारा देवी की उपासना और पूजा पर बल दिया गया है। तारा देवी बौद्धों की उपास्य देवी हैं। इसीलिये कामशास्त्र का परिचय देने वाले अनेक विचारकों ने इन्हें बौद्ध भिक्षु कहा है। इनके अनेक नवीन शब्द जो प्रतिष्ठित परम्परा से हटकर हैं माना जाता है कि उनके मूल में भी बौद्ध मान्यता का कुछ प्रभाव अवश्य है।

पद्मश्री ने नागरसर्वस्व में अपना व्यक्तिगत परिचय कहीं नहीं दिया है। पुष्पिकाओं में भी कहीं भी इन्होंने न अपने विषय में और न अपने ग्रन्थ के विषय में कुछ कहा है। वस्तुतः पुष्पिकायें अध्याय समाप्ति पर हैं ही नहीं। सम्पादकों और प्रकाशकों ने अपनी ओर से एक वाक्य लिखकर पुष्पिका की आवश्यकता की पूर्ति की गई है। अतः इनके स्थितिकाल के विषय में भी निश्चयात्मक रूप में कुछ कहा नहीं जा सकता। रचना के उल्लेखों पर आधारित कुछ निष्कर्षों पर विश्वास कर शताब्दियों के अन्तराल के निर्देश से ही सन्तोष करना पड़ता है।

पद्मश्री ने 'कुट्टिनीमत' का उल्लेख किया है जोकि दामोदर गुप्त की कृति है। जिसका दूसरा नाम 'साम्भलीमत' भी है। यह एक विचित्र प्रकार की कामशास्त्र परक रचना है जिसमें

उच्चकोटि का कवित्व है और अनेकशः इसका उल्लेख किया गया है। राज तरंगिणी के अनुसार दामोदरगुप्त काश्मीर के राजा जयापीड के दरबारी कवि थे और निरन्तर उनके सान्निध्य में रहते थे। जयापीड का समय ८वीं शताब्दी का मध्यकाल था। यही समय दामोदर गुप्त का था। पद्मश्री का समय भी इससे बाद का और सम्भवतः पर्याप्त बाद का था; इतने बाद का कि 'कुट्टिनीमत' रचना साहित्य समाज में प्रतिष्ठा पा चुकी थी और उसका प्रामाणिक कोटि में उल्लेख किया जाने लगा था। पद्मश्री द्वारा उसका उल्लेख इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि इनकी पूर्ववर्ती सीमारेखा आठवीं शताब्दी का मध्यकाल है। उत्तरवर्ती सीमारेखा के विषय में कहा जा सकता है कि शार्ङ्गधर पद्धति में जिसका रचनाकाल १३वीं शताब्दी का मध्यभाग है 'नागरसर्वस्व' का उल्लेख किया गया है और उससे उद्धरण भी दिया गया है। इससे सिद्ध होता है कि नागरसर्वस्व की रचना १३वीं शताब्दी के पहले हो चुकी थी। नागरसर्वस्व की विषयवस्तु का उपादान सागरनन्दी के 'नाटक लक्षण रत्नकोश' में भी हुआ है। सागरनन्दी का समय नियत नहीं है। किन्तु समझा जाता है कि इनका समय भी शार्ङ्गधर पद्धति के पहले ही है। कुछ भी हो इतना निश्चित है कि पद्मश्री और उनकी कृति नागरसर्वस्व का समय ८वीं और १३वीं शताब्दी का मध्यकाल है। विद्वानों ने अनुमान से निश्चय किया है कि इनका समय संवत १००० के आसपास रहा होगा। यह वह समय था जब बौद्धकाल समाप्ति की ओर कदम बढ़ा चुका था और उसका विभाजन सहजयान वज्रयान इत्यादि अनेक रूपों में हो चुका था। जिनमें कामुक प्रवृत्ति विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त हो गई थी तथा इस प्रकार रचनाओं की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। यही कारण था कि भिक्षु होकर भी पद्मश्री ने इस प्रकार की रचना की जिसमें तन्त्रयुग की साधनाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है।

पद्मश्री की कामशास्त्र विषयक उपलब्ध रचना नागर सर्वस्व ३८ परिच्छेदों में विभाजित एक टिप्पणी प्रकार की रचना है। इसमें किसी विषय का विशद विवेचन नहीं है और न किसी विषय को विस्तार दिया गया है। कामशास्त्र संबद्ध अनेक विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ दी गई हैं जो कतिपय तो कुछ लम्बी हैं और कुछ केवल एक पद्य के परिच्छेद तक सीमित हैं। इस पुस्तक से कामशास्त्र के पूर्ण परिचय की अपेक्षा नहीं की जा सकती; किन्तु अनेक विषयों का सार तत्त्व प्रकट करने में यह पर्याप्त कृतकार्य है। इस ग्रन्थ पर प्रकाशित तीन टीकायें भी प्राप्त होती हैं—तनुसुखराम की टीका (बम्बई से प्रकाशित) जगज्ज्योतिमल्ल की टीका और नागरीदास की नागर समुच्चय नाम की टीका। जो लोग अवकाश की कमी या किसी अन्य कारण से पूर्ण विस्तार में न जाकर कामशास्त्र की मूल समस्याओं का चलता हुआ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें निस्सन्देह इस रचना से निराश नहीं होना पड़ेगा यही प्रणेत्री की आशंसा है। यदि सहृदय समाज इसे अपनायेगा तो लेखिका स्वयं को कृतकृत्य मानकर अपना प्रयास सफल समझेगी।

तथास्तु

नागरसर्वस्व का समीक्षात्मक वस्तु परिचय

यह रचना ३८ उपखण्डों में विभाजित की गई है जिनमें अधिकांश में कामशास्त्रीय विषयों का और विशेष रूप से कामसूत्र में आये विषयों का संकेत रूप में वर्णन किया गया है। यद्यपि लेखक ने यह बात स्वयं कही नहीं है फिर भी ग्रन्थगत वस्तु स्पष्ट रूप में प्रमाणित करती है कि लेखक का मन्तव्य कामसूत्र की वस्तु की ओर संकेत करना है मानों लेखक कहना चाहता है कि संक्षेप में कामशास्त्र का इतना ज्ञान तो प्रत्येक व्यक्ति को कर ही लेना चाहिये; यदि विशेष रूप से अध्ययन की आवश्यकता हो तो वात्स्यायन का कामसूत्र देखा जाना चाहिये। निम्नलिखित पंक्तियों में इस रचना पर परिच्छेदशः संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है—

(१) प्रथम परिच्छेद साधारण या उपक्रम परक है जैसी कि शास्त्रीय ग्रन्थों की सामान्य परम्परा है ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण और अनुबन्धचतुष्टय (विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी) का उल्लेख किया जाता है तथा लेखक अपने और कृति के विषय में आवश्यक निवेदन कर देता है। इस प्रथम परिच्छेद में लेखक ने इस कर्तव्य का पालन किया है। सर्व प्रथम कामदेव को प्रणाम किया गया है क्योंकि वही एक देवता प्रस्तुत विषय के अनुकूल है। इसके विषय में एक प्रशंसापरक बात कही गई है कि यदि कोई कामुक व्यक्ति दो घड़ी के लिये भी उस कामदेव का ध्यान भी करता है तो उसे मनचाही सुन्दरी प्राप्त हो जाती है। यहां एक बात खटकती है इस पुरुष प्रधान समाज में स्त्री जाति की निरन्तर अवहेलना की जाती रही है। क्या कामदेव का ध्यान किसी कामुकी को उसका मनचाहा प्रेमी प्राप्त नहीं करा देता? यहांयह भी नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार सामान्य विषयों में पुरुष का निर्देश स्त्री की भी प्रतीति करा देता है—'जो सेवा करेगा वह फल पायेगा' यह कथन स्त्री के विषय में भी लागू हो जाता है। पाणिनि ने भी स्त्री और पुरुष के द्वन्द्व समास में पुरुष के ही शेष रहने का निर्देश किया है। किन्तु ये नियम प्रस्तुत प्रकरण में लागू नहीं होते क्योंकि अग्रिम प्रकरणों में ऐसे अनेक स्थल आये हैं जो विधान स्त्री के विषय में लागू नहीं होते।

प्रस्तुत परिच्छेद के दूसरे पद्य में अनुबन्ध चतुष्टय का निर्देश किया गया है—ग्रन्थ का विषय है—कामशास्त्र, प्रयोजन है सुबोध रूप में सभी संबद्ध शास्त्रीय प्रबन्धों के सार

का प्रस्तुतीकरण; ग्रन्थगत विषयों का सम्बन्ध है तद्विषयक छोटे बड़े भाषान्तर में भी लिखे हुये कामशास्त्र प्रबन्ध और उसके अधिकारी हैं धर्म अर्थ और काम की जिज्ञासा रखने वाले बुद्धिमान लोग।

कवि ने अपने विषय में केवल एक संकेत कामदेव के 'आर्यमञ्जुश्री' इस विशेषण में दिया है। यह विशेषण भगवान् बुद्ध का है जो बौद्धों के पूज्य हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पद्मश्री एक बौद्ध थे। उनके इस कथन में कि प्राणियों का उपकार ही सज्जनों की सम्पत्ति का लक्ष्य है बौद्ध सिद्धान्त की झलक दिखलाई देती है। लेखक ने स्त्री सहवासों को भी परोपकार की कोटि में रक्खा है—'प्रशस्त कामी वही है जो अपनी वासना की उपेक्षा कर स्त्री की कामपीड़ा को शान्त करने के लिये चिकित्सक का कार्य करता है। कार्य की धर्माधर्म रूपता का निर्णय व्यक्ति की मनोवृत्ति के आधार पर ही किया जाता है। जो व्यक्ति यह समझ कर स्त्री सेवन करता है कि वह किसी की पीड़ा शान्त करने का पुनीत कार्य कर रहा है वह सच्चा धार्मिक कामी है। उसके इस पुनीत कार्य का प्रतिफल तत्काल प्राप्त होता है—जिस कामिनी की कामपीडा को वह शान्त करता है वह अपने इस उपकारक को शरीर ही समर्पित नहीं करती अपना सर्वस्व धन दौलत इत्यादि सभी कुछ दे देती है। वह उपकारक व्यक्ति स्वर्ग सुख अनायास ही प्राप्त कर लेता है; उसे धन लाभ भी होता है और सर्वाधिक महत्त्व इस बात का है कि उसे पुत्र जैसी अमूल्य निधि भी प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार पद्मश्री ने मनुष्य की प्रवृत्ति में पुरुष की अपनी कामवासना की कारणता के स्थान पर लोकोपकार को महत्त्व देकर तथा उसे धर्मरूपता प्रदान कर उस कार्य को उदात्त बना दिया है। इसी प्रसंग में लेखक ने उन लोगों को भी परामर्श दिया है जो काम शास्त्र को बुरी दृष्टि से देखते हैं। हमारे महर्षियों ने लोकोपकार की दृष्टि से ही कामशास्त्र की रचना की है; अतः उनकी कृति की निन्दा नहीं करनी चाहिये और न उनके प्रति कुदृष्टि रखनी चाहिये। साथ ही लेखक की सम्मति यही है कि यदि कुछ बुराई भी हो तो उससे भी अच्छाई को ग्रहण कर लेना चाहिये। बुरी से बुरी वस्तु से अच्छाई निकाल लेना ही सज्जनता का स्वभाव है।

(२) दूसरे परिच्छेद में दो विशेषक (तीन तीन पद्यों के समूह) हैं। प्रथम विशेषक में स्त्रियों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये पुरुषों के साज शृङ्गार के आवश्यक उपकरणों एवं शृङ्गार का विवेचन किया गया है और दूसरे विशेषक में रति को सुखद बनाने के लिये भवन निर्माण एवं सजावट का वर्णन किया गया है। यहां पर भी वही दोष है—मानो पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करने और उन्हें सहवास के लिये उत्तेजित करने के निमित्त स्त्रियों को शृङ्गार करने की आवश्यकता ही नहीं। स्त्रियों की यह उपेक्षा और पुरुषों के प्रति लेखक का पक्षंपात वस्तुतः आश्चर्य जनक है। यहां लेखक ने स्त्रियों को वेजान उपभोग्य वस्तु जैसा बना दिया है। इस प्रकरण पर कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के दूसरे अध्याय की अधूरी छाया है। विशेष अध्ययन के लिये उसी प्रकरण को देखना चाहिये।

(३) तीसरे परिच्छेद में रत्न धारण करने के गुण दोषों और रत्नों की परीक्षा पर प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः यह विषय कामशास्त्र की विषय वस्तु से सम्बद्ध है ही नहीं। यह ज्योतिष् का विषय है और कामशास्त्र से इसीलिये संबद्ध हो जाता है कि काम का सामान्य अर्थ भौतिक इच्छा है। जन्मपत्र का सम्बन्ध भौतिक सुख-दुःख, जय-पराजय, हानि-लाभ इत्यादि से विशेष रूप से है। सामान्य परम्परा चल पड़ी है कि जन्मपत्र के कुग्रहों की शान्ति एवं दुष्प्रभाव निवारण के लिये रत्न धारण किये जाते हैं। रत्नों का धारण सुख समृद्धि का विस्तार करने के लिये भी होता है। आजकल अंगुलियाँ विभिन्न प्रकार के रत्नों से अलंकृत दृष्टिगत होती रहती हैं। किन्तु कहा जाता है कि जहां रत्न धारण करने से बुरे ग्रह टलते हैं वहां यह भी माना जाता है कि यदि कोई दूषित रत्न धारण कर लिया जाता है तो उससे ग्रहों का भयानक रूप भी प्रकट होता है। पद्मश्री का कहना है कि अच्छी जाति के रत्न कोश, लक्ष्मी, पुत्र, सेवक, आरोग्य, सौभाग्य, आयु इत्यादि क्षेत्रों में उन्नति देने वाले होते हैं जबकि दूषित किस्म के रत्न कारागार में डालते हैं, उनके कुप्रभाव से दुःख भोगना पड़ता है, रोग झेलने पड़ते हैं बन्धु-बान्धव और धन का विनाश सहना पड़ता है। अतः सोचसमझ कर और परीक्षा करके रत्न धारण करना चाहिये। एक परम्परा यह भी प्रचलित है कि किसी रत्न पर एकदम विश्वास नहीं करना चाहिये। कोई भी रत्न धारण करने के बाद दो ही चार दिन में अपना अच्छा या बुरा प्रभाव दिखला देता है। अतः परीक्षा के तौर पर किसी रत्न को दो चार दिन के लिये धारण कर देख लेना चाहिये कि अमुक रत्न शुभ है या अशुभ और उसी के अनुसार उसे स्थायी रूप से धारण करने का निश्चय करना चाहिये।

(४) चौथा परिच्छेद सुगन्ध शास्त्र विषयक है। यह प्रकरण भी कामसूत्र के नागरकवृत्त का परिशिष्ट ही कहा जा सकता है यद्यपि इसमें कामशास्त्र विवेचित नागरकवृत्त में चार चांद ही लगाये गये हैं। लेखक ने सुगन्ध द्रव्यों को कामोद्दीपक कहा है और कामुक व्यक्ति के लिये सर्वप्रथम उनकी शिक्षा ग्रहण करने का निर्देश दिया है। यहां लेखक ने वात्स्यायन का नहीं किन्ही लोकेश्वर का आभार स्वीकार किया है और कहा है कि लोकेश्वर इत्यादि अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने सुगन्ध शास्त्र की रचना की है। किन्तु उस शास्त्र का अध्ययन अयोग्य व्यक्तियों के वश की बात नहीं। अतः उन अयोग्य एवं असमर्थ व्यक्तियों के ज्ञान के लिये यहां उस शास्त्र का सार भाग प्रस्तुत किया गया है।

लेखक ने सुगन्धित करने के निम्नलिखित स्थान बतलाये हैं—केश, बाहुमूल (वगल) घर का अन्दरूनी भाग, वस्त्र, मुख, जल, सुपाड़ी, स्नान के समय में मालिश और उवटन, धूपवत्ती और अगरवत्ती। यह परिच्छेद अपेक्षाकृत विस्तृत है और इसमें १९ पद्यों में केश इत्यादि को सुगन्धित करने के अनेक नुश्खे दिये गये हैं जिनसे ज्ञात हो जाता है कि सम्पन्न घराने के कामी लोग प्राचीन काल में किन सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग किया करते थे। आजकल नवीन सभ्यता के अनेक प्रकार के शृङ्गार साधन (कास्मेटिक्स) अंगराग वाजार में उपलब्ध होते हैं जिनमें सुगन्ध का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। मुखवास के लिये अनेक

प्रकार के दन्तमञ्जन (टूथपेस्ट) वाजार में मिलते हैं जिनको तैयार करने में दांतों की सुरक्षा के साथ इस बात का भी ध्यान रक्खा जाता है कि मुख की दुर्गन्ध दूर हो और मुख सुगन्धित हो जाय। निस्सन्देह दुर्गन्ध से बढ़ा चढ़ा प्रेम भी घृणा में बदल जाता है। सुगन्ध किसी प्रेम पात्र को निकट लाने में बहुत बड़ा कारण होता है। यदि सुगन्धि विखेरती कोई स्त्री पुरुष के पास से निकल जाती है तो उस ओर ध्यान गये बिना नहीं रहता।

(५ से ११) इन परिच्छेदों में संकेतों का परिचय दिया गया है। मानव सहवास पशुओं के समान उन्मुक्त और स्वच्छन्द तो होता नहीं और उसमें बुद्धिविलास तथा संयोजन के छलकपट की अपेक्षा होती है। मानव समाज में कुछ संबंध समाजानुमोदित होते हैं कतिपय अन्य समाज से अनुमोदित नहीं होते। समाजानुमोदित सम्बन्धों में भी पति पत्नी के मिलन में समाज की मर्यादाओं का सर्वथा अतिक्रमण सम्भव नहीं होता। पति पत्नी में भी समय असमय निस्सङ्कोच वार्तालाप सम्भव नहीं हो पाता। इस प्रकार के सम्बन्ध को जोड़ने में भी निपुणता की आवश्यकता होती है। तदितर सम्बन्ध तो सर्वथा प्रच्छन्न होते हैं; उनमें तो प्रयत्न यही रहता है कि उस सम्बन्ध की भनक भी किसी को न लगने पाये। अतः परस्पर विचारों और भावों का आदान प्रदान संकेतों द्वारा ही हो सकता है। इस व्यवहार में संकेत से अपनी बात कहने में निपुणता की आवश्यकता होती है। इन परिच्छेदों में विस्तार के साथ संकेतों का परिचय दिया गया है। पांचवें परिच्छेद के ११ पद्यों में सांकेतक भाषा के प्रयोग की व्याख्या की गई है। छठे परिच्छेद के ५ पद्यों में अंगो द्वारा संकेत, सातवें परिच्छेद के ५ पांच पद्यों में पोटली संकेत, आठवें परिच्छेद के २ पद्यों में वस्त्र संकेत, नवें परिच्छेद के ५ पद्यों में सुपाड़ी के संकेत और दसवें परिच्छेद के १ पद्य में पुष्पमाला संकेत इन संकेतों का परिचय दिया गया है। ११वां परिच्छेद भी एक प्रकार से संकेत विषयक ही है। यह उपसंहारात्मक है। इसमें कहा गया है कि ऐसी सुन्दरी का मिलना आसान नहीं है जो सब कलाओं में निपुण हो फिर भी कामशास्त्र द्वारा प्रतिपादित सभी शब्दों पर ध्यान देना चाहिये। यदि संयोगवश ऐसी सुन्दरी मिल भी जाय तो उसके संकेत को समझ न सकने के कारण पुरुष उसी प्रकार अपमानित हो जाता है जिस प्रकार एक संकेत को न समझने के कारण रत्न कुमार अपमानित हो गया। उपक्रम (पंचम परिच्छेद) में कवि ने यह भी कहा है कि सहस्त्रों सम्मानों को प्राप्त करने वाले युवक को यदि वधू धिक्कार के साथ अपमानित कर निकाल दे तो यह उस युवक की मृत्यु ही है।

संकेत करना और उन्हें समझना दोनो में निपुणता की आवश्यकता है। किन्तु यहां एक बहुत बड़ी त्रुटि है—यदि शास्त्र में परिगणित संकेतों का प्रयोग किया जाय तो उसमें प्रयोक्ता की कोई निपुणता प्रकट नहीं होती और उस प्रयोग में कोई गोप्यता नहीं रहती। वह तो सभी का जाना बूझा संकेत हो जाता है। अतः संकेत अपने निश्चित करने चाहिये। काव्य ग्रन्थों में इस प्रकार के संकेतों की बड़ी ही कलात्मक पद्धति पर कल्पनायें की गई हैं। बिहारी के दो एक उदाहरण देखिये—

लखि गुरुजन विच कमल सों सीस छुआयो श्याम।
हरि सम्मुख करि आरसी हियै लगाई वाम॥

(प्रेमिका गुरुजनों के बीच में बैठी थी। उसे दिखाकर हरि (कृष्ण) ने कमल को सर में लगा लिया जिसका अर्थ यह था कि मैं तुम्हारे चरण कमल को सर में लगाकर मिलने की प्रार्थना करता हूं। सुन्दरी ने हरि (कृष्ण और सूर्य) को दर्पण में लेकर उसे अपने हृदय में लगा लिया जिसका अर्थ यह था कि मैं हृदय से तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करती हूं। सूर्य को दर्पण में लेकर स्तनों से लगाने का आशय यह था कि जब सूर्य अस्ताचल (पर्वत) पर चला जायेगा उसके बाद मैं तुम्हें मिलूंगी।)

कहत नटत रीझत रिवजत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननु ही सब बात॥

(पारिवारिक जनों से घर भरा हुआ है। उसमें नायक नायिका आंखों आंखों में ही सारी बातें करते हैं—नायक आंखों के इशारे से कहता है अर्थात् मिलने की प्रार्थना करता है; नायिका इशारे से ही इन्कार कर देती है, इस इंकारी की चेष्टा पर नायक के नेत्र प्रसन्न हो जाते हैं; तब नायिका के नेत्र इन्कारी पर प्रसन्न हो जाने के कारण खीज जाते हैं; थोड़ी देर नाराजी रहती है फिर दोनों के नेत्र मिल जाते हैं; अभी नाराज थी अब पुनः मिल गई यह देखकर नायक के नेत्र खिल जाते हैं (मुस्करा उठते हैं) नायक के नेत्रों को मुस्कुराता देखकर नायिका के नेत्र शरमा जाते हैं।)

दूरौ खरे समीप को मानि लेत मनमोद।
होत दुहुन के दुगनु ही वतरस हंसी विनोद॥

(दोनों दूर खड़े हैं किन्तु समीप होना मानकर मन में आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। दोनों अपने नेत्रों द्वारा ही बातचीत का रस ले रहे हैं; हंसने का आनन्द ले रहे हैं और मनोविनोद कर रहे हैं।)

(१२) बारहवें परिच्छेद में औषधियों और तन्त्र प्रयोगों का वर्णन किया गया है। इसमें विशेष रूप से लिङ्गस्थूलीकरण और योनिद्रावण के नुश्खे बतलाये गये हैं जो अनेक घृणित भी हैं; इनके साथ ही तन्त्र प्रयोग भी बतलाये गये हैं जिनसे एक दूसरे को वशवर्ती बनाया जाता है। ये तान्त्रिक प्रयोग भी घृणित ही है। यह १५ पद्यों का अपेक्षाकृत लम्बा प्रकरण है। कामशास्त्र के मुख्य विषयों में यह एक है। कामसूत्र में इस विषय को सबसे अन्त में स्थान दिया गया है; किन्तु पद्मश्री ने इसे मध्य में ही समाहित करने की चेष्टा की है। यह विषय वास्तव में आयुर्वेद और तन्त्र शास्त्र का है। कहा नहीं जा सकता इनका प्रभाव पड़ता है या नहीं। यदि प्रभाव पड़ता भी हो तो भी इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अनेक बार इन प्रयोगों से हानि भी हो जाती है। उदाहरण के लिये कामसूत्र में लिङ्ग स्थूलीकरण

के लिये शूक नामक कीड़े को लिङ्ग पर मलने का निर्देश दिया गया है जिससे भयानक रोग उत्पन्न हो जाता है जो उपदंश से मिलता जुलता है। उस रोग का नाम ही शूक रोग रख दिया गया है। इन नुश्खों को हानिकारक समझ कर इनका प्रयोग नही ही करना चाहिये और यदि करने का शौक ही हो तो किसी योग्य वैद्य की देख रेख में करना अधिक अच्छा रहता है जिससे विकार उत्पन्न हो जाने पर चिकित्सा भी सुलभ हो जाती है। बहुत सोच समझ कर कामशास्त्रीय प्रयोगों को अपनाना चाहिये। पद्मश्री के नुश्खों में भी अकौड़े के रेशों की वत्ती बनाकर आंखों में अंजन लगाने की बात कही गई है। अकौड़े का प्रयोग आंखों को फोड़ भी देता है। अतः सावधानी की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

वास्तविकता यह है कि औषधियों से सम्भोग शक्ति बढ़ती अवश्य है। आजकल बाजार में एलोपैथिक, आयुर्वेदिक, होमियोपैथिक अनेक प्रकार की औषधियां मिलती हैं जिनका प्रयोग निरापद होता है। चरक इत्यादि महान ग्रन्थों में इस विषय के लम्बे लम्बे प्रकरण प्राप्त होते हैं। वास्तविकता यह है कि भारतीय ऋषियों और लेखकों की एक प्रवृत्ति रही है कि जिस विषय में लिखने लगते हैं उनका ध्यान केवल उस विषय की ओर होता है। इतर क्षेत्र में उसका क्या प्रभाव पड़ेगा इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता। उदाहरण के लिये आयुर्वेद में कुत्ते और मनुष्य के मांस के भी गुण लिखे गये हैं। लेखक को इस बात ध्यान नहीं है कि इससे धर्म व्याघात हो जाता है। इतना अवश्य है कि इनमें अधिकांश लेखक सावधानी वरतने का निर्देश दे देते हैं। किन्तु उनकी इस प्रवृत्ति से हानि हो जाने की अधिक सम्भावना रहती है। फिर भी औषधि प्रयोग की सर्वथा उपेक्षा नहीं करना चाहिये। उससे लाभ भी होता है। किसी प्रतिष्ठित चिकित्सक को अपना हमराज बना लेना चाहिये और उसके परामर्श से औषधि लेनी चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि खाने वाली औषधियां अधिक लाभ करती हैं जिन्हें आयुर्वेद में वाजीकरण की संज्ञा दी जाती है। पद्मश्री के प्रस्तुत विवेचन में इस बात की कमी है कि इसमें कोई भी खाने वाली वाजीकरण औषधि नहीं लिखी गई है।

खाने वाली औषधियों में भी इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि ये दो प्रकार की होती है—एक तो घी दूध के समकक्ष सामान्य शक्ति बढ़ाकर रति शक्ति को बढ़ाती है; दूसरे प्रकार की भांग, गांजा, अफीम कोटि की वे औषधियां होती हैं जो रति शक्ति को तो बढ़ाती है किन्तु सामान्य शक्ति का ह्रास करती है। अतः प्रथम प्रकार की ही औषधि लेनी चाहिये। द्वितीय प्रकार की औषधियां हानिकारक अधिक होती हैं।

(१३) इस परिच्छेद में काव्य शास्त्र और रस शास्त्र का प्रतिष्ठित विषय उठाया गया है—भाव विवेचन। इस विषय का विवेचन अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आया है और इसमें वस्तु एवं व्यवस्था का विकास एवं सुधार निरन्तर होता रहा है। पद्मश्री के लगभग तीन चार सौ वर्ष बाद विश्वनाथ ने जो व्यवस्था दी वही आजकल सामान्य रूप में परिनिष्ठित व्यवस्था मानी जाती है। इसका सम्बन्ध चेष्टाओं से है जो दो प्रकार की होती है—भाव

प्रेरक और भाव व्यञ्जक। प्रथम प्रकार की चेष्टायें उद्दीपन कही जाती है और द्वितीय प्रकार की अनुभाव। प्रेमपात्र के उठने, बैठने, चलने, फिरने इत्यादि तमाम कार्यों में एक सौन्दर्य, एक आकर्षण होता है। सभी लोग चलते फिरते, उठते बैठते हैं; किन्तु प्रेम पात्र की ये क्रियायें नया आकर्षण और सौन्दर्य लिये हुये होती हैं। प्रेमपात्र की क्रियायें जिन्हें देख देखकर प्रेमी रीझता है उद्दीपन के अन्तर्गत आती हैं। कभी कभी प्रेम पात्र जानता भी नहीं कि उनकी किन्हीं चेष्टाओं को देखकर कोई रीझ रहा है किन्तु अधिकांश रूप में प्रेमपात्र की चेष्टाओं में भी उसकी भावनायें सन्निहित रहती है। जहां तक प्रेमपात्र की दृष्टि से उन भावनाओं का सम्बन्ध है वे अनुभाव की ही कोटि में आती हैं। किन्तु वे चेष्टायें प्रेमी के लिये उद्दीपक होकर उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आती है। आचार्यों ने उन उद्दीपक चेष्टाओं को नायिकाओं का अलंकार बतलाया है। साहित्य दर्पणकार ने इन अलंकारों को २८ प्रकार का माना है जिनकी तीन कोटियां बनाई हैं—अंगज, अयत्नज और यत्नज। वास्तव में स्त्री जाति परमात्मा की सर्वाधिक सौन्दर्य शाली रचना कही जा सकती है; उसमें भी जब काम विकार सञ्चार करता है तब वह सौन्दर्य और अधिक बढ़ जाता है। सौन्दर्य को बढ़ाने के कारण ही इन चेष्टाओं को अलंकार कहा जाता है। भावना के प्रवेश से शरीर का रंग ढंग कुछ और ही प्रकार का हो जाता है, उसमें लावण्य की मात्रा कुछ बढ़ जाती है। शारीरिक स्वाभाविक सौन्दर्य वृद्धि करने वाली विशेषताओं को अंगज अलंकार कहा जाता है। साहित्य दर्पण के अनुसार ये अंगज अलंकार तीन होते हैं, भाव, हाव और हेला। इनके अतिरिक्त अयत्नज चेष्टायें ७ और यत्नज चेष्टायें १८ मिलाकर इन अलंकारों की संख्या २८ हो जाती है।

उक्त संख्या विश्वनाथ के अनुसार है। पद्मश्री के समय में अलंकारों का इस प्रकार का विभाजन विद्यमान नहीं था। पद्मश्री ने एक भाव और १६ अन्य अलंकार माने हैं। उन्होंने अंगज अलंकार तीन के स्थान पर भाव नामक अलंकार के ही तीन भेद कर दिये हैं—मन्द, तीक्ष्ण और तीक्ष्णतर। पद्मश्री के तीक्ष्ण और तीक्ष्णतर भाव ही विश्वनाथ के हाव और हेला अलंकार हैं जिन्हें पद्मश्री ने भावेतर १६ अलंकारो में स्थान दिया है। विश्वनाथ के ७ अयत्नज और कुतूहल, हसित, चकित और केलि इन चार यत्नज अलंकारों को अपनी गणना में शामिल नहीं किया है। इस प्रकार चौदह यत्नज और दो अंगज हाव और हेला को मिलाकर पद्मश्री की १६ सामान्य अलंकारों की संख्या बन जाती है। कवि ने इन अलंकारों की परिभाषायें दी हैं और स्वरचित पद्य बनाकर उनके उदाहरण भी दिये हैं। इस प्रकार यह ३६ पद्यों का सबसे बड़ा परिच्छेद बन पड़ा है।

(१४) तेरहवें परिच्छेद पर्यन्त सामान्य विषयों का दिग्दर्शन किया गया। उन विषयों का झीना सम्बन्ध कामशास्त्र से है। अब इस परिच्छेद से लेखक ने कामशास्त्र के मुख्य विषय का उपादान किया है। कामशास्त्र में स्त्री पुरुषों का वर्गीकरण तीन दृष्टियों से किया गया है। (१) उनके संयोगाङ्गों का आयतन, (२) प्रवृत्ति में भावना की तीव्रता और (३)

सहवास का कार्य या फल। प्रस्तुत परिच्छेद में लेखक ने केवल प्रथम दृष्टिकोण पर विचार किया है। इसके अनुसार पुरष तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—(१) शश—जिनका साधन सबसे छोटा (६ अंगुल लम्बा एवं मोटा) होता है। (२) वृष—मध्य श्रेणी के (९ अंगुल विस्तार वाले) और (३) अश्व—उच्च श्रेणी के (१२ अंगुल विस्तार वाले)। इसी प्रकार स्त्रियों के भी तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं—कम गहरे संवाध (योनि) वाली, मध्य श्रेणी की संवाध वाली और अधिक गहरी संवाध वाली। इनको क्रमशः मृगी, वडवा और हस्तिनी कहा गया है। कुछ लोग इनके संवाध् की गहराई भी क्रमशः ६, ९ और १२ अंगुल की मानते हैं। ऐसा ही पद्मश्री ने भी माना है। किन्तु स्त्रियों की अंगुलियां छोटी एवं पतली होती हैं। अतः यदि अंगुली का यह परिमाण माना जायेगा तो सुविधा जनक संयोग बन ही नहीं पायेगा। इसीलिये वात्स्यायन ने छोटे, मझोले और बड़े संवाध का उल्लेख किया है उनके अंगुल का परिमाण नहीं बतलाया है।

उक्त परिमाणों के अतिरिक्त शश इत्यादि की कतिपय अन्य अन्तर्बाह्य विशेषतायें बतलाई जाती है। उक्त ३ प्रकार के पुरुष और तीन प्रकार की स्त्रियों की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख कर पद्मश्री ने कह दिया है कि अश्व के अनेक लक्षणों वाला पुरुष यदि ढीले लिंग वाला हो तो वह शश ही कहा जायेगा। इसी प्रकार हस्तिनी के लक्षणों वाली स्त्री के काख और पैर छोटे हों तथा मुख एवं स्तनों में गुरुता हो तो उसे मृगी ही कहा जायेगा।

इसी परिच्छेद में लेखक ने संयोगों का भी वर्णन किया है—छोटे अंग वालों, मझोले अंग वालों और बड़े अंगवालों का सम्बन्ध अच्छा बन जाता है। शश और मृगी; वृष और वडवा (घोड़ी), एवं अश्व एवं हस्तिनी के अंगों के आयतनों की समानता होने से सम्बन्ध अच्छा बन जाता है। उसे सुमरत की संज्ञा दी जाती है। ये उक्त तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। विषमरत ६ प्रकार के होते हैं—पुरुष बड़े अंग वाला हो और स्त्री छोटे अंग वाली तो उसे उच्चरत कहा जाता है। इस प्रकार मृगी का वृष से वडवा का अश्व से सम्बन्ध उच्च रतों में आते हैं। एक अन्य सम्बन्ध जिनमें ६ और १२ का संबंध होता है (मृगी ६ अंगुल के गहराई वाली और अश्व (१२ अंगुल के साधन वाला) यह अन्तर अधिक होता है अतः इसे उच्चतर रत कहा जाता है। इसी प्रकार बड़ी योनि वाली स्त्री का छोटे लिंग वाले पुरुष से सम्बन्ध नीच रत कहा जाता है। इस प्रकार शश का वडवा से और वृष का हस्तिनी से सम्बन्ध ये नीचरत कहे जायेंगे। शश और हस्तिनी के सम्बन्ध में अन्तर अधिक होता है अतः उस सम्बन्ध को नीचतररत कहा जाता है। लेखक ने इन सम-विषय रतों के प्रभावों का भी उल्लेख किया है और इसी परिच्छेद में कण्डू की व्याख्या एवं १० कामदशास्त्रों का भी उल्लेख किया गया है।

(१५) यह परिच्छेद परस्त्री विषयक हैं। इसमें स्त्रियों की तीन श्रेणियां बनाई गई हैं—(१) साध्य स्त्रियां जो आसानी से काबू में आ जाती हैं; (२) जिनको काबू में लाने में कठिनाई होती है उन्हें कष्ट साध्य कहा जा सकता है और (३) असाध्य जिनको काबू में

लाया ली नहीं जा सकता। लेखक की सम्मति है की तीसरे प्रकार की स्त्रियों को कभी छेड़ना ही नहीं चाहिये। शेष दो के विषय में स्वयं या मित्रों के द्वारा उनकी चेष्टाओं से प्रवृत्तियों का पता लगा लेना चाहिये। लेखक ने इसी प्रसंग में साध्य, असाध्य स्त्रियों की विशेषतायें बतलाई हैं; ऐसे पुरुषों की विशेषतायें बतलाई हैं जिनकी स्त्रियां आसानी से काबू में आ जाती है। संबन्ध जोड़ने में दूतियों का महत्त्व अधिक है; अतः लेखक ने दूतियों की विशेषतायें बतलाई हैं और उनके कर्तव्यों का उपदेश दिया है।

इस प्रकरण की सबसे बड़ी विशेषता है पतियों के कर्तव्यों का उपदेश। पुरुषों का कर्तव्य है कि वे प्रत्येक अवस्था में अपनी पत्नियों के चरित्र की रक्षा करें। लेखक ने उन स्थानों का उल्लेख किया है जिन स्थानों पर स्त्रियों के चरित्र पतन की अधिक सम्भावना रहती है। उन स्थानों पर पतियों को विशेष सावधानी के साथ स्त्रियों पर निगाह रखनी चाहिये। लेखक ने इसी प्रसंग में स्त्रियों के चरित्र पतन के कारणों पर प्रकाश डाला है और स्त्रियों की परीक्षा का भी निर्देश किया है।

(१६) इस परिच्छेद में प्रेम करने की अवस्थाओं और विशेषताओं का परिचय दिया गया है। स्त्री की आयु के चार भाग बतलाये गये हैं—१६ वर्ष पर्यन्त बाला, उसके बाद ३० वर्ष तक योग्या या तरुणी, फिर ५० वर्ष तक अधिरूढा (जरती) और उसके बाद वृद्धा होकर सभी प्रकार की कामक्रीडा के अयोग्य हो जाती है। आयु की ये चार अवस्थायें आयुर्वेद शास्त्रकारों ने भी मानी हैं। कहीं कहीं वर्ष गणना में कुछ भेद है जैसे किसी ने ३० को ३२ और ५० को ५५ कहा है। आयु के अनुसार सहवास के फल भी बतलाये गये है—वाला शक्ति को बढ़ाती है, योग्या क्षीण करती है, अधिरूढा वृद्धावस्था निकट लाती है और वृद्धा मृत्यु में कारण बनती है।

इस परिच्छेद में ऋतुओं के अनुसार बाला इत्यादि के सेवन, बाला के सेवन की विशेषता, स्त्रियों के गुप्ताङ्ग के शुभ लक्षण, प्रेम करने के लिये बाला इत्यादि की स्थिति, सम्भोग के अवसर, सुन्दरी का वशीकरण, नायिका के उत्कण्ठित होने के लक्षण इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है; साथ ही यह भी बतलाया गया है कि जिस स्त्री में अपना मन रमता हो उसी से प्रेम करना चाहिये। ऐसी स्त्री नपुंसक को भी अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है और यमलोक में भी अपने प्यारे का परित्याग नहीं करती।

(१७वां और १८वां परिच्छेद) ये परिच्छेद मन्त्र तन्त्र परक हैं। पता नहीं इन मन्त्र तन्त्रों का कुछ प्रभाव पड़ता है या नहीं। कामशास्त्र के कई ग्रन्थों में चन्द्रकला उद्दीपन के विषय में प्रकाश डाला गया है। संभोग प्रेरक नाडी को चन्द्रा नाडी की संज्ञा दी गई है। कल्पना की जाती है कि जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों का प्रभाव समुद्र की जलराशि पर पड़ता है और उसमें चन्द्रकलाओं के प्रभाव से ज्वारभाटा इत्यादि आलोडन विलोडन होने लगता है उसी प्रकार चन्द्रमा की कलाओं का प्रभाव भी विभिन्न तिथियों में विभिन्न अंगो पर पड़ता है और तिथियों के अनुसार विभिन्न अंगों में चन्द्रा नाडी जागृत होती रहती है। उन तिथियों

में उन अंगों को छेड़ने से स्त्री का काप जागृत होता है। इस परिच्छेद में एक विचित्र बात कही गई है कि स्त्री के विभिन्न अंगों में विभिन्न बीजाक्षरों 'अ' इत्यादि का ध्यान करना चाहिये। इससे स्त्री पुरुषों को जो आनन्द प्राप्त होता है वह सहवास में भी नहीं आता। इसी प्रकार १८वें परिच्छेद में कुछ बीज मन्त्र बतलाये गये हैं। जिनके ध्यान और जप से स्त्री वशवर्तिनी हो जाती है। पता नहीं इस सब विचित्र विवेचन का तात्पर्य क्या है। वास्तव में पद्मश्री के समय में तन्त्र विद्या का प्राधान्य था और विशेष रूप से बौद्ध सम्प्रदायों में इसका प्रचलन था जिनमें स्त्री पुरुष सम्बन्ध को बहुत सस्ता बना दिया गया था। इन प्रकरणों का विवेचन कोई तान्त्रिक ही भली भाँति कर सकता है।

(१९) यह परिच्छेद भी विचित्र प्रकार का है। इसमें बतलाया गया है कि स्त्री की योनि में मद की छः नाडियां योनि के विभिन्न भागों में होती हैं। संभोग में योनि के किस भाग को उत्तेजित करने से क्या फल मिलता है यह इस परिच्छेद में विवेचन का विषय है।

(२०) यह परिच्छेद देश-प्रदेश भेद परक है। यह कामशास्त्र के प्रमुख विषयों में एक है। वात्स्यायन सूत्रों से ही इस विषय का विवेचन किया जाता रहा है और प्रायः प्रत्येक कामशास्त्रीय ग्रन्थ में इस विषय का उपादान किया गया है। स्वभाव पर प्रादेशिक परम्पराओं का प्रभाव तो पड़ता ही है। लड़कियों का पालन पोषण अपने समाज में ही होता है और वहीं के प्रभाव से उनकी मनोवृत्तियां बन जाती हैं। यद्यपि कामसूत्र में यह भी कहा गया है कि परिस्थितिवश जब स्त्रियां दूसरे प्रदेश की स्त्रियों से मिलती हैं तब ये प्रवृत्तियां गड्डमड्ड हो जोती हैं और एक दूसरे की प्रवृत्तियों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ जाता है। इस परिच्छेद में इन प्रदेशों की स्त्रियों की प्रवृत्तियों का परिचय दिया गया है—मध्यदेश, लाट, सिन्ध, कुरु मद्र, लंका, काश्मीर, जालन्धर, स्त्रीराज्य, कौशल, कर्णाटक, महाराष्ट्र, द्रविड, गौड, वंग, नेपाल, कामरूप और चीन।

(२१-२७) सुरत (संभोग) का २१वें परिच्छेद से वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। सुरत दो प्रकार का होता है बाह्य और आभ्यन्तर। आलिंगन, चुम्बन, नखक्षत, दन्तक्षत आदि जितनी भी वास्तविक संभोग प्रारम्भ होने के पहले की क्रियायें होती हैं उन्हें कामशास्त्रकार बाह्य सुरत कहते हैं। वात्स्यायन ने इन बाह्य क्रियाओं में एक प्रायोगिक क्रम रक्खा है। उनका कहना है कि जब प्रेम मन में ही सीमित न रहकर क्रिया की ओर बढ़ता है तब पहली प्रवृत्ति यह होती है कि अपने उद्दिष्ट प्रेमी के अंगों को किसी वहाने से छू लेना जिससे प्रेमी उस भावना को समझ सके तथा दूसरे लोग या तो उस स्पर्श पर ध्यान ही न दें और यदि उनका ध्यान जाये भी तो वे इसे एक संयोग मात्र समझ लें। कामसूत्र कार ने इसे आलिंगन का एक प्रकार कहा है और आलिंगनों का क्रम इस प्रकार रक्खा है कि प्रेमी या प्रेमिका एक दूसरे पर किस प्रकार खुलते जाते हैं और उससे किस प्रकार दोनों के सम्पर्क की वृद्धि हो जाती है। आलिंगन के बाद चुम्बन, नखक्षत दन्तक्षत इत्यादि का क्रमबद्ध रूप में अवसर आता है। आम कामशास्त्रीय आचार्यों ने वात्स्यायन के क्रम का ही पालन किया है।

इन (२१ से २७ तक) परिच्छेदों में पद्मश्री ने बाह्य सुरतों का ही वर्णन किया है। किन्तु क्रम बद्धता कोई नहीं रक्खी-जहां जो कार्य समझ में आया उसको वहीं स्थान दे दिया। उनका क्रम इस प्रकार है—२१वें परिच्छेद में उन ध्वनियों का वर्णन किया गया है जो आनन्द व्यक्त करने वाली होती हैं और या तो आकाङ्क्षा प्रकट करने के लिये होती हैं या सम्भोग काल में स्त्रियों के मुख से स्वतः फूट पड़ती हैं। २२वें परिच्छेद में प्रयोज्य के शरीर पर नाखून की जो रेखायें बनाई जाती हैं उनका वर्णन किया गया है। इसी प्रकार २३वें परिच्छेद में दांतों के घाव, २४वें में आलिंगन २५वें में चुम्बन, २६वें में जिह्वा प्रवेश और २७वें में अधर इत्यादि के चूसने का वर्णन किया गया है। ये छोटे छोटे परिच्छेद हैं, जिनमें वात्स्यायन सूत्रों का पूरा प्रभाव है और संज्ञायें भी वे ही रक्खी गई हैं। इनमें काम शास्त्रीय परम्परा का ही पालन किया गया है। अपनी कोई मौलिकता नहीं है।

(२८-३२) इन परिच्छेदों में अन्तः सुरत का वर्णन किया गया है। इसे अन्तः प्रावेशिक सुरत भी कहा जाता है क्योंकि इसमें पुरुष की संभोगेन्द्रिय स्त्री के संभोग यन्त्र में प्रवेश करती है। यही मुख्य सुरत है। आचार्य परम्परा में इसके ५ प्रकार बतलाये गये हैं जिन्हें करण और आसन भी कहा जाता है। ये आसन हैं—(१) उत्तान आसन जब स्त्री सीधी पीठ के वल लेट कर सम्भोग कराती है। इसमें स्त्री का मुख ऊपर की ओर रहता है इसलिये उसे उत्तान करण कहा जाता है। सम्भोग का यही प्रधान करण है और सामान्य रूप से यही प्रचलित है। यह सर्वाधिक उपयोगी भी है क्योंकि इसमें सारे जननाङ्ग अपने स्थान पर स्थित रहते हैं। (२) तिर्यक आसन—इसमें करवट लेट कर सम्भोग करते हैं। (३) उपविष्ट आसन इसमें बैठकर सहवास किया जाता है। (४) व्यानत आसन—इसमें पशुओं के समान झुककर सहवास किया जाता है और (५) उत्थित बन्ध—जब स्त्री पुरुष खड़े खड़े सहवास करते हैं तब उन आसनों को उत्थित बन्ध कहा जाता है। पद्मश्री ने ५ अध्यायों में पृथक् पृथक् बन्धों के कतिपय भेदों का निरूपण किया है। ये बन्ध वस्तुतः शास्त्रीय ग्रन्थों में आये हुये बन्ध ही हैं। २८वें परिच्छेद में उत्तान आसन, २९वें परिच्छेद में तिर्यक् आसन, ३०वें में उपविष्ट या आसीन आसन और ३२वें में उत्थित आसनों का उल्लेख किया गया है। नागर सर्वस्व की उपलब्ध प्रति में ३२वां अध्याय कहीं गुम हो गया जिसका पता नहीं लगाया जा सका। इसमें दो पृष्ठ थे १५३ और १५४; निश्चित रूप से इस अध्याय में व्यानत आसनों का ही उल्लेख किया गया होगा और दो पृष्ठों में दो आसनों का वर्णन ही सम्भव है। इसी सम्भावना के आधार पर ग्रन्थ शय्या की पूर्ति के लिये ३१वें परिच्छेद की संख्या डालकर दो प्रमुख व्यानत आसनों का उल्लेख कर दिया गया है।

आसनों का विवेचन ३२वें परिच्छेद में समाप्त हो जाता है। इसके बाद एक लम्बी टिप्पणी दी हुई है। जिसमें पृष्ठों का हेर फेर हो गया है। ज्ञात नहीं होता यह टिप्पणी किसकी लिखी हुई है; जिसने भी लिखी है वह संस्कृत भाषा और कामशास्त्र दोनों का प्रबुद्ध चिन्तक ज्ञात होता है। यह टिप्पणी फुट नोट के रूप में नहीं १५७वें पृष्ठ के प्रारम्भ से लेकर

१५९वें पृष्ठ तक चली गई है, वह पृ. टिप्पणी के साथ ही समाप्त हो जाता है जिससे ज्ञात होता है कि यह टिप्पणी मूल लेखक की सम्भवतः पद्मश्री की ही लिखी हुई है। इसी मान्यता के आधार पर पृष्ठों की संख्या ठीक कर टिप्पणी का अनुवाद भी दे दिया गया है।

(३३-३६) यह भाग परिशिष्ट जैसा है। ३३ से ३५ तक परिच्छेदों में बाह्य सुरत सम्बन्धी परिशिष्ट है और ३६वें परिच्छेद में अन्तस्सुरत के विषय में विशेषता बतलाई गई है। ३३वें परिच्छेद में ताडन के प्रकार बतलाये गये हैं। चौंतीसवें परिच्छेद में मर्दन के प्रकार बतलाये गये हैं। ३५वें परिच्छेद में अंगों को कसकर पकड़ने और चुटकी लेने के प्रकार बतलाये गये हैं। ३६वां परिच्छेद अन्तः प्रवेश के समकक्ष ही है। इसमें पुरुष यन्त्र के स्थान पर अंगुलि-प्रवेश के प्रकार बतलाये गये हैं।

दूसरे परिच्छेद में यह बतलाया गया था कि पुरुष सुन्दरी को आकर्षित करने और वश में रखने के लिये अपना रहन सहन और सजधज कैसा बनाये। वहां स्त्रियों के कर्तव्य नहीं बतलाये गये थे। उस कमी की पूर्ति ३७वें परिच्छेद में की गई है। इसमें स्त्रियों के व्यवहार पर अधिक बल दिया गया है कि उन्हें अपने प्रियतमों से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये। खिचाव की और मिलने की सीमा क्या रहे। यह परिच्छेद महत्त्वपूर्ण है और इसमें स्त्रियों को प्रायोगिक उपदेश दिये गये हैं।

३८वां परिच्छेद अन्तिम है। इसमें सर्वप्रथम पुत्रोत्पत्ति के लिये प्रयत्न का उपदेश है और बाद में उपसंहारात्मक पद्य हैं। पुत्रोत्पत्ति की कामना प्रत्येक दम्पत्ति को होती है; अतः यदि पुत्रोत्पत्ति में निराशा हो रही हो तो स्त्री पुरुष दोनों को कुछ नियमों का पालन करना चाहिये। धर्म कर्म में मन लगाना चाहिये। दान दक्षिणा देनी चाहिये। नियम पूर्वक देवताओं से पुत्र के लिये प्रार्थना करनी चाहिये। परिच्छेद में कुछ मन्त्र भी दिये गये हैं जिनका जप अभीष्ट सिद्धि देने वाला होता है। कुछ औषधियां भी बतलाई गई हैं जिनके प्रभाव से निश्चित रूप से पुत्र प्राप्ति का वादा किया गया है और उससे प्राप्त होने वाले हर्ष की आशंसा की गई है।

अन्त में उपसंहार में कहा गया है कि इस कामतन्त्र में अनेक प्रकार के विधि निषेधों का वर्णन किया गया है; देवताओं के मन्त्र और पूजा का उपदेश है। जो सदुपदेश ग्रहण करना चाहते हैं उन सब प्रियों (पतियों) और युवतियों को शिक्षा देने वाला है। यह शङ्कर का दिया हुआ कामतन्त्र है; इसमें पहले बतलाये हुये एक सिद्ध वीर को देखकर इस परम रति रहस्य की रचना की गई।

लेखक ने अन्त में रचना के प्रेरक का उल्लेख किया है और नाटकों के भरत वाक्य के समान आशीर्वाद देकर तथा राजा इत्यादि को धर्मपरायण बने रहने की शुभाशंसा कर ग्रन्थ को समाप्त कर दिया गया।

॥श्रीः ॥

कविवर—पद्मश्री विरञ्चितं

नागरसर्वस्वम्

हिन्दी व्याख्यासहितम्

प्रथमः परिच्छेदः

मङ्गलाचरणम्

मुहूर्तमपि यं स्मरन्नभिमतां मनोहारिणीं
लभेत मदविह्वलां झटिति कामिनीं कामुकः ।
तमुल्लसितडम्बरं सुरुचिराङ्गरागारुणं
नमामि सुमनःशरं सततमार्यमञ्जुश्रियम् ॥१ ॥

१—मङ्गलाचरण

मैं पुष्पवाण कामदेव को प्रणाम करता हूं जिसका ध्यान यदि कामुक व्यक्ति दो घड़ी के लिये भी करे तो उसकी मन से चाही हुई प्यारी मनोहारिणी प्रेम और यौवन के मद से व्याकुल कामिनी शीघ्र ही उसे मिल जाती है। उस कामदेव का आडम्बर उल्लास से भरा हुआ है; उसका शरीर अंगराग से अरूण है; जो आर्य है और निरन्तर मन्जुश्री वाला दृष्टिगत होता है।

विशेष—यहां पर आर्य मञ्जुश्री यह कामदेव का विशेषण दिया गया है। किन्तु बुद्ध भगवान के लिये यह विशेषण प्रयुक्त किया जाता है। वस्तुतः लेखक पद्मश्री बौद्ध थे। भगवती तारा की पूजा का निर्देश, जन समाज की कल्याण कामना ऐसे प्रकथन हैं जो कवि का बौद्ध होना प्रमाणित करते हैं।

पहला पद्य मंगला चरण परक है जिसमें कामदेव के लिये भगवान-बुद्ध का अभिधान प्रदान कर कवि ने एक ही पद्य में कामदेव और भगवान् बुद्ध दोनों की प्रार्थना कर ली है।

यहाँ कवि यह कहना चाहता है कि सभी शक्तियों का स्रोत भगवान बुद्ध ही है। वे ही कामदेव के रूप में स्थित होकर जगद्विजय करते हैं तथा मनुष्य की किसी प्रकार की कामना पूरी करना उन्हीं का कार्य है। इसमें गीताके इस सिद्धान्त की प्रतिध्वनि निकलती है जिसमें भगवान् कृष्ण ने कहा है कि अग्नि इत्यादि समस्त तत्त्वों के रूप में स्थित होकर मैं ही सभी की आवश्यकतायें पूरी करता हूं।

यद्यपि पद्मश्री बौद्ध भिक्षु थे; फिर भी अन्यमान्यताओं के प्रति भी उनके मन में द्वेष नहीं था। उन्होंने बौद्धोंकी देवी की पूजा और अर्चा का अनेकशः उपदेश देकर भी भगवान शंकर और पार्वती की भी पूजा-अर्चा का निर्देश दिया है। यह उनकी धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है।

लाल रंग प्रेम का प्रतीक है। कामदेव के लिये अंगराग से अरुण विशेषण देकर कवि ने अपनी कृति की शृङ्गार रूपता और प्रेम रूपता की ओर संकेत किया है।

केचिद्भाषान्तरकृततया कामशास्त्रप्रबन्धाः
दुर्विज्ञेया गुरुतरतया केचिदल्पार्थकाश्च।
तत्पद्मश्रीविरचितमिदं सर्वसारं सुबोधं
शास्त्रं शीघ्रं शृणुत सुधियोऽभीष्टधर्मार्थकामाः ॥२॥

२—प्रस्तुत रचना का उपयोग

कामशास्त्र के प्रबन्ध कुछ तो इसलिये समझ में नहीं आते कि भिन्न भाषा में लिखे हुये हैं; कुछ इतने विशाल हैं कि उनका पढ़ना कठिन। कुछ प्रबन्ध इतने छोटे हैं कि उनसे यथेष्ट लाभ नहीं होता। इसीलिये पद्मश्री ने सभी का सार लेकर इस सुबोध ग्रन्थ की रचना की। अतः ऐसे बुद्धिमान लोग शीघ्र ही इसे सुने। जिनको धर्म, अर्थ और काम अभीष्ट है।

इस पद्य में कवि ने रचना का उद्देश्य बतलाया है। कवि का कहना है कि कामशास्त्र पर अनेक रचनायें विद्यमान हैं जिनसे जनसमाज अभीष्ट लाभ नहीं उठा पाता। इसके कई कारण हैं—कुछ पुस्तकें ऐसी भाषा में लिखी हुई हैं जिन्हें सामान्य जनता समझती नहीं। उद्दालक श्वेत केतु, वाभ्राव्य इत्यादि की लिखी हुई कुछ पुस्तकें इतनी विशाल हैं कि पाठक उनमें उलझकर रह जाता है और अभीष्ट लाभ प्राप्त नहीं कर पाता। कुछ पुस्तकें कामशास्त्र विषयक बहुत सीमित क्षेत्र को लेकर चलती हैं जिनसे आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। इन दोषों को दूर करने के लिये एक ऐसी रचना की आवश्यकता थी जिसमें पूरा विषय तो आ ही जाय, सभी का सार हो, समझने में भी आसान हो और जिसमें धर्म, अर्थ और काम तीनों क्षेत्रों में जीवन को सुखमय बनाने के उपाय बतलाये गये हों।

यहाँ पर कवि ने अनेक न समझने योग्य कामशास्त्रीय ग्रन्थों का उल्लेख किया है। उनकी रचना ऐसी भाषा में की गई है कि सामान्य जनता की समझ में नहीं आती। प्रस्तुत पुस्तक भी संस्कृत भाषा में लिखी गई है जो सर्वसाधारण की भाषा कभी नहीं रही। यहाँ

यह स्पष्ट नहीं है कि पद्मश्री किन भाषाओं में लिखे हुए ग्रन्थों का उल्लेख कर रहे हैं जो संस्कृत से भी अधिक दुरूह हों।

इस पुस्तक में सभी का सार है इस कथन में आंशिक सत्य विद्यमान है। लेखक ने कामशास्त्र को मुख्य विषय बनाया है; साथ ही ऐसे विषयों का भी समावेश किया है जो दूसरी कामशास्त्रीय पुस्तकों में नहीं आये हैं। उदाहरण के लिये रत्नों की परीक्षा, गन्धों का ज्ञान, अंग इत्यादि के द्वारा संकेतों का परिचय, तन्त्र विद्या, गर्भज्ञान और उत्तम पुत्र पैदा करने के उपाय इत्यादि कुछ विषय ऐसे हैं जिनका समावेश कामशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रायः नहीं किया जाता। संक्षिप्त होने से यह पुस्तक सुबोध अवश्य है किन्तु विषय का स्पर्श कर उसे छोड़ देना पूर्णता तक न जाना इस पुस्तक की कमी कही जा सकती है।

नाना विचित्रैः सुरतोपचारैः क्रीडासुखं जन्मफलं नराणाम्।
किं सौरभेयीशतमध्यवर्ती वृषोऽपि सम्भोगसुखं न भुङ्क्ते ॥३॥

३—कामशास्त्र की आवश्यकता

नाना प्रकार के विचित्र सुरतोपचारों से मनुष्यों को क्रीडा सुख प्राप्त हो जाता है जो जन्म का फल है। क्या सुरभि श्रेणी की सैकड़ों गायों के मध्य में विहार करने वाला बैल भी संभोग सुख प्राप्त नहीं कर लेता। (संभोग सुख कोई बड़ी चीज़ नहीं। वह तो बैल को भी मिल जाता है। किन्तु कामशास्त्र की विचित्र व्यवस्थाओं के अनुसार जो लोग सुरत कार्य में लीन होते हैं वे तो अपने जन्म का फल ही प्राप्त कर लेते हैं।)

वात्स्यायन ने शास्त्र की आवश्यकता पर विस्तार पूर्वक विचार किया है। संभोग तो सभी जीव जन्तु कर लेते हैं; किन्तु जो आनन्द जोड़-तोड़ और प्राप्त करने के उद्योग में होता है वह पशु जगत को प्राप्त नहीं होता। मानव समाज में सामाजिक जटिलताओं के कारण अपना चाहा सहवास सुख आसानी से प्राप्त नहीं होता। उसके लिये दुराव, छिपाव और उद्योग की आवश्यकता पड़ती है जो सर्वाधिक आनन्द का साधन है। शास्त्रकार कहते हैं कि नारी का दुर्लभ होना ही परारति है—'दुर्लभत्वं यतो नार्याः कामिनः सा परा रतिः' इसके अतिरिक्त शक्ति का ह्रास; अंगों का वेमेल होना आदि अनेक ऐसे प्रतिबन्ध होते हैं जिनसे होकर गुजरना पड़ता है; मानव को भावनाओं परिस्थितियों और देशकाल का भी विचार करना पड़ता है। इन सब बातों में शास्त्र सहायक होता है। इस विखरे हुये विस्तृत विचार को पद्मश्री ने एक वाक्य में समेट लिया है—'नाना विचित्र सुरतोपचारों से रति क्रीडा का सच्चासुख प्राप्त करना मनुष्य के भाग्य में ही है जिसमें शास्त्र सहायक होता है।

हित्वात्मकामं शमयेद्वशी यो नितम्बिनीनां मदनज्वरार्तिम्।
कृपान्वितो मन्मथशास्त्रवेदी समाप्नुयात् स्वर्गसुखं च धीरः ॥४॥

४—स्त्रियों की कामवासना शान्त करने में पुण्यलाभ

जो इन्द्रियजयी व्यक्ति कामशास्त्र के ज्ञान से भरा पूरा है वह यदि अपने स्वार्थ को छोड़ कर विशाल नितम्बवाली कामिनियों की काम ज्वर की पीड़ा को कृपा करके शान्त कर देता है वह धीर व्यक्ति स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है। (स्त्री सम्भोग में धर्म भी है क्योंकि कामिनियां जब काम वासना से पीडित होकर अपनी काम वासना शान्त करने के लिये शरण में आती हैं तब उनकी वेदना शान्त करना पुण्य का कार्य है। शास्त्र में कहा गया है कि ऐसी स्त्री को जो निराश कर देता है उसे ब्रह्म हत्या का पाप लगता है।)

संसार के अच्छे या बुरे जितने भी कार्य कलाप हैं उनमें तीन दृष्टिकोण कार्य करते हैं—धर्म, अर्थ और काम। उदाहरण के लिये रेलवे का बुकिंगक्लर्क यदि इस दृष्टिकोण को लेकर टिकट बाँटता है वह अपने कार्य से लोगों को अपने गन्तव्य तक पहुंचककर उनके स्वार्थ साधन में सहायक हो रहा है तो यह उसका धार्मिक दृष्टिकोण है; यदि वह उसे धनोपार्जन का एक साधन समझता है तो यह उसका आर्थिक दृष्टिकोण है और यदि वह धनोपार्जन कर उससे कामनायें सिद्ध करना चाहता है तो यह उसका कामुक दृष्टिकोण है। स्त्री सहवास में भी इन तीनों दृष्टिकोणों की व्याख्या की जा सकती है। यदि पुरुष इस दृष्टि कोण को लेकर सहवास करता है कि स्त्री को पुरुष सहवास न मिलने से अत्यन्त पीड़ा होती है; उसे शान्त करना एक धार्मिक कार्य है तो यह उसका धार्मिक दृष्टिकोण है। यदि वह सहवास करके स्त्री को वशवर्ती बनाकर उसके सहयोग से कोई स्वार्थ साधन करना चाहता है या पैसा कमाना उसका मन्तव्य है तो यह उसका आर्थिक दृष्टि कोण है। यदि स्त्री न मिलने से वह अत्यन्त व्याकुल है और वह अपनी व्याकुलता मिटाने के लिये सहवास करता है तो यह उसका कामुक दृष्टिकोण है। धार्मिक दृष्टिकोण निस्सन्देह सर्वोत्तम है। पद्मश्री ने इस पद्य में इसी बात का समर्थन किया है कि कामुक या आर्थिक दृष्टिकोण स्वार्थान्धता से पीड़ित होता है। उसमें पाप होता है। यदि पुरुष अपना मतलब निकाल कर किनारा कर ले और स्त्री को सभी दुष्परिणामों को सहने के लिये छोड़ दे तो यह बहुत बड़ा पाप होगा। यहाँ पद्मश्री का यही परामर्श है कि इस विषय में धार्मिक दृष्टि कोण अपनाना चाहिये और परोपकार की दृष्टि से स्त्री-सहवास करना चाहिये।

कामं त्यक्त्वात्मनः कामी कामव्याधिनिपीडिताम्।
चिकित्सयति यो नित्यं पदं प्राप्नोति कामिकम्॥५॥

५—काम पीडा की चिकित्सा करने का महत्त्व

जो कामी अपनी कामना का भली भांति परित्याग कर कामव्याधि से निपीडत कामिनी की नित्य चिकित्सा करता है वह प्रशस्त कामी की पदवी प्राप्त कर लेता है।

काम व्याधि भी एक रोग है। स्त्री सहवास इसी दृष्टि कोण से करना चाहिये कि वह एक चिकित्सक के रूप में उक्त व्याधि पीड़ित स्त्री की निस्स्वार्थ भाव से चिकित्सा कर रहा

है। जब रोगी अच्छा होने लगता है तब चिकित्सक को भी आनन्द आता है। यह रोग ऐसा है कि इसमें चिकित्सक की आवश्यकता नित्य रहती है। जो इस प्रकार की चिकित्सा में सफल हो जाता है वही निस्सन्देह सच्चा एवं प्रशंसनीय कामी माना जा सकता है। इसमें स्वार्थ त्याग ही पहली शर्त है।

ज्ञानेऽस्य शास्त्रस्य धनाशयानां तिष्ठन्तु तावद्धनधान्यलाभाः।
सुतार्थिनां नापि सुता दुरापाः श्रद्धावतां साधयतां प्रयत्नात्॥६॥

६—कामपरायण व्यक्तियों को भौतिक लाभ

जो लोग धन की इच्छा रखते हैं उनको इस काम शास्त्र के ज्ञान से धन धान्य का प्राप्त होना तो साधारण से लाभों में आता है। पुत्र चाहने वालों को पुत्र प्राप्ति भी कठिन नहीं है किन्तु शर्त यह है कि उस कार्य में उनकी श्रद्धा हो और लगातार उस काम में प्रयत्न पूर्वक लगे रहें।

इस विषय में भौतिक लाभ का सर्वथा अपलाप नहीं किया जा सकता। वात्स्यायन ने लाभों की एक बहुत लम्बी सूची दी है। मुकदमें जीतना, सरकार से लाभ प्राप्त करना, नौकरी प्राप्त करना इत्यादि अनेक ऐसे लाभ हैं जो किसी स्त्री के सहवास से प्राप्त हो सकते हैं। उदाहरण के लिये यदि मुकदमा जीतना है तो न्यायाधीश की पत्नी या प्रेमिका से सम्बन्ध स्थापित कर लेने से उसकी सिफारिश से मुकदमा आसानी से जीता जा सकता है। वात्स्यायन ने इस प्रकार के अनेक विषय सामने रक्खे हैं। इस विषय में पद्मश्री इतनी दूर नहीं जाते। उनका कहना है कि जब स्त्री सर्वाधिक प्रिय एवं बहुमूल्य शरीर को ही दे देती है तब सन्तुष्ट होकर वह अपना सर्वस्व धनधान्य इत्यादि प्रदान कर देगी इसमें तो सन्देह की कोई गुञ्जायश ही नहीं। इस विषय में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि पुत्र चाहने वालों को स्त्री से पुत्र की भी प्राप्ति हो जाती है। इसका आशय यही है कि यहाँ पर आचार्य पत्नी (स्वकीया) की इच्छा पूर्ति की बात कर रहा है। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के अनुसार परस्त्री से तो पुत्र की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इसका आशय यही है कि यहाँ पर आचार्य इस बात पर जोर दे रहा है अपनी पत्नी को पुरुष प्राप्ति के अभाव में तड़पते रहने की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यही बात आचार्य ने अग्रिम पद्य (१-७) में भी कही है।

यथोपदेशेन वराङ्गदेशे बीजस्य विन्यासवशेन नारी।
सङ्कल्पजव्याधिनिपीडिताङ्गी समर्पयेत्सद्रविणं शरीरम्॥७॥

७—सम्भोग से तृप्त होकर स्त्री सब कुछ समर्पित कर देती है

जब स्त्री के अंग संकल्प से उत्पन्न कामदेव की व्याधि से पीडित होने लगते हैं तब उसके वराङ्ग देश में (योनि के अन्दर) बीज की स्थापना कर देने से स्त्री इतनी कृतकृत्य हो जाती है कि अपना शरीर और धन सब कुछ समर्पित कर देती है।

जगत्त्रिवर्गप्रभवं यदेतत् कृतं ततः सत्वहितैर्महद्भिः।
बुधैर्विधेया न कुदृष्टिरस्मिन् गुणांशहृद्या वचनेन सन्तः ॥८॥

८—त्रिवर्ग साधन को बुरी दृष्टि से नहीं देखना चाहिये

क्योंकि यहां यह संसार त्रिवर्ग से ही उत्पन्न हुआ है। अतः प्राणियों का हित चाहने वाले महान् लोगों ने इसके विषय में जो शास्त्रीय रचनायें की हैं—विद्वानों को चाहिये कि उनके विषय में बुरी दृष्टि न रक्खें। क्योंकि सज्जनों का स्वभाव है वचनों से गुणों के अंश निकाल लेना (और दुर्गुणों को त्याग देना) उनके हृदय को प्रिय लगता है।

इस पद्य (१-८) में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है—कुछ लोग कामशास्त्र पर रचना करने को अच्छी निगाह से नहीं देखते। यह ठीक नहीं है; काम भी तीन वर्गों में एक है। इन तीन वर्गों (धर्म, अर्थ और काम) से ही संसार बनता है। इसलिये प्राणियों का हित चाहने वाले महात्माओं ने उपकार के लिये इस सभी वर्गों के विषय में शास्त्र रचना की है। इसलिये विद्वानों को इस विषय में बुरी भावना नहीं रखनी चाहिये। यह हो सकता है कि विवेचन में कुछ बुराइयाँ आ ही जायें। किन्तु यदिउसमें कुछ अच्छे गुण हैंतो बुराइयों के कारण उनकी उपेक्षा नहीं कर देनी चाहिये। सज्जनों की परिभाषा यही है कि गुणों के अंश को देखकर सज्जन लोग उसे हृदय के लिये प्रिय समझते हैं। आशय यह है कि कामशास्त्र में और विशेषकर प्रस्तुत रचना में हो सकता है कुछ दोष आ गये हों। किन्तु गुणों को महत्त्व देकर और बुराइयों की उपेक्षा कर इसे स्वीकार करना चाहिये।

सत्वोपकारपरमा हि त्रिवर्गसाराः सत्वोपकाररचिता विदुषां विभूतिः।
सत्वोत्थमेव विदधीत यदाश्रयीत वैशेषिकं यदिह तेन कृतं स शास्त्रम्॥९॥

९—महेश्वर ने यही बात कही है

त्रिवर्ग के सार का अन्तिम लक्ष्य है प्राणियों का उपकार करना। विद्वानों की सम्पत्ति प्राणियों के उपकार के लिये बनाई गई है। जिसका आश्रय ले उसका निर्वाह प्राणियों की बढ़ी चढ़ी आवश्यकता के अनुसार करे। यही वैशेषिक दर्शन है और इसीलिये प्रणेता ने उस शास्त्र की रचना की।

बौद्ध और जैन दर्शन का मूल सिद्धान्त है जीवदया। सुभद्राकुमारी चौहान ने अपनी बालिका के परिचय में कहा है—

प्रभु ईसा की क्षमाशीलता, नवी मुहम्मद का विश्वास।
जीवदया जिनवर गौतम की आओ देखो इसके पास॥

बौद्ध धर्म के प्रभाव में भिक्षु पद्मश्री ने भी यहाँ यही बात कही है। शास्त्रों की रचना तीन वर्गों को लेकर की गई है। त्रिवर्ग विषयक समस्त शास्त्रों का परिचय एक वाक्य में दिया जा सकता है कि सभी का प्रतिपाद्य और सन्देश यही है की लोकोपकार को ही

परमधर्म समझा जाना चाहिये। समझदारों की सम्पत्ति का निर्माण लोकोपकार के लिये ही होता है। किन्तु लोकोपकार के अनन्तक्षेत्र हैं। मानव का कर्तव्य है कि जिस क्षेत्र को चुने निर्णय इस दृष्टि से कर दे कि उससे प्राणियों का भला किस सीमा तक होता है।

यहाँ पर वैशेषिक शास्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है। वैशेषिक दर्शन छः दर्शनों में कणाद निर्मित एक दर्शन है। इसका वैशेषिक नाम इसलिये किया गया है क्योंकि उनके मत में पृथ्वी जल इत्यादि सभी तत्त्वों के परमाणु होते हैं। परमाणु तो सभी एक रूप होते हैं किन्तु उनमें एक ऐसा तत्त्व होता है जो एक तत्त्व के परमाणु को दूसरे से पृथक् करता है। उस पृथक् करने वाले तत्त्व को विशेष कहा जता है। इस तत्त्व को किसी अन्य दर्शन में स्वीकार नहीं किया गया है। विशेष तत्त्व को मानने के कारण की कणाद के दर्शन को वैशेषिक दर्शन कहा जाता है। इस वैशेषिक का यहाँ पर क्या अर्थ हो सकता है? कणाद ने कामशास्त्र पर तो कोई पुस्तक लिखी नहीं। सामान्याभिनय के प्रसंग में भरत ने विशेष शब्द का प्रयोग कामकलाओं के प्रसंग में किया है और इस आधार पर वेश्याओं के शास्त्र को वैशिक या वैशेषिक कहा गया है। कामशास्त्र के पृथक् पृथक् अधिकरणों की रचना करने में सर्वप्रथम दत्तक ही इस क्षेत्र में आये थे जन्होंने वेश्याशास्त्र, वैशिक शास्त्र या वैशेषिक शास्त्र की रचना की थी और उन्हीं के अनुकरण पर अनेक अन्य आचार्यों ने विभिन्न अधिकरणों की रचनायें कीं। ज्ञात होता है कि इसीलिये समस्त कामशास्त्र को पद्मश्री ने वैशेषिक शास्त्र कह दिया है।

सत्वोपकारपरमा हि ममाग्रपूजा सत्वापकारपरमश्च पराभवः स्यात्।
दुःखं सुखं च मम सत्त्वसमानमिष्टं सत्वेषु यः प्रहरते स कथं मदीयः ॥१०॥

१०—लोगों का दृष्टिकोण यह होना चाहिये

मेरी अग्रपूजा (परमधर्म)का अन्तिम लक्ष्य यही है कि प्राणियों का उपकार किया जाय। मेरा पराभव की अन्तिम सीमा प्राणियों का अपकार है।प्राणियों के समान ही (मेलमेंही) हमें सुख और दुःख अभीष्ट हैं।जो प्राणियों पर प्रहार करता है वह मुझे इष्ट कैसे हो सकता है।

पद्य सं. १.१० में 'मम' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ होता है भगवान बुद्ध या पूज्य देव विष्णु या शिव अथवा कोई अन्य देवता जिसकी पूजा की जाती है। इस पद्य में कहा गया है कि भगवत्तत्व स्वयं यह बात कहते हैं कि जीवों का उपकार करना ही मेरी पूजा का अन्तिम लक्ष्य है। जीवों को कष्ट देना या उनका अपकार कष्टों में और पराजय में डालता है। प्राणियों का अपकार करना मेरा अपकार है। प्राणियों का सुख, दुख ही हमारा सुख दुख है जो प्राणियों पर प्रहार कराता है वह हमारा कैसे हो सकता है?

नागरसर्वस्व का त्रिवर्ग निर्णय नामक
पहला परिच्छेद समाप्त

द्वितीयः परिच्छेद

प्रज्ञाकलायौवनजातिसम्पत्-सौन्दर्यविद्यामदगर्विताभिः ।
सुदुर्लभाभिर्वरसुन्दरीभिः सम्भोगसंजातसुखं यदीच्छेत् ॥१ ॥

कालोचितैर्धूपितधौतवस्त्रै रत्नोज्ज्वलैराभरणैरनेकैः ।
कण्ठोपकण्ठोल्लसिताग्रपुष्पस्त्रग्भिश्च मत्तालिकुलाकुलाभिः ॥२ ॥

नानाविधामोदविदग्धवासैः श्रीखण्डताम्बूलशुभाङ्गरागैः ।
नरोत्तमो मन्मथशास्त्रवेदी प्रसाधयेत् साधु निजं शरीरम् ॥३ ॥

कामियों का रहन सहन

(यहां पर तीन पद्यों का एक साथ अर्थ लगता है; अतः यह विशेषक है। दो पद्यों का एक साथ अर्थ लगने में युग्मक, तीन का विशेषक, चार का कलापक और पांच या उससे अधिक पद्यों का एक साथ अर्थ लगने में कुलक होता है।)

द्वितीय अध्याय में दो विशेषक हैं। प्रथम में स्त्रियों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये पुरुषों के शृङ्गार और उनकी सजावट का वर्णन किया गया है। दूसरे विशेषक में संभोग योग्य वातावरण बानाने का निर्देश दिया गया है। इस विषय में वात्स्यायन का कामसूत्र दृष्टव्य है। वहाँ अत्यन्त विस्तार से सजावट और रहन सहन तथा अनुकूल भवन निर्माण का वर्णन किया गया है। पद्मश्री ने संकेत मात्र दिया है। जिज्ञासुओं को कामसूत्र देखना चाहिये।

१-३—सुन्दरियों को वश में करने के लिये शरीर की सजावट

यदि उत्तम प्रकृति का व्यक्ति, कामशास्त्र का ज्ञाता चाहे कि ऐसी सुन्दरियों के सम्भोग का सुख प्राप्त हो जिन्हें अपनी बुद्धि, कला, यौवन, जाति, सम्पत्ति, सौन्दर्य, विद्या और मस्ती का बढ़ा चढ़ा अभिमान हो और जिनका मिल सकना अत्यन्त दुर्लभ हो तो उसे चाहिये कि अपने शरीर का इस प्रकार संस्कार करे कि कपड़े समयानुसार धुले हुये एवं धूप इत्यादि से सुगन्धित किये हुये हों।; अनेक प्रकार के रत्नों से उज्जवल आभूषण धारण करे। कंठ और उसका निकटवर्ती प्रदेश उच्चकोटि के पुष्पों की मालाओं से सुशोभित हो जिन पर मतवाले भौरों के समूह मंडरा रहे हों; चन्दन, पान, अच्छे अंगरागों (पाउडरों) का प्रयोग किया गया हो और वस्त्र ऐसे होने चाहिये जो अनेक सुगन्धियों से सुवासित किये गये हों।

अनेकवाद्यं विविधास्त्रपङ्क्तिकं सुपुष्पधूपोज्ज्वलराशिवासितम्।
विचित्रसत्पट्टवितानशोभितं प्रकल्पितात्यन्तमनोरमासनम्॥४॥

प्रकम्पिपर्यङ्कसुघर्घरीरवप्रबुद्धपारावतकण्ठकूजितम्।
रथाङ्गहंसस्वनरम्यदीर्धिकाजलोर्मिसंलासकवातवीजितम्॥५॥

विशुद्धभावोचितचित्रभूषितं सुरागसिन्दूरविराजिकुट्टिमम्।
प्रहृष्टचेतःशुकसारिकारवं विनिर्मयेद्वासगृहं मनोरमम्॥६॥

४-६—**(यह दूसरा विशेषक है; इसमें संभोग के अनुकूल उच्चकोटि की भवन रचना और सजावट का उल्लेख किया गया है)**

भवन ऐसे हों जिनमें अनेक प्रकार के बाजे बज रहे हों अर्थात् संगीत का आयोजन किया गया हो; अनेक प्रकार के अस्त्रों की पंक्ति लगी हुई हो (सम्भवतः यहां पर शृङ्गार सामग्री तथा उसके अनुकूल अस्त्रों का आशय है।) जो भवन अनेक पुष्प धूप की उज्वल राशि से सुगन्धित किया गया हो, जो विचित्र प्रकार के अच्छे कपड़ों के वितान से शोभित हो रहा हो और जिसमें कल्पना जन्य अत्यन्त मनोरम आसन सजाया गया हो; सुन्दर कांपने वाली चारपाई हो (सम्भवतः यहां आशय यह है कि चारपाई पर कड़ा विछावन नहीं होना चाहिये; इतना कोमल होना चाहिये कि उस पर लेटते ही नीचे को धंस जाये।) सुन्दर घर्घर शब्द से जागृत कबूतरों के कण्ठ का कूजन उसे मनोरम बना रहा हो; एक काफी बड़ी वावड़ी निकट हो जिसमें चक्रवाक् और हंसों का शब्द सुनाई दे रहा हो। जल की लहरों के सम्पर्क से आनन्द दायक वायु से पंखा किया जा रहा हो (ऐसी वायु मानो पंखा झलने का कार्य कर रही हो।) भवन विचित्र प्रकार के भावों वाले उचित चित्रों से आभूषित हो; फर्श में सुन्दर लाली वाले सिन्दूर जैसे पत्थर के टुकड़े (टाइलें) जड़ी हुई हों जिनसे उनकी शोभा बढ़ी हुई हो; प्रसन्न चित्त वाले शुक सारिका के शब्द विद्यमान हो। इन विशेषताओं से युक्त वासगृह को सजाना चाहिये।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में
शरीर प्रसाधन एवं वासगृह प्रसाधन नामक
दूसरा परिच्छेद समाप्त

तृतीयः परिच्छेद

(रत्न धारण करने की एक समान्य परम्परा चल पड़ी है। औरतें तो शृङ्गार के लिये अंगूठी इत्यादि धारण करती हैं; किन्तु पुरुष सौभाग्य लाभ और अनर्थ निवारण के लिये उन्हें धारण करते हैं। जन्मकुण्डली से बुरे ग्रहों का प्रभाव दूर करने के लिये ज्योतिषी लोग विशिष्ट प्रकार के रत्नों के धारण करने का परामर्श देते हैं। मध्यश्रेणी या उच्च श्रेणी के पुरुषों की अंगुलियां प्रायः रत्नों से सजी दिखलाई पड़ जाती हैं।)

रत्न धारण

रत्नोत्तमानां गुणदोषजातं तद्धारकाणां च शुभाशुभानि।
वर्णप्रभेदैर्मणिमण्डलानां प्रस्तावतः सत्वहिताय वच्मि॥१॥

१—उत्तम रत्नों के गुण दोषों के निरूपण का उपक्रम

उत्तम रत्नों के गुण दोषों का समूह, उनके धारण करने वालों के शुभाशुभ फल, मणियों के समूहों के रंग भेद इन सबका प्राणियों के हित के लिये प्रसंगवश वर्णन कर रहा हूं।

रत्न धारण करने की परम्परा अत्यन्त पुरानी है। इनका धारण करना सम्पन्नता का तो परिचायक होता ही है, सुन्दरता का भी एक महत्त्वपूर्ण उपकरण माना जाता है। रत्न धारण करने का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपयोग माना जाता है—बुरे ग्रहों की बुराई शान्त करना और भौतिक उन्नति प्रदान करना। ज्योतिषाचार्य जन्मपत्र देखकर जहाँ बुरे ग्रहों के प्रभाव से छुटकारा पाने के लिये पूजा-पाठ, जप इत्यादि का परामर्श देते हैं वहाँ रत्न धारण करने काभी सुझाव दिया करते हैं। उसमें तर्क यह है कि अनिष्ट ग्रह से सम्बन्धित रत्न का स्पर्श मानव के किसी अंग से होता रहे। सर्वाधिक अंगूठी भी किसी ऐसी धातु की बनाई जाती है जो अमुक ग्रह के दोष को शान्त करने के लिये उपयोगी हो। उसका सुझाव भी ज्योतिषाचार्य लोग ही दे देते हैं। एक विशेष मान्यता यह है कि शुद्ध रत्न जहाँ अच्छा फल देता है वहाँ अशुद्ध और दूषित रत्न हानि भी करता है। किन्तु अच्छे और बुरे की पहिचान करना सरल नहीं है। सबसे अधिक विश्वसनीय परीक्षा यह मानी जाती है कि किसी रत्न को धारण करके देख लेना चाहिये—बुरा रत्न कुछ दिनों में ही बुरा फल दे देता है। अतः उसको तत्काल उतार देना चाहिये।

रत्न ज्ञान एक पृथक् शास्त्र है। काम शास्त्रीय पुस्तकों में इसका उल्लेख होता नहीं। किन्तु पद्मश्री ने उपयोगी समझ कर संकेत मात्र रूप में इसका परिचय दे दिया है। जिसमें रत्न के केवल एक तत्त्व का परिचय दिया गयाहै—कि रत्न अच्छा और बुरा फल देते हैं।

कतिपय रत्नों की विशेषताओं का भी उल्लेख कर दिया है। संक्षिप्त वर्णन से आकाङ्क्षा तो जागृत हो जाती है किन्तु सन्तोष नहीं होता। अतः परिशिष्ट सं. एक में रत्नों के विषय में कुछ विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वहीं देखना चाहिये।

दोषापमृष्टं मणिमप्रबोधाद्बिभर्ति यः कश्चन कश्चिदेव।
तं बन्धदुःखामयबन्धुवित्तनाशादयो दोषगणा भजन्ते ॥२॥

२—दूषित मणि धारण के दोष

जो कोई किसी ऐसी मणि को अज्ञानवश (बिना जाने) धारण करता है जिसका दोषों से स्पर्श हो गया हो उसे बन्धन (कारागार) का दुःख भोगना पड़ता है; उसको रोगों की पीड़ा बन्धुबान्धव और धन का विनाश इत्यादि अनेक दोषों का समूह झेलना पड़ता है।

गुणाः सुरुग्गौरवकान्तिमत्ताः स्नैग्ध्यं महत्त्वं समताऽच्छता च।
दोषास्तथा बिन्दुकलङ्करेखात्रासोमलः काकपदं लघुत्वम् ॥३॥

३-हीरे के गुण दोष

हीरे के गुण हैं—उसकी बनावट अत्यन्त रुचिर हो, भारी हो, झलक मारता हो; चिकना हो, महत्त्वपूर्ण तथा कीमती हो, बनावट में समता लिये हुये हो, और अच्छा हो; उसी प्रकार उसके दोष हैं—उसमें बिन्दु पड़े हों, काली रेखा हो, टूटा हुआ हो, मलिन हो, कौये के पांव का चिन्ह बना हो और हल्का हो।

हीरा रत्नों में सर्वोत्तम, सर्वाधिक कीमती, सबसे अधिक ठोस और सबसे अधिक कड़ा होता है। यह शुक्रग्रह का रत्न है। कार्बन का जमाया हआ घनाकार रत्न है। यह किसी भी अस्त्र से कटता नहीं है; किन्तु टूट जाता है। इसमें परतें होती हैं जिन्हें अलग करना किसी धातु, खनिज या किसी दूसरे रत्न से सम्भव नहीं है। इसको अलग करने के लिये हीरे को हीरे से घिसकर धारदार बना लिया जाता है। पद्मश्री ने इसके गुण दोषों का जो परिचय दिया है उसमें दो विशेषताओं पर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है—तलवार की धार जैसा तेज होना और अत्यन्त विस्तृत होना। (इसके विषय में देखिये प्रस्तुत कृति का प्रथम परिशिष्ट।)

तीक्ष्णसिधारत्वसविस्तरत्वं गुणौतु, वज्रस्य वदन्ति तज्ज्ञाः।
शुक्त्युद्भवानां मृदुसूक्ष्मभेदसुवृत्तशुक्लत्वममी गुणाश्च ॥४॥

४—रत्न परीक्षक कहते हैं की हीरा में दो गुण और होने चाहिये—वह तीक्ष्ण तलवार की धार जैसा हो और फैला हुआ हो; शुक्ति से उत्पन्न हुये रत्नों की विशेषता है उनका कोमल होना, एक वारीक छिद्र, गोल मटोल अच्छी बनावट और सफेदी।

शुक्ति से उत्पन्न रत्नों में चन्द्र का रत्न मोती है। (परिचय के लिये देखिये प्रथम परिशिष्ट)

सुजातिरत्नं परिवृद्धिहेतुर्निधानलक्ष्मीसुतसेवकानाम् ।
आरोग्यसौभाग्यफलायुषां च विजातिकं त्वाशु विनाशबीजम् ।।५ ।।

५—रत्नधारण का प्रभाव

अच्छी जाति के रत्न उन्नति में कारण होते हैं कोश, लक्ष्मी, पुत्र, सेवक, आरोग्य, सौभाग्य फल, आयु इत्यादि इन सबके बढाने वाले होते हैं और विजातीय रत्न शीघ्र ही विनाश में कारण होते हैं।

बन्धूकपुंस्कोकिलनेत्रगुञ्जातुल्यच्छविर्योऽत्र स पद्मरागः ।
आकृष्टनीलीरसबुद्बुदाभो यो वाऽलिपृष्ठद्युतिरिन्द्रनीलः ।।६ ।।

६—पद्मराग और नीलम के गुण

जिसकी छवि बन्धूक (गुलदोपहरिया) पुंस्कोकिल (कोयल) की आंख और गुञ्जा (घुंघची) के समान होती है वही असली पद्मराग है। निचोड़े हुये नीली रस के बुलबुले के समान अथवा भौंरे की पीठ (पंख) के समान जिसकी चमक होती है वह असली नीलम होता है।

खद्योतपृष्ठनवशाद्वलशैवलानां तुल्यत्विषो मरकता मणयो भवन्ति ।
रत्नोत्तमस्य हि शुभाशुभकारणस्य व्याख्याऽत्र तन्न, कथिता ह्यधिकाश्चमुख्या ।७ ।।

७—पन्ना के गुण

मरकतमणियों (पन्ना) की चमक जुगुनू की पीठ (पंख) के समान, नई घास और नये सिवार के समान होती है। यहां पर शुभाशुभ लक्षण वाले उत्तम रत्नों की जो व्याख्या है वह नहीं कही; अधिक मुख्य रत्नों का संक्षिप्त परिचय दिया।

वैदूर्य एकः शिखिकण्ठनील स्तथाऽपरो वेणुदलप्रकाशः ।
नानाविधा आकरयोनिभेदै र्वज्रं च मुक्तामणयश्च सन्ति ।।८ ।।

८—वैदूर्य एवं रत्नों की अनेकता

एक प्रकार की वैदूर्यमणि मोर पंख के समान नीली होती है; दूसरे प्रकार की वैदूर्य मणि बांस के पत्तों के समान होती है इसी प्रकार हीरे और मुक्तामणियां खान और योनि भेद से अनेक प्रकार की होती हैं।

रत्नों का विशेष विवरण तद्विषयक पुस्तकों और रत्नों का व्यवसाय करने वाले जोहरियों से प्राप्त किया जा सकता है। संक्षिप्त विवरण परिशिष्ट सं. १ में दे दिया गया है।

पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में रत्नपरीक्षा नामक
तीसरा परिच्छेद समाप्त

चतुर्थः परिच्छेद

नानाविदग्धवासा मुख्या मदनप्रदीपकाः ख्याताः ।
वरकामुकः प्रयत्नाच्छिक्ष्येतादौ सुगन्धशास्त्रेभ्यः ॥१ ॥

सुगन्धित द्रव्य

१—नाना प्रकार की सुगन्ध वस्तुयें प्रसिद्ध हैं जो कुशल एवं ज्ञानवान लोगों को पसन्द आती हैं। ये मुख्य वस्तुयें कामोद्दीपक कही जाती हैं इसलिये एक अच्छे कामी को चाहिये वह सुगन्ध शास्त्रों के आधार पर सर्वप्रथम उन सुगन्ध द्रव्यों की शिक्षा ग्रहण करे।

लोकेश्वरादिकेभ्योऽपटुमतिदुर्बोधगन्धशास्त्रेभ्यः ।
सङ्गृह्य सारभागं प्रविधास्ये सुप्रसिद्धपदैः ॥२ ॥

२—लंकेश्वर इत्यादि के बनाये हुये या इस नाम से प्रसिद्ध इस प्रकार के गन्धशास्त्र के ग्रन्थ हैं जिन्हें अकुशल बुद्धि के लोग समझ नहीं सकते। इसलिये उनके सार भाग का संग्रह करके उनका वर्णन ऐसे शब्दों से किया जायेगा जो प्रसिद्ध हों और सभी की समझ में आ जायें।

प्राचीन साहित्य में गन्धशास्त्र प्रचलित था और इस विषय में अनेक पुस्तकें भी लिखी गईं थीं। किन्तु अब उस साहित्य का विशेष पता नहीं चलता। पद्मश्री ने इस शास्त्र पर लिखने वालों में महेश्वर का नाम लिया है। इनके व्यक्तित्व के विषय में केवल इतना ज्ञात है कि लोकेश्वर या अवलोकितेश्वर नाम के एक बौद्ध भिक्षु ९वीं शताब्दी में या उससे पहले हुये थे। उनकी एक रचना लोकेश्वर शतक नाम की प्राप्त होती है। जिसमें भगवान बुद्ध की प्रशस्ति पर पद्यों का संकलन किया गया है। हो सकता है उन्होंने गन्धशास्त्र पर भी कतिपय पुस्तकें लिखी हों या कोई अन्य लोकेश्वर हों। इसमें जो नुश्खे दिये हुये हैं वे या तो आयुर्वेद के क्षेत्र में आते हैं या कामशास्त्र में शृङ्गार परक विवेचन का विषय है। पद्मश्री द्वारा निर्देश से ज्ञात होता है कि लोकेश्वर की रचना पाण्डित्य पूर्ण एवं जटिल थी जिसका समझना सामान्य बुद्धि का काम नहीं था।

कुन्तलकक्ष्यगृहोदरवसनवदनसलिलपूगफलवासान् ।
स्नानोद्वर्तनचूर्णं वर्ती द्वे धूपदीपाख्ये ॥३ ॥

३—जिन वस्तुओं के सुगन्धित करने की आवश्यकता है वे ये हैं—केश, बाहु-मूल, (वगल), घर का आन्दरूनी भाग, वस्त्र, मुख, जल, सुपाड़ी, स्नान के समय में मालिश और उबटन, दो वत्तियां-धूप वत्ती और दीप वत्ती।

नखकर्पूरकुङ्कुमा गुरुशिह्लकमिति च केशपटवासः।
क्रमवृद्धिभागरचितं भागत्रयशर्करासहितम्॥४॥

४—केशों का सुगन्धीकरण

नख (एक सुगन्धित द्रव्य), कपूर, केसर, अगर, शिलारस इन सबका उपादान क्रमवृद्धि के साथ करे (अर्थात् नख भाग १ कपूर भाग २ केसर भाग ३ अगर भाग ४ और शिलारस भाग ५) इन सबको मिलाकर इनकी एक तिहाई शकर ले। इस सुगन्धित चूर्ण को लगाने से केश सुगन्धित हो जाते हैं।

कक्षवास (वगल का सुगन्धीकरण)।

पत्रकशैलजशिह्लककुङ्कुममुस्ताऽभया चेति।
त्रिगुडाः काक्षिकवासो ग्रहतिथिशिखिरुद्रवेदकरभागाः॥५॥

वगल को सुगन्धित करना

५—तेजपात, शिलाजीत, शिलारस, केसर, नागर मोथा और हरड इनको क्रमशः ९, १५, ३, ११, ४ और २ भागों में ग्रहण करे उसमें तीन भाग गुड मिलाकर लेप तैयार कर ले। इसे लगाने से वगल की दुर्गन्ध दूर होकर सुगन्धि आने लगती है।

गृहवास (घर में सुगन्ध लाना)।

कस्तूरीकर्पूरं कुङ्कुमनखमांसिबालागुरुकं च।
चन्दनगुडकंक्रमशो बर्धितभागं तु गृहवासः॥६॥

घर के अन्दर सुगन्धि

६—वर्धित भाग के क्रम से कस्तूरी, कपूर केसर, नख, जटामांसी, खस, अगर चन्दन और गुड इस योग के प्रयोग से घर सुगन्धित हो जाता है।

क्रम इस प्रकार होगा —

कस्तूरी	१ भाग	कपूर	२ भाग
केसर	३ भाग	नख	४ भाग
जटामांसी	५ भाग	खस	६ भाग
अगर	७ भाग	चन्दन	८ भाग
गुड	९ भाग		

घर में इन्हें जहां कहीं रख देना चाहिये। इससे घर सुगन्धित रहता है।

सामान्य मुखवास (मुख सुगन्धित करण)

जातीफलकस्तूरी कर्पूरंचूतवारि संपिष्टम्।
धूपितमगुरुकशिह्लक मधुगुडसितैश्च मुखवासः ॥७ ॥

७—जायफल, कस्तूरी, कपूर इनको आम के पत्तों के रस में स्थापित कर अगर, शिलारस, शहद, गुड और शकर इनसे धूप देने में (सबको मिलाकर धूम्रपान करने में) मुख सुगन्धित हो जाता है।

विशेष मुखवास।

क्रमवर्धितं त्वगेला मांसीशुंठ्यगुरु कुङ्कुमं चापि।
घनचन्दनजातीफललवङ्गकङ्कोलकर्पूरम् ॥८ ॥

विशेष मुखवास (युग्मक—दो पद्यों का एक में अर्थ)

८—दाल चीनी १ भाग, छोटी इलयची २ भाग, जटामांसी ३ भाग, कपूर ४ भाग, अगर ५ भाग, केसर ६ भाग, नागरमोथा ७ भाग सफेद चन्दन ८ भाग, जायफल ९ भाग, लौंग १० भाग, शीतल चीनी ११ भाग, कपूर १२ भाग।

अष्टांशवंशरोचनसुकलितमतिस्वल्पशर्करासहितम्।
पिष्ट्वा सहकाररसै र्मुखवासो भूमिपालानाम्॥९ ॥

९—उक्त सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर आठवां भाग शुद्ध अच्छे किस्म का वंश लोचन लेकर उसमें थोड़ी सी शकर डाल कर, आम के रस में पीस कर (गोली के रूप में) मुख में रखना यह उच्च कोटि का राजा लोगों का मुखवास है।

जलवास (जल सुगन्ध करण)

सूक्ष्मैलाकस्तूरी कुष्टतगरपत्रचन्दनैः सुतनु!
मलयानिलजलवासं रचय भूमिपालतिलकानाम्॥१० ॥

जल का सुगन्धित करना

१०—हे सुन्दर शरीर वाली! छोटी इलायची, कस्तूरी, कूठ, तगर तेजपात और चन्दन इन सबको लेकर मिलाकर मलय पवन नामक (उसका जैसा) सुगन्धित जल बनाओ। यह जल मुखवास के लिये राजाओं के तिलक जो उच्च कोटि के राजा हैं उनके भी पीने योग्य जल को सुगन्धित करने वाला है।

पूगवास (सुगन्धित सुपारी)।

कुष्ठतगरजातीफलकर्पूरलवङ्गकैलाभिः।
वरतनु! वासय शीघ्रं पूगफलं भूमिपालानाम्॥११ ॥

सुपाड़ी को सुगन्धित करना

११—हे सुन्दर शरीर वाली ! कूठ, तगर, जायफल, कपूर, लौंग, छोटी इलायची इनसे राजाओं के लिये सुगन्धित सुपाड़ी शीघ्र तैयार करो।

त्वगगुरुमुस्तकतगरं चौरशठीग्रन्थिपर्णकनखं च।
कस्तूरीसंयुक्तं स्नानीयं तत्प्रशस्यते सद्भिः ॥१२॥

१२—दालचीनी, अगर, नागर मोथा, तगर, चोर (गठिवन) कचूर, तेजपात, नख और कस्तूरी इनको मिलाकर जो वस्तु तैयार होती है वह स्नानकालिक सुगन्ध देने वाली वस्तु है। इन्हें मिलाकर स्नान करने से शरीर सुगन्धित हो जाता है। इस स्नानीय द्रव्य की सज्जन लोग प्रशंसा करते हैं।

चतुस्सम या सुगन्धितकर मसाला।

कस्तूरीकर्पूरं कुङ्कुमचन्दनमुदाहृतं क्रमशः।
शशिकरवेदकलाकृत भागेन चतुस्समो गदितः ॥१३॥

चतुस्सम नामक सुगन्धित मसाला

१३—कस्तूरी १ भाग, कपूर २ भाग केसर चार भाग और चन्दन १६ भाग इनको मिला कर जो मसाला तैयार होता है वह चतुस्सम कहा जाता है। यह सुगन्धि दायक मसाला है।

सामान्य उद्वर्तन (उबटन)

कस्तूरीकर्पूरं चन्दनशैलेयनागागुरुकं च।
उद्वर्तनमिदमुक्तमविरतं सेव्यं नरेन्द्रस्य॥१४॥

सामान्य उबटन

१४—कस्तूरी, कपूर, चन्दन, शिलाजीत, नाग केसर और अगर यह उबटन बतलाया गया है। इसका सेवन राजा लोगों को निरन्तर करना चाहिये।

राजयोग्य उद्वर्तन (उबटन)।

शैलजवाललवङ्गक त्वक्पत्रकसुरभि शिह्लतगरं च।
मांसीकुष्ठसमेतं चूर्णं क्षितिपालतिलकानाम्॥१५॥

राजोचित उबटन

१५—शिलाजीत, खस, लौंग, दालचीनी, तेजपात, सुगन्धित शिलारस, तगर, जटामांसी और कूठ इनको मिलाकर तैयार किया गया उबटन राजाओं में तिलक अर्थात् उच्चकोटि के राजा लोगों के लिये है।

राजार्ह रतिनाथ धूपवर्ती

कर्पूरागुरुचन्दनमुस्तकपूतिप्रियंगुवालं च।
मांसीचेति नृपाणां योग्या रतिनाथधूपवर्तिरियम् ॥१६॥

धूपवत्ती

१६—कपूर, अगर, चन्दन, मोथा, रोहितघास प्रियंगु, खस, जटामासी इन वस्तुओं से बनाई हुई अगरवत्ती रतिनाथ धूपवत्ती कहलाती है। यह राजा लोगों के योग्य है।

नखागुरुशिह्लकवालकशैलेयकुन्दुरुचन्दनश्यामाः।
क्रमवृद्धि भागरचिता वर्ती रतिनाथकान्तेयम् ॥१७॥

१७—भागों की क्रमवृद्धि से इन वस्तुओं को लेना चाहिये—नख १ भाग, अगर २ भाग शिलारस ३ भाग, खस ४ भाग, शिलाजीत ५ भाग, कुन्दुरू ६ भाग, चन्दन ७ भाग कस्तूरी ८ भाग। इनसे बनाई हुई वत्ती रति नाथ कान्ता वत्ती कहलाती है।

सुरदारुमरुवमुस्तकलाक्षागुरुशालचूर्णकर्पूरम्।
नृपवासकगृहयोग्या मदनोद्भवदीपवर्तिरियम् ॥१८॥

१८—देवदारु, मरुव, मोथा, लाख, अगर, शालचूर्ण, कपूर, इनसे बनी वत्ती मदनोद्दीपक वत्ती कही जाती है। यह राजा लोगों भवनों के योग्य है।

गन्धरसागुरुगुग्गुलुसर्जरसपूतिकर्पूरम्।
श्रीवासशिह्लकचन्दनमित्यपरा दीपवर्तिरियम् ॥१९॥

१९—गन्धरस, अगर, गूगुल, सर्जरस, कपूर, विरोजासन, शिलारस, सफेद चन्दन इनसे बनी दूसरे प्रकार की दीपवत्ती है।

पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में गन्धाधिकार नामक
चौथा परिच्छेद समाप्त

पञ्चमः परिच्छेदः

भाषासंकेत

कलाकलापैश्च गुणैः समस्तैर्गुणैरसङ्केतविदं हि कान्तम्।
प्रम्लाननिर्माल्यमिवोत्सृजन्ति गुणाधिका नागरिकास्तरुण्यः ॥१ ॥

भाषा-संकेत

(गुप्त भाषा और संकेतों के माध्यम से भाव प्रकट करना अपने रहस्य के गोपन के लिये अत्यधिक आवश्यक उपकरण है। गुप्तचर विभाग में इसका सामान्य रूप से प्रयोग किया जाता है। यहां प्रेमियों की गुप्तभाषा का परिचय दिया गया है जो प्रकाशित होकर गुप्त नहीं रहा। प्रेमियों को अपने संकेत स्वयं बना लेने चाहिये।)

१—यदि प्रियतम कलाओं के समूह और समस्त गुणों से परिपूर्ण हो किन्तु संकेतों को न समझता हो तो अधिक गुणवती नागरिक तरुणियां उसे इस प्रकार छोड़ देती हैं जिस प्रकार मुर्झाई हुई पुष्पमाला को फेंक दिया जाता है।

ततोऽन्यचिन्तां परिहृत्य कामी यतेत सङ्केतकशास्त्रकेषु।
सतां हि सम्मानसहस्रभाजां यूनां वधूधिक्कृतिरेव मृत्युः ॥२ ॥

संकेतों को समझने की आवश्यकता

२—इसलिये कामी व्यक्ति को चाहिये कि अन्य चिन्ताओं को छोड़कर संकेतों का विवेचन करने वाले शास्त्रों को समझने का प्रयत्न करे। इसमें सन्देह नहीं कि चाहे सज्जन व्यक्ति हजारों सम्मानों के पात्र हों और उन्हें वे सम्मान मिल रहे हों किन्तु वधू द्वारा धिक्कार किया जाना ही युवकों की मृत्यु है।

नारीसङ्केतकं वक्ष्ये वक्रभाषाङ्गमुद्रयोः।
पोटलीवस्त्रपुष्पाणां ताम्बूलस्याप्यनुक्रमात् ॥३ ॥

संकेत वर्णन का क्रम

३—अब मैं क्रमशः नारियों के संकेत का वखान करूंगा—वह क्रम इस प्रकार होगा—वक्रभाषा, अंगों की चेष्टायें, पोटली, वस्त्र, पुष्प और ताम्बूल।

फलं पुंसि, स्त्रियां पुष्पं, कुलप्रश्नेऽङ्कुरः स्मृतः।
दाडिमं तु द्विजे ज्ञेयं, पनसः क्षत्रिये स्मृतम् ॥४ ॥

४—पुरुष में फल का संकेत (अर्थात् यदि फल की बात कही जाय तो समझ लेना चाहिये कि बात पुरुष के विषय में है।) इसी प्रकार स्त्री के विषय में पुष्प का, कुल के प्रश्न में अंकुर का संकेत समझना चाहियें; द्विज के विषय में अनार का संकेत समझना चाहिये और क्षत्रिय के विषय में कटहल का संकेत याद किया जाता है।

कदलीजं फलं वैश्ये, तथाम्रं शूद्रजे पुनः।
राजपुत्रे द्वितीयेन्दुर्घनच्छायस्तु भूपतिः ॥५॥

५—वैश्य के विषय में केले का फल, शूद्र से उत्पन्न व्यक्ति में आम का संकेत राजपुत्र के विषय में द्वितीया के चन्द्र का और राजा के विषय में मेघ की छाया का संकेत किया जाता है।

दुष्कुले कालपुष्पं स्यात् सरः सामन्तपुत्रके।
मध्यशो यून्यपक्कं स्याद् बाले पक्कंतु वृद्धके ॥६॥

६—बुरे कुल में उत्पन्न हुये व्यक्ति के विषय में काले रंग का फूल, सामन्त के पुत्र के विषय में सरोवर, युवा के विषय में मध्याह्न, वालक के विषय में कच्चे (सम्भवतः फल) का और वृद्ध में पके का संकेत होना चाहिये।

ब्राह्मण्यां कुन्दपुष्पं स्याद्राजपुत्र्यां तु मालती।
मल्लिका वैश्यपुत्र्यान्तु शूद्रपुत्र्यान्तु कैरवम् ॥७॥

७—ब्राह्मणी के विषय में कुन्द पुष्प का राजपुत्री में मालती का, वैश्यपुत्री में तो मल्लिका का और शूद्र पुत्री में कैरव का संकेत होना चाहिये।

वणिक् पुत्र्यां सरोजं च, महत्यामुत्पलं तथा।
कामुके भ्रमरः प्रोक्तः कामिन्यां चूतमञ्जरी ॥८॥

८—बनिये की पुत्री में कमल का, मन्त्री की पुत्री में नीले कमल का, कामी पुरुष में भौंरे का संकेत कहा गया है; उसी प्रकार कामिनी के विषय में आम्रमञ्जरी का संकेत समझना चाहिये।

तथाह्वानेंङ्कुशश्चापि प्राकारो वारणे स्मृतः।
छन्नचन्द्रो निशीथिन्यां, दिनेऽच्छन्नो रविः स्मृतः ॥९॥

९—उसी प्रकार बुलाने में अंकुश, मना करने में चहारदीवारी, रात के लिये ढके हुये चन्द्रमा का और दिन के लिये विना ढके सूर्य का संकेत होता है।

आद्ये यामेऽपि सङ्खः स्यान्महाशङ्खो द्वितीयके।
पद्मस्तृतीयके यामे महापद्मश्चतुर्थके ॥१०॥

१०—पहले पहर के लिये शङ्ख हो और दूसरे पहर के लिये महाशंख का संकेत होता है: तीसरे पहर के लिये पद्म और चौथे पहर के लिये महापद्म का संकेत किया जाता है।

रामस्तु पञ्चमे यामे विरामः षष्ठ उच्यते।
प्रवरः सप्तमे ज्ञेयः प्रत्यूषश्च तथाऽष्टमे॥११॥

११—पञ्चम पहर के लिये राम और छठे पहर के लिये विराम, सप्तम पहर के लिये प्रवर और अष्टम के लिये सवेरे का संकेत किया जाता है।

पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में भाषा संकेत नामक
पाँचवां पिच्छेद समाप्त

षष्ठः परिच्छेदः

अङ्गसङ्केत

क्षेमप्रश्ने कर्णलता, कथिता कथनेऽपि सा।
कचदंशस्तु कामार्तावुरः स्नेहे शिरोऽर्चने ॥१॥

अंग संकेत

१—कुशल प्रश्न में कान के परदे का स्पर्श तथा कुशल बतलाने में भी कर्णलता का स्पर्श, कामार्त अवस्था को प्रकट करने के लिये केशों का ऐंठना, प्रेम प्रकट करने के लिये हृदय का स्पर्श, अर्चन में (सम्मांन प्रकट करने में) सर का स्पर्श किया जाता है।

मध्यमावसरप्रश्ने तर्जनीपृष्ठयोजिता।
अवसरेऽञ्जलिर्ज्ञेय-आह्वाने कुञ्चिताञ्जलिः ॥२॥

२—अवसर के प्रश्न में तर्जनी की पीठ पर मध्यमा को रखकर संकेत किया जाता है; यही अवसर है यह कहने के लिये हाथ जोड़ कर अंजुली बांधी जाती है और बुलाने में उसी अंजुली को उल्टा कर दिया जाता है।

अङ्गुष्ठतर्जनीमध्याः पूर्वदक्षिणपश्चिमाः।
उत्तरानामिका चेति दिशो ज्ञेया अनुक्रमात्॥३॥

३—दिशाओं के संकेत क्रमशः इस प्रकार समझना चाहिये—पूर्व के लिये अंगूठा, दक्षिण के लिये तर्जनी, पश्चिम के लिये मध्यमा और उत्तर के लिये अनामिका का संकेत किया जाता है।

कनिष्ठामूलमारभ्य रेखाः पञ्चदशक्रमात्।
अङ्गुष्ठस्योर्ध्वरेखान्ताः स्मृताः प्रतिपदादिषु॥४॥

४—छोटी अंगुली के मूल से लेकर अंगूठे के ऊपर की रेखा तक १५ रेखायें होती हैं (जो गिनने के काम आती हैं।) परवा से लेकर क्रमशः इन्हीं रेखाओं से तिथि का संकेत किया जाता है।

शुक्ले वामकरे ज्ञेया ह्यसिते दक्षिणे करे।
यद्यत् स्पृशन्ति कामिन्यस्तस्यार्थं निपुणः स्मरेत्॥५॥

५—उक्त तिथियों का संकेत यदि वायें हाथ से किया जाय तो शुक्लपक्ष समझना चाहिये। यदि दाहिने हाथ से संकेत किया जाय तो कृष्णपक्ष समझना चाहिये। कामिनियां जिस जिस अंग स्पर्श करें उसको निपुण व्यक्ति याद रक्खे।

पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में अंग संकेत नामक
षष्ठ परिच्छेद समाप्त

सप्तमः परिच्छेदः

पोटलीसंकेतम्

स्नेहे सुगन्धिवस्तूनि पूगं खदिरसारकम्।
अतिस्नेहे च सूक्ष्मैला जातीफललवङ्गकम्।।१।।

पोटली संकेत

१—यदि प्रेम प्रकट करना हो तो सुगन्धित वस्तुयें सुपाड़ी, खैरसार पोटली में रखकर देना चाहिये। अति स्नेह में छोटी इलायची, जायफल और लौंग रखनी चाहिये।

स्नेहच्छेदे प्रवालं स्यात्तद्युगं चिरसङ्गतौ।
कामज्वरे कटुद्रव्यं, मृद्वीका सङ्गमाशये।।२।।

२—यदि स्नेह को तोड़ना हो तो एक पल्लव रखकर पोटली देनी चाहिये। यदि सर्वदा साथ निभाने की बात कहनी हो तो दो पत्ते रखने चाहिये। कड़ुई चीजों को रखने से काम ज्वर प्रकट होता है और समागम के अभिप्राय में मुनक्का रखना चाहिये।

देहार्पणे तु कार्पासं, जीरं जीवसमर्पणे।
भल्लातकफलं भीतौ, भयाभावे हरीतकी।।३।।

३—शरीर समर्पण के संकेत में कपास, जीवन समर्पम करने के संकेत में जीरा, भयभीत होने पर भिलावे का फल और भय के अभाव में हरड़ का संकेत किया जाता है।

सिक्थेन निर्मिता मुद्रा पञ्चाङ्गुलिनखाङ्किता।
वेष्टनं रक्तसूत्रेण पोटली परिकीर्तिता।।४।।

४—मोम के बने सिक्के पर (मोम की टिकिया को रूपये की शक्ल देकर) पांचों उंगलियों के चिह्न बना दे और उसे लाल सूत से घेर दे। उसे पोटली कहा जाता है।

मदनासङ्गतः सिक्थः संरागे रक्तवेष्टनम्।
पञ्चवाणक्षतत्वेन पञ्चाङ्गुलिनखक्षतम्।।५।।

५—उक्त पोटली में मोम का संकेत कामक्रीडा के प्रयोजन को प्रकट करता है; अनुराग प्रकट करने के लिये लाल डोरा लपेटा जाता है, पांचो अंगुलियों के नाखूनों के चिह्न पाँचो कामवाणों से घायल होने को प्रकट करते हैं।

पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में पोटली संकेत नामक
सप्तम परिच्छेद समाप्त

अष्टमः परिच्छेदः

वस्त्रसंङ्केत

स्मरेणोद्भिन्नदेहत्वे सच्छिद्रं वस्त्रमुत्तमम्।
संरागे रक्तरागे च रक्तं काषायपीतकम्॥१॥

वस्त्र संकेत

१—काम पीड़ा से शरीर के क्षत विक्षत हो जाने को प्रकट करने के लिये एक अच्छे वस्त्र में छेद कर उसे संकेत में देना चाहिये। प्रणयाग्नि में दग्ध अवस्था को प्रकट करने के लिये गेरुआ रंग में रंगा कपड़ा, अनुराग को प्रकट करने के लिये पीले रंग में रंगा कपड़ा भेजना चाहिये।

छिन्नवस्त्रं तु विच्छेदे सदशाग्रन्थि सङ्गमे।
एकं स्नेहे तथा चैवोभयस्नेहे तु तद्युगम्॥२॥

२—वियोग में फटा कपड़ा, संगम के संकेत में वस्त्र के छोर पर धागों में गांठ लगा कर भेजना चाहिये। एक ओर के प्रेम की सूचना के लिये एक वस्त्र और दोनों ओर के प्रेम की सूचना के लिये दो वस्त्र भेजे जाते हैं।

पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में वस्त्र संकेत नामक
अष्टम परिच्छेद समाप्त

नवमः परिच्छेदः

ताम्बूलसङ्केत

ताम्बूलबिटकाः पञ्च कीर्तिता नरपुङ्गवैः ।
कौशलाङ्कुशकन्दर्पपर्यङ्कचतुस्त्रकाः ॥१ ॥

ताम्बूलसंकेत

१—श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा पान के ५ प्रकार के बीडे बतलाये गये हैं—कौशल, अंकुश, कन्दर्प, पर्यङ्क और चतुरस्त्रक।

(लेखक ने इनकी परिभाषा नहीं दी है अतः सम्भावना मूलक अर्थ लगाना चाहिये।)

कौशलः स्नेहबाहुल्ये चाहृतावङ्कुशस्तथा ।
मदनार्तौ च कन्दर्पः पर्यङ्कः सङ्गमाशये ॥२ ॥

२—स्नेह की अधिकता प्रकट करने के लिये कौशल बीड़े का प्रयोग करना चाहिये। (सम्भवतः इसका अर्थ है निपुणता पूर्वक लगाया गया पान।) बुलाने के संकेत में अंकुश (के आकार का) काम जन्य पीड़ा में कन्दर्प (तिकोना) और संगम की इच्छा में पर्यंक चारपाई के आकार का पान भेजना चाहिये।

चतुरस्त्राभिधानो यो बीटोऽनवसरे सदा ।
अपूगपर्णमप्रीतौ स्नेह एलादिसंयुक्तम् ॥३ ॥

३—अवसर नहीं है यह कहने केलिये चतुरस्त्र (चौकोर) बीड़ा भेजना चाहिये, प्रेम नहीं है यह कहने के लिये बिना सुपाड़ी का पान, प्रेम है यह बतलाने के लिये इलायची इत्यादि डाल कर पान भेजना चाहिये।

पृष्ठसंश्लेषपर्णं च विच्छेदे कृष्णवेष्टनम् ।
मुखसंलग्नपर्णं चाविच्छेदे रक्तवेष्टनम् ॥४ ॥

४—वियोग को प्रकट करने के लिये पीठ पर (उल्टा) लगा पान देना चाहिये जिसमें काला डोरा बंधा हो; संयोग के संकेत में दो पानों के मुखों को जोड़ कर लाल सूत लपेटना चाहिये।

मध्ये विदारितं पर्णं त्यजने कृष्णवेष्टनम्।
संरक्तपटसूत्रेण स्यूतं प्राणान्तसङ्गमे ।।५ ।।

५—परित्याग के संकेत में पान को बीच में फाड़ कर काला डोरा लपेटना चाहिये जीवन पर्यन्त साथ निभाने के संकेत में लाल कपड़े के धागों से लपेटना चाहिये।

निर्भिन्नयोजितं पूगं मध्ये कुङ्कुमपूरितम्।
बाह्ये चन्दनपङ्काक्तमत्यर्थमनुरागतः ।।६ ।।

६—बहुत अधिक प्रेम प्रकट करने के लिये सुपाड़ी के टुकड़े कर और उन टुकड़ों को जोड़कर, बीच में केसर से भरकर और बाहर चन्दन का लेप लगाकर देना चाहिये।

पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में ताम्बूल संकेतक नामक
नवम परिच्छेद समाप्त

दशमः परिच्छेदः

पुष्पमाला सङ्केतम्

संरागारक्तिरागेषु रक्तकाषायपिञ्जरैः ।
सूत्रैरस्नेहके कृष्णैः पुष्पमाला प्रगुम्फिता ॥१ ॥

पुष्पमाला संकेत

१—पुष्ट हुये अनुराग में पुष्पमाला लाल डोरे में पिरोकर भेजनी चाहिये, विराग में गेरुआ रंग के डोरे में और सामान्य प्रेम में सुनहले तथा रंग विरंगे डोरे में तथा प्रेम विल्कुल नहीं है यह प्रकट करने के लिए काले डोरे में भली भांति गूंथ कर भेजनी चाहिये।

भिक्षु पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में
पुष्पमाला संकेत नामक
दसवाँ परिच्छेद समाप्त

एकादशः परिच्छेदः

यदपि न सुलभेह सा मृगाक्षी सकलकलाकलनासु पण्डिता या।
तदपि निरवशेषकामशास्त्राभिहितपदेषु मतिं विवर्द्धयेत् सा ।।१ ।।

१—यद्यपि ऐसी मृगनयनी का मिलना सरल नहीं है जो सभी कलाओं के आकलन में पण्डित हो फिर भी स्त्री पुरुष दोनों को चाहिये कि कामशास्त्र के बतलाये हुए सम्पूर्ण पदों (शब्दों तथा विवेचनों) पर ध्यान दे।

(कामशास्त्र में ६४ कलाओं का विस्तार से विचार किया गया है। न तो किसी स्त्री के लिये यह सम्भव है कि सभी कलाओं को समझ ले और न पुरुष को ऐसी स्त्री प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिये। फिर भी दोनों को शास्त्र पर विचार करना ही चाहिये।)

कथमपि यदि संगमस्तया स्याद् व्रजति तदाहि पराभवं वराकः।
अविदितयुवतीकृतैकसङ्केतक इति रत्नकुमारको यथैव ।।२ ।।

२—यदि जैसे तैसे इस प्रकार की सुन्दरी से संगम हो ही जाय तो वेचारा पुरुष पराजय और अपमान को उसी प्रकार प्राप्त हो जाता है जैसे रत्नकुमार को युवती द्वारा किये गये संकेतों को न समझने के कारण अपमानित होना पड़ा।

(रत्नकुमार ने सुन्दरी के संकेतों को नहीं समझ पाया, अतः सुन्दरी ने उसे मूर्ख समझकर निकाल बाहर किया।)

रत्नकुमार के व्यक्तित्व का कोई पता नहीं। सम्भवतः प्रस्तुत ग्रन्थ के रचनाकाल में प्रसिद्ध कथाओं (सम्भवतः लोक कथाओं) में यह कोई काल्पनिक व्यक्ति रहा होगा जिसने अपनी प्रेमिका से प्रेम तो खूब बढ़ाया किन्तु उसके संकेतों को समझने में बेवकूफी कर जाता था। इसीलिये प्रेमिका ने उसे मूर्ख समझ कर घर से निकाल दिया।

वास्तव में स्त्रियाँ निपुण व्यक्ति को महत्त्व देती हैं। ऐसा मूर्ख व्यक्ति जो साधारण इशारों को भी न समझ सके स्त्रियों के प्रेम का विषय नहीं बन सकता। दुनियाँ उसकी बेवकूफी का मजाक उड़ाती और उसमें आनन्द लेती है और वह स्वयं अपनी प्रेमिका के तिरस्कार का पात्र बन जाता है। कविवर प्रसाद जी ने भी अपनी बीती का उल्लेख किया है। प्रसाद जी प्रेमिका पर पूरे हृदय से रीझ गये थे। उस पर भी प्रसाद के प्रेम का प्रभाव पड़ा था। वह प्रसाद के घर में खेलने आती थी और इशारों में अपनी बात कहती थी। पर प्रसाद जी समझ नहीं पाते थे। उन्होंने इस विषय में अपनी पराजय स्वीकार की है—

स्निग्ध संकेतों में सुकुमार, बिछल, चल थल जाता तब हार।
छिड़कता अपना गीलापन, उसी रस में तिरता जीवन॥ लहर॥

प्रसाद जी को भी परित्यक्त होने का दुर्भाग्य सहना पड़ा। यद्यपि वह परित्याग संकेत न समझने के कारण नहीं था।

सामान्यत: संकेत वे ही कारगर होते हैं जिन्हें दोनों व्यक्ति मिलकर एकान्त में तय कर लें और उन्हें गोप्य रक्खा जाय। जो संकेत प्रकट हो जाते हैं उनके द्वारा कही हुई बात छिपी नहीं रह सकती। फिर भी यदि पहले से निश्चय नहीं किया गया तो भी कुछ तो समझ में आ ही जाता है। जो व्यक्ति कुछ नहीं समझता उसे स्त्रियाँ मूर्ख समझती हैं जो कहीं भी गलती कर सकता है। संकेतों को न समझने से स्त्रियाँ स्वयं को तिरस्कृत समझने लगती हैं। अत: परित्याग एकमात्र उपाय रह जाता है।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में सर्वसंकेत नामक
ग्यारहवाँ परिच्छेद समाप्त

द्वादशः परिच्छेदः

मृदुह्रस्वध्वजो यत्र प्रियोऽशक्तो द्रुतच्युतिः।
तत्र स्त्रियश्च काठिन्यात् स तु नीचरतोद्भवः ॥१ ॥

१—जहां प्रिय अशक्त हो, उसका लिङ्ग मुलायम और छोटा हो और शीघ्र स्खलित हो जाता हो और वहां स्त्री की योनि कठिन (कसी हुई) हो वह सहवास नीच रत का उद्भव कहा जाता है।

नीच रत का आशय यह है कि जहाँ स्त्री पुरुषों के गुप्ताङ्गों के परिमाण मेल न खाते हों। स्त्री के संवाध की गहराई अधिक हो और पूरुष का साधन तुलना में छोटा पड़ता हो। उस दशा में स्त्री जो आकाङ्क्षा करती है उसकी पूर्ति नहीं हो पाती और उसकी प्रतिक्रिया भयानक होती है। पद्मश्री के अनुसार वह प्रतिक्रिया कभी कभी स्वामी के विनाश तक पहुंच जाती है। आजकल भी ऐसी घटनाओं की सत्ता पाई जाती है जहाँ स्त्रियाँ अपने पति को छोड़कर दूसरे की अंक शायिनी बन जाती हैं और कभी कभी तो पति को मार भी डालती हैं।

नारी नीचरतोद्विग्ना स्वामिनं नाशयत्यपि।
श्रूयते चैव कर्णाटे कान्तया निहतः पतिः ॥२ ॥

२—नीच रत से उद्विग्न स्त्री स्वामी का नाश भी कर देती है। सुना जाता है कर्णाटक में एक स्त्री ने पति का वध कर दिया था।

मृदुसाधनतादीनां शमनाय ततोऽधुना।
सिद्धप्रयोगसन्दोहान् कथयामि समासतः ॥३ ॥

३—इसलिये छोटे लिंग इत्यादि (दोषों) को शान्त करने के लिये सिद्ध प्रयोगों के समूह को अब हम संक्षेप में कह रहे हैं।

लिङ्गदृढीकरण

नवमर्कटिकामूलं छागमूत्रेण पेषयेत्।
लेपान्निरन्तरं तस्य लिङ्गं लोहोपमं भवेत् ॥४ ॥

४—कौंच की नवीन जड़ को बकरे की पेशाव से पीस कर प्रतिदिन उस का लेप करने से लिंग लोहे के समान दृढ़ हो जाता है।

अश्वगन्धा वचा कुष्ठं बला नागबला तथा।
माहिषं नवनीतं च गजपिप्पलिकायुतम् ।।५ ।।

५—असगन्ध, वच, कूठ, वला, नागवला और गज पीपल इनके चूर्ण को भैंस के मक्खन में मिलाकर मलना चाहिये।

पिष्ट्वा तेषां विलेपेन स्थूलीकरणमुत्तमम्।
कुर्यादादौ यदिस्वेदं मर्दनं च प्रयत्नतः ।।६ ।।

६–उक्त योग को पीस कर लेप करने से यह उत्तम स्थूलीकरण है। लगाने से पहले प्रयत्नपूर्वक लिंग में पसीना निकालना और उसे रगड़ना चाहिये। (गरम पानी की भाप देने से पसीना आ जाता है।)

बलीकरणम्

नागवलाद्वयमूलं गोक्षुरकं तथाश्वगन्धा च।
गोदुग्धेन पिबेत्स हि नारीषु दुर्जयो भवति ।।७ ।।

७—खरैंटी और नागवला की जड़ गोखरू, असगन्ध इसके चूर्ण को गाय के दूध के साथ पीने से स्त्रियों में दुर्जय हो जाता है।

शुक्रस्तम्भन

एककरञ्जोदरकृतसधवलशरपुङ्खपारदो नियतम्।
धारयति बीजवेगं पुंसां वदनार्पितो यावत् ।।८ ।।

८—करंज के एक बीज के अन्दर सफेद सरफोंका पारे को रखकर संभोग के समय में मुख में रख लेने से जब तक वह उसके मुख में रक्खा रहेगा तब तक निश्चित रूप से वीर्य स्खलन नहीं होगा।

योनिद्रावणम्

पारदटङ्कणव्योषकाकमाचीमधुलिप्तं यत्।
नारी स्यन्दति सुचिरं बहुच्छिद्रमिव कलशम् ।।९ ।।

योनिद्रावण

९—पारा, चौकिया सोहागा, कालीमिर्च, पीपल, सोंठ और काकमाची इस नुस्खे को शहद में मिलाकर लिङ्ग पर लेप करके सहवास करने से स्त्री उसी प्रकार धीरे धीरे शीघ्र स्खलित हो जाती है जिस प्रकार अनेक छेदों वाले कलश से जल शीघ्र टपक जाता है।

वशीकरणम्

अलिपक्षं काकजिह्वा स्वकर्णमलमश्रु बीजरक्तं च।
नयति वशं यां वाञ्छति सुतरामशने विलेपे च॥१०॥

१०—भौंरे का पंख, कौये की जीभ अपने कान का मैल, आंसू, वीर्य और रक्त इनको खिलाने और लेप लगाने के द्वारा जिस स्त्री को वश में करना चाहे वह वशवर्तिनी बन जाती है।

१२वें परिच्छेद के १०वें पद्य से परिच्छेद की समाप्ति (१५वें पद्य तक जो नुश्खे दिये हुये हैं उनमें अधिकंश घृणित वस्तुओं का उपादान किया गया है जो वास्तव में अनुपादेय दिखलाई देता है। इस विषय में तत्कालीन तन्त्र विद्या का प्रभाव दिखलाई देता है। तान्त्रिक लोग इस प्रकार की घृणित वस्तुओं का अपनी साधना में अभी कुछ समय पहले तक प्रयोग करते रहे और अब भी जहाँ तहाँ इस प्रकार के साधक मिल जाते हैं।

गोरोचना शूकरशोणितेन विभाविताऽनेकदिनं प्रयत्नात्।
स्याद्यन्मुखे तत्तिलकं प्रशस्तं सर्वे जनास्तस्य वशे भवन्ति॥११॥

११—सुगर के खून में गोरोचना की कई दिन तक प्रयत्न के साथ भावना देकर जो व्यक्ति उसका तिलक लगा ले उसके वश में सभी लोग हो जाते हैं।

गोरोचना प्रियंगुमनःशिला नागपुष्पचूर्णं च।
अञ्जयेच्चक्षुरमीभिर्यस्तस्य वशत्वमेति जनः॥१२॥

१२—गोरोचना, प्रियंगु, मैनसिल, नागपुष्पीका चूर्ण इनसे जो व्यक्ति आंखो में अञ्जन लगा लेता है सभी लोग उसके वश में हो जाते हैं।

सम्भोगजं बीजरजो वरांगे तल्लिप्तसंशुष्कसितार्कवर्तिः।
तदञ्जनेनाञ्जितलोचनायाः सदैव दासत्वमुपैति कान्तः॥१३॥

१३—योनि से सम्भोग के बाद जो वीर्य और रज निकलता है उसमें सफेद अकौड़े के रेशों को लिप्त कर उसकी बत्ती बनाकर उसके अंजन को जो अपनी आंखों में अञ्जित कर लेती है उसका प्रियतम सर्वदा के लिये उसका दास बन जाता है।

सुवर्णबीजं सुतजारयुक्तं तत्पूर्णगर्भं कलविङ्कदेहम्।
तं गोपयेद्भूतदिने श्मशाने समुद्धरेद्भूत दिनेऽपरस्मिन्॥१४॥

१४—पारे और धतूरे के बीज को काली गौरैया के पेट में भर कर उसे चतुर्दशी तिथि में श्मशान में गुप्त रूप से गाड़ आये, फिर उसको दूसरी चतुर्दशी के ही दिन निकाल लाये।

चूर्णं यदेषां निजबीजयुक्तमचिन्त्यमाश्चर्यमहाप्रभावम्।
यस्योदरान्तः पतितं प्रदत्तं नूनं स दासत्वमुपैति दातुः ॥१५॥

१५—उसके चूर्ण को अपने वीर्य में मिलाकर जिसको खिला दे या पेट पर लगा दे वह उस प्रयोग को करने वाले के वश में अवश्य आ जाता है। यह चमत्करिक प्रयोग है। इससे जो सफलता मिलती है वह कल्पना शक्ति के बाहर है।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में औषध प्रयोग नामक
बारहवाँ परिच्छेद समाप्त

त्रयोदशः परिच्छेदः

शुद्धोऽशुद्धश्च सङ्कीर्ण स्त्रिधा भावः प्रकीर्तितः।
शुद्धोऽपि त्रिविधो मन्दस्तीक्ष्णस्तीक्षणतरस्तथा ॥१॥

१—भाव तीन प्रकार का कहा जाता है—शुद्ध, अशुद्ध और संकीर्ण। शुद्ध भी तीन प्रकार का होता है—मन्द, तीक्ष्ण और तीक्ष्णतर।

पद्मश्री ने यहाँ पर भाव के ३ भेद किये हैं—शुद्ध, अशुद्ध और संकीर्ण। किन्तु उनकी परिभाषा नहीं दी है। सम्भवतः इस विभाजन का आशय यही है कि जब भाव उचित रस के क्षेत्र में आता है तब शुद्ध भाव होता है; जब रसाभास के क्षेत्र में आता है तब अशुद्ध होता है और जब आंशिक रूप में शुद्ध होता है तब संकीर्ण कहा जाता है। आचार्य ने शुद्ध भाव के तीन भेद किये हैं—मन्द, तीक्ष्ण और तीक्षणतर। भरत का विभाजन इससे भिन्न है। भरत के अनुसार भाव का उदय सत्त्व (निर्विकार चित्त) से होता है। बचपन में चित्त निर्विकार होता है; उसका प्रथम विकार भाव कहलाता है; जब विकार की प्रतीति कुछ अधिक मात्रा में होती है तब उसे हाव कहा जाता है और जब विकार अत्यन्त बढ़ी चढ़ी सीमा में पहुंच जाता है तब उसे हेला कहा जाता है। भरत के अनुसार ये तीनों आंगिक तत्त्व हैं या सामान्यतः अङ्गज भाव कहे जाते हैं। पद्मश्री ने इन्हें भाव, हाव और हेला नाम न देकर मन्द, तीक्ष्ण और तीक्ष्णतर भाव कहा है। दोनों मान्यताओं का आशय एक ही है। इस विषय अधिकांश आचार्यों ने भरत का अनुसरण किया है। पद्मश्री ने इस १३वें परिच्छेद के दूसरे पद्य में तीनों का अन्तर बतलाया है। जब हृदय पर रतिभाव का मन्द प्रभाव पड़ता है तब केवल चेहरे पर मुस्कुराहट आ जाती है। जब वह भाव अधिकता प्राप्त करता है तब उसके प्रभाव से रोंगटे भी खड़े होने लगते हैं; जब वह प्रभाव अत्यधिक बढ़ जाता है तब गहरी श्वासें चलने लगती हैं और शरीर दुबला होता चला जाता है।

ईषत्प्रहसितो मन्दस्तीक्ष्णस्तु पुलकादयः।
तीक्ष्णतरस्तु निःश्वासशोषितावयोऽत्र यः ॥२॥

२—जिसमें थोड़ी सी मुस्कुराहट आ जाय वह भाव मन्द होता है। यदि रोमाञ्च हो जाय तो वह तीक्ष्ण भाव होता है। तीक्ष्ण तर तो वह होता है जिसमें गहरी श्वासें चलें शरीरावयव दुबले होते जायें।

हेलाविच्छितिविव्वोककिलकिञ्चितविभ्रमाः।
लीलाविलासो हावश्च विक्षेपो विकृतं मदः ॥३॥

मोट्टायितं कुट्टमितं मौग्ध्यं च तपनं तथा।
ललितं चेत्यमी हावा श्चेष्टाः शृङ्गारभावजाः ॥४॥

३-४—शृङ्गार भाव से ये चेष्टायें उत्पन्न होती हैं—हेला, विच्छिति, विव्वोक, किलकिञ्चित, विभ्रम, लीला, विलास, हाव, विक्षेप, विकृत, मद, मोट्टायित, कुट्टमित, मौग्ध्य, तपन और ललित।

भरत ने नायिकाओं के सात्त्विक अलंकारों की संख्या २० मानी थी। ३ अंगज अलंकार ७ अयत्नज अलंकार और १० यत्नज अलंकार। इस मान्यता में पद्मश्री ने संशोधन कर ३ अंगज अलंकारों का भाव में ही समावेश कर दिया। ७ अयत्नज अलंकारों को स्वीकार नहीं किया। सम्भवतः इसका कारण यह था कि भाव के ही विभिन्न प्रभावों में उनका समावेश हो जाता है—भाव का उदय होने के साथ बिना किसी प्रयत्न के शोभा, माधुर्य, कान्ति इत्यादि का स्वतः आविर्भाव हो जाता है। उन्हें उनको पृथक मानने की आवश्यकता नहीं दिखलाई दी। शेष १० यत्नज अलंकारों को स्वीकार किया; साथ ही उनमें हाव और हेला इन दो अंगज अलंकारों को जोड़ दिया। इसके अतिरिक्त चार अलंकार और सम्मिलित किये—विक्षेप, मद, मौग्ध्य और तपन। इस प्रकार पद्म श्री के मत में भावनामक एक सहज अलंकार के अतिरिक्त (१० + २ + ४) १६ अलंकार बन गये। आगे चलकर विश्वनाथ ने यत्नज अलंकारों की संख्या १८ कर दी—पद्मश्री के माने हुये १६ अलंकारों में—कुतूहल, हसित चकित और केलि, ये चार अलंकार और शामिल कर दिये। इस प्रकार विश्वनाथ ने अलंकारों की संख्या २८ कर दी। भरत द्वारा मान्यता प्राप्त २० अलंकारों (३ अंगज + ७ अयत्न + १० यत्नज) में पद्मश्री के ४ अलंकारों (विक्षेप, मद, मौग्ध्य और तपन) के अतिरिक्त कुतूहल, हसित, चकित और केलि जोड़ कर (३ + ७ + १० + ४ + ४) २८ संख्या विश्वनाथ के मत में हो गई।

प्रौढेच्छा याऽभिरूढानां नारीणां सुरतोत्सवे।
शृङ्गारशास्त्रतत्वज्ञै र्हेला सा परिकीर्तिता ॥५॥

५—शृङ्गार शास्त्र के मर्मज्ञो ने हेला की यह परिभाषा की है कि बढे चढे यौवन वाली नारियों की सुरतोत्सव के लिये जो प्रौढ़ इच्छा होती है उसे हेला कहा जाता है।

तद्यथा

आसज्य स्वयमेव चुम्बनविधिं, याञ्चां विनाऽलिङ्गनं,
तल्पान्ते जघनेन वेपथुमता पर्यायणं जानुनि।
क्रोधोत्कम्पममर्षयत्यनुनय स्तन्व्याः स्मरक्रीडया,
प्रौढेच्छाभिरतिः प्रियस्य हृदयं हेलाबलात्कर्षति ॥६॥

उदाहरण :

६—अपने आप ही चुम्बन विधि की तैयारी करके बिना मांगे जो आलिंगन करती है, चारपाई के मध्य कांपती हुई जांघ से जो घुटनों पर चढ़ जाय, क्रोध और कम्पन को सहन न करे, तन्वङ्गी का काम क्रीडा के द्वारा यह अनुनय होता है। इस प्रकार प्रौढ इच्छा से भरी हुई सुन्दरी हेला के बल से प्रियतम के हृदय को अपनी ओर खींच लेती है।

पद्मश्री ने हेला का जो उदाहरण दिया है उसमें सम्भोग क्रिया के मध्य नायिका द्वारा बढ़-चढ़ कर भाग लेने की बात कही गई है जो प्रस्तुत आचार्य द्वारा हेला को यत्नज अलंकारों में शामिल करने के अनुकूल पड़ता है। भरत का लक्षण नायिका की प्रौढ इच्छा तक सीमित है जिसमें नायिका रति के लिये इतनी उतावली है कि उसे एक क्षण के लिये भी चैन नहीं पड़ता। प्रियतम को मिलने की उसकी तीव्र इच्छा को सखी सहेलियाँ भी लक्षित कर लेती हैं। स्पष्ट ही है कि यह स्थिति सम्भोग कालीन क्रियाशीलता के अनुकूल नहीं पड़ती। जब नायिका संभोग निरत ही है तब तीव्र इच्छा का प्रश्न ही कहाँ उठता है। भरत के अनुसार इसका ठीक उदाहरण विहारी का निम्नलिखित दोहा होगा—

चलतु घैर घर घर तऊ घरी न घर ठहराइ।
समुझि उही घर को चलै भूलि उही घर जाइ॥

घर घर बदनामी हो रही है फिर भी एक क्षण के लिये भी उससे घर में रहा नहीं जाता। जान कर या अनजान में बार-बार वहीं पहुंचती है जहाँ नायक रहता है।

प्रसाधनानां दयितापराधाद्यदीर्ष्ययानादरतः सखीनाम्।
प्रयत्नतो वारणमङ्गनाया विच्छित्तिरेषा कथिता बहुज्ञैः ॥७॥

७—प्रियतम के अपराध के कारण कुपित होकर नायिका सखियों का अनादर करते हुये, प्रयत्न पूर्वक आभूषणों को धारण करने से इन्कार कर दे तो यह चेष्टा बहुत लोगों द्वारा विच्छित्ति कही गई है।

पद्मश्री ने विच्छित्ति की जो परिभाषा और उदाहरण दिये हैं वे भरत की मान्यता से मेल नहीं खाते। पद्मश्री प्रियतम के अपराध में नाराज होकर आभूषण त्याग को विच्छित्ति कहते हैं जबकि भरत थोड़े से ही शृङ्गार से अधिक कान्ति के बढ़ जाने को विच्छित्ति मानते हैं। भरत की परिभाषा के अनुसार कालिदास का निम्नलिखित पद्य उसका उदाहरण होगा—

सरसिजयनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कले नापितन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

तद्यथा:

सखि, प्रेयान् स्वामी स्खलितमकरोत्, क्षन्तुमुचितं,
विधत्स्वालंकारं नहि नहि बलादर्पयसि किम्।
अयि! श्रेयश्चिन्त्यं सततमबलाभिः प्रणयिनो,
विभूषां मा मुञ्च प्रतनुमपि विच्छित्तिविषयाम्॥८॥

उदाहरण :

८—सखियां—हे सखी! प्रियतम तुम्हारा प्यारा स्वामी है, उससे उपराध हो गया है उसको क्षमा कर देना ही उचित है। आभूषण धारण कर लो। नायिका—मैं नहीं नहीं पहनूंगी। तुम जबरदस्ती मुझे ये आभूषण क्यों दे रही हो? सखियां—अरे आवलाओं द्वारा निरन्तर प्रेम करने वाले के कल्याण की चिन्ता करनी चाहिये। इन विच्छित्ति (शृङ्गार) विषयक आभूषणों को थोड़े रूप में भी मत छोड़ो।

अभिमतवस्तूपहृतावपि गुरुदर्पादनादरस्तन्व्याः।
स्खलितप्रियस्य संयमताडनमभिधायि विव्वोकम्॥९॥

विव्वोक

९—चाही हुई अभीष्ट वस्तु के लाने पर भी तन्वी अत्यन्त अभिमान से उसका अपमान कर दे, प्रिय के अपराध में प्रियतम को बांधना और पीटना यह विव्वोक कहा जाता है।

भरत द्वारा दी गई परिभाषा प्रस्तुत परिभाषा से भिन्न है। प्रस्तुत परिभाषा में बतलाया गया है कि प्रिय के अपराध करने पर उसकी लाई हुई अभीष्ट भेटों को त्याग देना और प्रिय को बाँधना पीटना इत्यादि विब्बोक कहलाता है। किन्तु भरत के अनुसार सौन्दर्य के अभिमान में इष्टवस्तु की भी उपेक्षा करना विव्वोक कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार उदाहरण यह होगा—

यासां सत्यपि सद्गुणानुसरणे दोषानुवृन्तिः परा।
याः प्राणान् वरमर्पयन्ति न पुनः सम्पूर्ण दृष्टिं प्रिये।
अत्यन्ताभिमते पि वस्तुनि विधिर्यासां निषेधात्मक-
स्तास्त्रैलोक्य विलक्षण प्रकृतयो वामाः प्रसीदन्तु ते॥भर्तृहरि

(स्त्रियों की प्रकृति तीनों लोकों से विलक्षण होती है। वे अनुसरण तो अच्छे गुणों का करती है किन्तु दोषों का वखान भरपूर करती हैं। भलीभाँति प्राणपण से समर्पित हो जाना उन्हें अच्छा लगता है; किन्तु उस प्रियतम को सम्पूर्ण दृष्टि से देखती भी नहीं हैं। जो वस्तु उन्हें अत्यन्त प्यारी एवं अभीष्ट होती हैं उस वस्तु से इन्कार करना उनके स्वभाव में शामिल होता है।)

तद्यथा

अनास्था वस्तूनामभिमतगुणनामपहृतो,
घनो गर्वस्तन्व्या रुषि विहसिताडम्बरविधिः ।
प्रहारः पादाभ्यां यमनमपि कांच्याश्चरणयोः,
प्रियाया विव्वोकं तदिदमतिधन्योऽनुभवति ॥१० ॥

उदाहरण :

१०—ऐसी वस्तुओं पर अविश्वास जिनमें अपने अभीष्ट गुण विद्यमान हों उन्हें दूर हटा देना, कृशाङ्गी द्वारा क्रोध में बढा चढा अभिमान, आडम्बर विधि की मजाक उड़ाना, दोनों पैरों से प्रहार करना और दोनों चरणों को तगड़ी से वांधना प्रिया के इन विव्वोकों के अनुभव का सौभाग्य अत्यन्त धन्य व्यक्ति को ही प्राप्त होता है।

स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमाभिलाषाणाम् ।
साङ्कर्यं प्रियदर्शनहर्षात् किलकिञ्चितं प्राहुः ॥११ ॥

किलकिञ्चित

११—मुस्कुराहट, शुष्क रोदन, हंसी, त्रास, क्रोध, श्रम, अभिलाषा इनका सांकर्य यदि प्रियदर्शन जन्यहर्ष से प्राप्त हो तो उसे किलकिञ्चित कहा जाता है।

तद्यथाः

क्रन्दत्यवाष्पमभये भयमातनोति,
क्रोधं च नाटयति, तत्क्षणमेव हास्यम् ।
आलम्ब्य हर्षमबला किलकिञ्चिताख्यं,
हावं विभावयति पुण्यवतोऽन्तिकस्था ॥१२ ॥

उदाहरण :

१२—रो रही है किन्तु आंसू नहीं आते, भय का कोई अवसर नहीं किन्तु भय का पूरा विस्तार किया जा रहा है; क्रोध का अभिनय करती है किन्तु क्षण भर में ही हंसने लगती है; अवला किलकिञ्चित नामक हर्ष को ग्रहण कर प्रियतम के निकट स्थित होकर हाव की चेष्टायें कर रही है। वास्तव में उसके प्रियतम ने पुण्य किये हैं जो उसे उन हावों का आनन्द लेने का अवसर प्राप्त हुआ।

किलकिञ्चित का एक अन्य उदाहरण—

पाणिरोधमीविरोधित वाञ्छं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः ।
कामिनः स्म कुरुते करभोरूर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि ॥

(जब प्रियतम हाथ बढ़ाता है तब सुन्दरी उसका हाथ रोक देती है किन्तु इस बात का ध्यान रखती है कि रोक देने से प्रिय की इच्छा कहीं शिथिल न हो जाय; डाटने फटकारने नाराज होने लगती है किन्तु इस बात का ध्यान रखती है कि प्रियतम निराश न हो जाय इसलिये डाटने के साथ उसके चेहरे पर मुस्कुराहट बनी रहती है; उसे प्रियतम का हाथ बढ़ाने से सुख तो बहुत मिलता है किन्तु वे रोने का अभिनय करती हैं जिसमें इस बात का ध्यान रखती हैं कि आंसू न निकलने पाये और वह रोना ऐसा हो कि प्रिय उस पर रीझ जाय।)

बिहारी के कतिपय दोहे इसके अच्छा उदाहरण हैं; जैसे—

सुनि पगधुनि चितई इतै ह्वाति दिये ही पीठि।
चकी झुकी सकुची डरी हंसी लजी सी दीठि॥

नायिका पीठ दिये हुए स्नान कर रही थी कि इतने में प्रियतम आ गया। पैरों की आहट सुनकर उसने घूम कर देखा। उस समय उसकी दृष्टि चकित थी, झुकी थी, सकुच गई, डर गई आँखों में तथा चेहरे पर मुस्कुराहट आ गई और उस दृष्टि में लज्जा भरी हुई थी।

क्रोधः स्मितं च, कुसुमाभरणादियाञ्चा, तद्वर्जनं च सहसैव विमण्डनं च।
आक्षिप्य कान्तवचनं लपनं सखीभिर्निष्कारणोत्थितगतं वत विभ्रमं तत्॥१३॥

विभ्रम

१३—क्रोध, मुस्कुराहट, कुसुमों के आभरण इत्यादि की याचना फिर सहसा उनको मना कर देना, फिर आभूषणों को उतार देना, या धारण कर लेना प्रियतम के वचनों की उपेक्षा कर सखी से बात करने लगना, वेमतलब उठकर चल देना यह सब विभ्रम कहलाता है।

आस्तां नाथ! शुभं भवे, सखि! त्वया सिक्ता लता माधवी,
कान्तं तन्मम संप्रयच्छ कुसुमं किं वाऽमुना मे फलम्।
माल्यं निर्मलयामि, मौक्तिकमिदं न्यस्तं त्वया दह्यता
मित्थं विभ्रमसंभ्रमो मदयति प्रेयांसमेणीदृशः॥१४॥

उदाहरणः

१४—हे स्वामी! रहने दो संसार में तुम्हारा कल्याण हो, हे सखी क्या तुमने माधवी लता सींच दी है? वह प्यारा फूल मुझे दे दो, लेकिन इसको लेकर मुझे क्या फल मिलेगा? मैं माला साफ कर रही हूं; तुमने जो मोती पहिराया था उसे जला दो इस प्रकार मृगनयनी का विलास और संभ्रम प्रियतम को मस्त कर देता है।

विभ्रम—नाट्यशास्त्र में इसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है—वाचिक, आंगिक, आहार्य या सत्त्वज योगों में मद, राग या हर्ष से जो उलटफेर हो जाता है उसे विभ्रम की संज्ञा दी जाती है। पद्मश्री द्वारा दिया हुआ उदाहरण भरत की परिभाषा में मेल नहीं खाता।

इसके क्षेत्र में ऐसे विषय आते हैं—जो कुछ कहना है उसके स्थान पर कुछ और कह दिया जाय, जो वस्तु हाथ से लेनी है उसे पैर से ग्रहण किया जाय, तगड़ी गले में पहनी जाय इत्यादि। यह उलटफेर या तो शराब के नशे से होता है, या प्रेम के आवेश में या हर्षा-तिरेक से यह परिवर्तन उपस्थित होता है—उदाहरण—

अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती,
संल्लापसंवलितलोचनमानसाभिः।
अग्राहि भूषणविधि र्विपरीतभूषा,
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः॥

(स्त्रियाँ मिलन की तैयारी कर रही थीं; स्त्रियों का मन और नेत्र दोनों प्रियतम की सलीके वाली दूती से बातचीत में लगी थीं; इतने में ही चन्द्रमा का उदय हो गया; शृङ्गार में लगी स्त्रियाँ ऐसी घबरा गई कि सारे आभूषण ऊट पटांग पहिन लिये जिन्हें देखकर सखियाँ हँस रही थीं।) दूसरा उदाहरण—

श्रुत्वायान्तं वहिः कान्तमसमाप्तविभूषया।
भालेञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कतः॥

(अभी नायिका आभूषण पहिरने का काम पूरा नहीं कर सकी थी कि उसने सुना कि बाहर प्रियतम आ गया है। तब घबराहट के कारण उसने मस्तक के अंजन, नेत्रों में महावर और कपोलों पर तिलक लगा लिया।)

यह उक्त उदाहरण का ही सरलीकृत अनुवाद है।

अप्राप्तबल्लभसमागमनायिकायाः सख्याः पुरोऽत्र निजचित्तविनोदबुद्ध्या।
आलापवेषगतिहास्यविलोकनाद्यैः प्राणेश्वरानुकृतिमाकथयन्ति लीलाम्॥१५॥

लीला

१५—जिस नायिका का अभी तक प्रियतम के साथ समागम नहीं हुआ है वह यहाँ अपने चित्त को आनन्द देने के विचार से सखियों के सामने प्राणेश्वर की बातचीत, वेष चाल, हास्य और अवलोकन इन सबका अनुकरण करे उसे विद्वान लोग लीला कहते हैं।

वेणीबन्धकपर्दिनी, सिततनुः श्रीखण्डपांसूत्करैः,
केतक्यैकदलेन्दुभृद्बिसलताव्यालोपवीतिन्यपि।
प्राक् पाणिग्रहणाद्विनोदरभसात् सख्याः पुरो लीलया,
कुर्वाणानुकृतिं हरस्य दिशतु श्रेयांसि वः पार्वती॥१६॥

उदाहरण :

१६—पार्वती ने वेणी ऐसी बांध ली है जैसे शङ्करजी का कपर्द (जटाजूट) हो, चन्दन की धूल को मलकर शङ्कर जी के समान सफेद शरीर बना लिया है, केतकी के एक दल से चन्द्रमा

को धारण कर लेने की पूर्ति की है और कमल तन्तुओं की लता से सर्पों के यज्ञोपवीत धारण करने की पूर्ति की है। इस प्रकार विवाह से पहले विनोद की उत्तेजना में सखियों के सामने लीला करती हुई शङ्कर जी का अनुकरण कर रही हैं। वे पार्वती आप लोगों का कल्याण करे।

'लीला' की परिभाषा और उदाहरण एतद्विषयक सामान्य परम्परा के मेल में ही है। बाद में आचार्य ने पद्मश्री के दिये हुये उदाहरण का सरलीकृत अनुवाद मात्र कर दिया है। इस विषय के बिहारी के उदाहरण अधिक संगत प्रतीत होते हैं जिनमें कहा गया है कि राधा मर्दाने कपड़े पहन कर और कृष्ण जनाने कपड़े पहन कर सुरत करते हैं जो होती तो सामान्य है किन्तु उन्हें साथ में विपरीत सुरत का भी आनन्द आता है—

राधा हरि हरि राधिका बनि आये संकेत।
दम्पति रति विपरीत सुखु सहज सुरतहू लेत॥

एक अन्य दोहे में नायिका की सखी कह रही है कि प्रिय के मस्तक पर वेंदी देखकर दुनिया ने जान लिया है कि तुमने विपरीत रति की है—

मेरे बूझत बात तू कत वहरावाति वाल।
जगजानी विपरीत रति लखिवेंदी पिय भाल॥

यो बल्लभासन्नगतौ विकारो गत्यासनस्थानविलोकनेषु।
वृथास्मितक्रोधचमत्कृतिश्च विकूणनं चास्यगतं विलासः ॥१७॥

विलास

१७—प्रियतम के समीप जाने पर चलने, बैठने, स्थित होने और अवलोकन में जो विकार उत्पन्न होता है उसे और व्यर्थ की अकारण मुस्कुराहट, क्रोध, चमत्कृत होने तिरछी चितवन से देखने, मुंह बनाने इत्यादि को विलास कहा जाता है।

तद्यथाः

स्खलितबहुलं पादन्यासे, विलोकनमन्यतः,
स्थितिरविषये, वक्त्राम्भोजं प्रयाति विकूणनम्।
स्मितमपि मुहुर्व्यर्थः क्रोधो वृथैव चमत्कृति
र्दयितमभिगच्छन्त्या स्तन्व्या विलासरसो ह्ययम्॥१८॥

उदाहरण :

१८—पैरों के रखने में लड़खड़ाहट बहुत अधिक हो जाती है, दूसरी ओर देखने लगना, वे मौके खड़े हो जाना, मुख कमल तिरछा कर लेना, वार वार वे मतलब मुस्कुराना क्रोध भी वे मतलब और चमत्कृत होना भी वे मतलब ये चेष्टायें जब प्रियतम के निकट जाने पर उत्पन्न हो जाती हैं वह विलास होता है।

विलास का लक्षण और उदाहरण दोनों सामान्यानुगत ही है। अर्थात् प्रियतम की

निकटता सामान्य स्थिति में परिवर्तन। बिहारी ने इस अलंकार के कई अच्छे पद्य लिखे हैं; जैसे—

भौहं उंचै आंचरु उलटि मौरिमोरि मुंह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सों जोरि॥

(नायिका गली में सखी के साथ कहीं जा रही है; संयोगवश उधर से नायक आ गया। तब नायिका की चेष्टाओं में जो परिवर्तन आ गया उसी का इस दोहे में वर्णन है। नायिका ने भौंह उंची करके नायक को देखा; आंचल ठीक किया; सर मोड़ा और मुंह भी मोड़ा तथा सखी की आड़ में आँखों से आँखें मिलाकर बड़ी कठिनाई से अन्दर गई।

सवाष्पगद्गालापाः सस्मितापाङ्गवीक्षितम्।
प्रेमदाक्षिण्यवृत्तिश्च, तरुण्या हाव उच्यते॥१९॥

हाव

१९—आंसुओं सहित गद्गद स्वर से बातचीत मुस्कुराहट के साथ कनखियों से देखना, प्रेम का और अनुकूलता का व्यवहार करना तरुणी की ये सब चेष्टायें हाव कही जाती हैं।

तद्यथा

प्राप्तेषु शृङ्गाररसाश्रयेषु हावेषु प्रेमाङ्कुरचिह्नभूतः।
उत्पद्यते यत्स्मितवीक्षितोक्त मुन्मीलितं बालतया स हावः॥२०॥

उदाहरण :

२०—शृङ्गार रस के आश्रय हावों के प्राप्त होने पर प्रेमाङ्कुर के चिह्न भूत बाल स्वभाव के कारण जो मुस्कुराहट, अवलोकन और कथन प्रकट होते हैं वह हाव कहलाता है।

हाव की स्थिति रसशास्त्र में विचित्र प्रकार की है—'हाव' का शाब्दिक अर्थ है आहूत करना या अपनी ओर आकर्षित करना। इसका आशय यह है कि जब नायिका का शारीरिक सौन्दर्य उसकी चालढाल प्रेमी को उसकी ओर बढने का आमन्त्रण देती है तब उस सौन्दर्य और उन चेष्टाओं को हाव की अवस्था माना जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार परिवेषजन्य परिस्थिति से जो भावात्मक विकार स्वतः उठ उठकर विश्रान्त होता रहता है उसमें यदि तीव्रता उत्पन्न हो जाय तो वह हेला बन जाता है। भरत ने हाव के इसी रूप का प्रकथन किया है और यही रूप रस शास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्यों द्वारा अपनाया गया है। पद्मश्री के विवेचन से हाव के तीन रूप प्रकट होते हैं—एक तो भरतानुमत भाव का कुछ बढ़ा रूप जिसको पद्मश्री ने भाव के अन्तर्गत ही समाहित किया है। दूसरा यत्नज अलंकारों में इसका समावेश और तीसरा समस्त यत्नज अलंकारों का मूल रूप। इस मत में सभी यत्नज अलंकार हाव का ही भेद हैं। वैसे उनकी हाव की परिभाषा भरत से मिलती जुलती एक ही प्रकार की है।

विसंष्ठुलावेशमयो विकारो विविधः स्त्रियः।
तमामनन्ति विक्षेपं मुनयः कपिलादयः ॥२१॥

विक्षेप

२१—स्त्री के जो विविध विकार अव्यवस्था जन्य एवं आवेशमय हों उन्हें कपिल इत्यादि मुनि विक्षेप की संज्ञा देते हैं।

धम्मिल्लं बद्धमुक्तं तिलकमसकलं न्यस्तवृत्तं च धत्ते,
दृष्टावेकत्र कालाञ्जनमुरसि रणत्किङ्किणीं रत्नकाञ्चीम्।
अंसोत्क्षिप्तार्द्धहारा क्रमुकरसकलामात्रशेषाधरान्ता
कान्ताविक्षेपभावादपहरति मनः यत्नरुद्धोरुवासाः ॥२२॥

उदाहरण :

२२—सुन्दरी ने जो चोटी बांधी है वह बंधी हुई भी छुटी जैसी है, तिलक ऐसा लगाया है जो एक तो पूरा नहीं है फिर उसका वृत्त विगड़ा हुआ है, आंखों के केवल एक भाग में काला अञ्जन लगाया है; रत्नों की बनी तगड़ी जिसमें किङ्किणी बज रही है छाती पर धारण की गई है; कंठ में जो हार पहिना था वह आधा कन्धे पर और आधा वाँह पर लटक रहा है; पान के स्थान पर केवल सुपाड़ी के रस की रेखा अधर पर आ रही है; अस्त-व्यस्त वस्त्रों को प्रयत्न से रोका जा रहा है; यह सब प्रियतमा के विक्षेप भाव से हो रहा है जो मन को हर लेता है।

विक्षेप नामक अलंकार मुनि ने स्वीकृत नहीं किया है। इसको प्रथम बार सम्भवतः पद्मश्री ने ही मान्यता दी है। किन्तु उदाहरण विभ्रम की सीमा का स्पर्श करता है। विश्वनाथ ने विक्षेप को स्वीकार करते हुये भी इसमें तीन बातें कही हैं—(१) आभूषणों की अर्धरचा (रचना की अस्तव्यस्तता नहीं जो कि विभ्रम का क्षेत्र है); (२) वृथा इधर-उधर देखना और (३) चुपके से कुछ रहस्य की बात कहना। स्पष्ट ही है विक्षेप और विभ्रम दोनों का विश्वनाथाभिमत क्षेत्र पद्मश्री द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र से भिन्न है। विश्वनाथ ने विक्षेप का उदाहरण यह दिया है—

धम्मिलमर्धमुक्तं कलयति तिलकं तथाऽसकलम्।
किञ्चिद्वदति रहस्यं चकितं विष्वगवेक्षते तन्वी॥

(चोटी आधी बंधी हुई है और आधी खुली हुई; तन्वी सुन्दरी ने तिलक अधूरा ही लगाया है या लापरवाही में अधूरापुँछ गया है, चकित होकर इधर-उधर देखती जाती है और चुपके चुपके कुछ रहस्य की बातें करती है।)

कपिल इत्यादि मुनियों की मान्यता बतला कर पद्मश्री ने इसे दार्शनिकता दे दी है।

वाच्यानां च पदार्थानां ज्ञानेऽपि यदभाषणम्।
नायकेषु मृगाक्षीणां विकृतं तत् प्रकीर्तितम्॥२३॥

विकृत

२३—जो बातें कही भी जा सकती हों और उनका ज्ञान भी हो उन बातों को भी मृगनयनियां अपने नायकों (अपने प्रियतमों) से (संकोच, लज्जा या रोष के कारण) न कह सकें, उस चेष्टा को विकृत (या विहृत) कहा जाता है।

कण्ठे क एष तव, वल्लभ नूपुरोऽयं, तत्पादभूषणमयं वलयस्तदीयम्।
इत्यादि वाच्यमभिभाव्य वचो मृगाक्ष्या ज्ञानेऽपि तद्विकृतमुत्सुकतां तनोति॥२४॥

उदाहरण :

२४—प्रियतम परस्त्री सहवास के सम्भोग चिह्नों को धारण किये हुये घर आया है; प्रियतमा उससे कह सकती थी कि 'प्रियतम ये तुम्हारे कण्ठ पर जो निशान बना है वह क्या परस्त्री नूपुर का चिह्न है जोकि उसके पैर का आभूषण तुम धारण किये हुये हो या यह उसके कंकण का निशान है? किन्तु यह सब जानते हुये भी उसने अपनी भावना दवा ली। नायिका की यह विकृत नामक चेष्टा उत्कण्ठा उत्पन्न करती है।

विकृत नामक हाव पद्मश्री ने स्वीकार किया है; किन्तु इसे दर्पणाकार विश्वनाथ ने भीनहीं माना है। विहृत नामक अलंकार मुनि ने माना था जिसका आशय यही था कि जो बात कहने की भी है और कहने का अवसर भी है किन्तु संकोच वश या दूसरे कारण से कही न जा सके। विश्वनाथ एवं दूसरे आचार्यों ने विहृत को स्वीकृत भी किया है; उसकी मुनि सम्मत परिभाषा भी दी है और उदाहरण भी दिया है। एक विशेष बात यह है कि पद्मश्री ने माना भी नहीं है। सम्भवतः मुनि का विहृत ही पद्मश्री का विकृत हो गया है।

मधुपानमदप्रायस्तारुण्यातिशयोद्भवः।
विकारो यो वरस्त्रीणां तं वदन्ति मदं बुधाः॥२५॥

मद

२५—चढ़ती जवानी की अधिकता का नशा जब लगभग शराव के नशे जैसा हो जाय तो सुन्दरियों का वह नशा जो विकार उत्पन्न करता है उसे मद की संज्ञा दी जाती है।

आलापः स्मितकौमुदीसहचरो, दृष्टिः प्रहर्षोल्लसा,
भ्रूर्नृत्याध्वरदीक्षिता, चरणयोर्न्यासः समे भङ्गुरः।
वेशेषु क्षणिकस्पृहा, मदविधावद्वैतवादाश्रय-
स्तन्व्या नैकविकारभू मधुमदप्रायो मदः स्फूर्जितः॥२६॥

उदाहरण :

२६—बातचीत मुस्कुराहट की चांदिनी की सहचर हो रही है अर्थात् बातचीत में मुस्कुराहट रहती है जिसमें चांदिनी का जैसा आनन्द आता है; निगाह हर्ष के उल्लास से भरी होती है; भौहे ऐसी चलती हैं मानो नृत्य रूपी यज्ञ की दीक्षा ले ली हो अर्थात् भौंहो के संकेत हर समय नाचते हुये से रहते हैं। बराबर भूमि पर भी चाल लड़खड़ाती है। वेशभूषा में प्रतिक्षण आकाङ्क्षा (काम वासना) टपकती है। मद की विधि में अद्वैतभाव का सहारा ले लिया गया है। अर्थात् जवानी और शराव का नशा दोनों एक हो गये हैं। कृशाङ्गी का अनेक प्रकार का विकार मदिरा के नशे के समान बढ़ा चढ़ा ज्ञात होता है।

मद नामक अलंकार विश्वनाथ ने माना है; यह मुनि द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं है। किन्तु विश्वनाथ की परिभाषा और उदाहरण दोनों ही मद के स्वरूप को ठीक रूप में प्रकट नहीं करते। विश्वनाथ ने उसे अभिमान तक सीमित कर दिया है जबकि पद्मश्री द्वारा दी गई परिभाषा और उदाहरण दोनों मद के स्वरूप विशेष रूप से स्पष्ट कर देते हैं।

दयितस्य कथारम्भे साङ्गभङ्गिविजृम्भणम्।
कर्णकण्डूयनं स्त्रीणां मोट्टायितमुदीरितम् ॥२७ ॥

मोट्टायित

२७—प्रियतम विषयक बातचीत के प्रारम्भ होने पर स्त्रियों का शारीरिक अंगों की मरोड़ के साथ जंभाई लेना और कान खुजलाने लगना मोट्टायित कहलाता है।

तस्याङ्ग्घ्रिद्वितयं नमन्ति मुनयो ऽसावेककः सर्ववित्
तं मृत्युञ्जयमामनन्ति विबुधाः सोऽद्याप्यपाणिग्रहः।
इत्याकर्णय कथां हरस्य विजया पार्श्वे विवाहात् पुरा
भङ्क्त्वऽङ्गानि विजृंभितं, गिरिभुवो मोट्टायितं पातु वः ॥२८ ॥

उदाहरण :

अभी पार्वती का विवाह नहीं हुआ है, विवाह की बातचीत चल रही है। वह अपनी सहेली विजया के साथ बैठी है; वहां शङ्करजी के विषय में बातचीत चल रही है—'मुनि लोग उनके दोनों चरणों के बन्दना में झुकते हैं; वे ही अकेले सर्वज्ञ हैं, उन्हें विद्वान लोग मृत्युञ्जय मानते हैं। अभी तक वे अविवाहित हैं।' शंकरजी के विषय में इस बातचीत को सुनकर अंगों को मरोड़ती हुई जंभाई लेती हुई पार्वती का मोट्टायित भाव आप सब लोगों की रक्षा करे।

मोट्टापित और कुट्टमित दोनों अलंकार मुनि सम्मत हैं जिनको पद्मश्री ने हाव के रूप में स्वीकार कर अपने ढंग से उनकी व्याख्या की है तथा उनके उदाहरण दिये हैं। विश्वनाथ के विवेचन पद्मश्री के विवेचन पर अधिक आधारित है।

केशस्तनादिग्रहणे हर्षादप्रतिमे सुखे।
दुःखाविष्करणं तन्व्या यत्तत्कुट्टमितं मतम् ॥२९ ॥

कुट्टमित

२९—सुरतकाल में जब केश स्तन इत्यादि को पकड़ा जाता है तब सुन्दरी को हर्ष से अप्रतिम सुख मिलता है। किन्तु वह दुबले पतले अंगों वाली दुःख का ही आविष्कार करती है। इस चेष्टा को कुट्टमित माना जाता है।

किं कान्त! निर्दयतरं भुजकन्दलीभ्यां
द्वाभ्यां निपीडयसि मां, न सहिष्णुरस्मि।
वामभ्रुवामिति सुखेष्वपि दुःखभाजां
धन्यः श्रृणोति यदि कुट्टमिताक्षराणि ॥३० ॥

उदाहरण :

३०—'हे प्रियतम! अधिक निर्दय होकर तुम दोनों भुजलताओं से (जोर के साथ) भेंटकर मुझे पीड़ा क्यों पहुंचा रहे हो, मुझसे सहा नहीं जाता। सुन्दर भौंहों, वाली सुन्दरियों द्वारा सुखों में दुःखों का ही वखान करने में कुट्टमित अक्षरों को जो सुनते हैं वे धन्य हैं।

मुक्ताफलं तरोः कस्येत्यादि यत् कृत्रिमं वचः।
वल्लभानां पुरः प्रोक्तं, मौग्ध्यं वदत तद्बुधाः ॥३१ ॥

मौग्ध्य

३१—प्रियतमों के सामने 'मुक्ता फल किस वृक्ष से पैदा होते हैं' इत्यादि जो बनावटी वाणी वोली जाती है विद्वान लोगो! उन वचनों के प्रयोग को मौग्ध्य कहो।

तद्यथा

के द्रुमास्ते क्व वा ग्रामे सन्ति केन प्ररोपिताः।
नाथ! मत्कङ्कणे न्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलम् ॥३२ ॥

उदाहरण :

३२—कोई सुन्दरी अपने कंकणों में जड़े मुक्ताफलों (मोतियों) को समझ रही है कि ये भी फल हैं जो अन्य फलों की भांति किसी वृक्ष में पैदा होते होंगे अतः वह प्रियतम से पूंछ रही है—'हे नाथ! मुझे बतला दो कि वे कौन से वृक्ष हैं; किस गांव में पैदा होते हैं और उन वृक्षों को लगाने वाले कौन लोग हैं जिन वृक्षों से मेरे कंकण में लगे हुये मुक्ताफल पैदा होते हैं।' इस प्रकार का कथन मौग्ध्य (भोलापन) कहलाता है।

मौग्ध्य और तपन ये दो अलंकार मुनि द्वारा स्वीकृत नहीं हैं। उनका अलंकारों में

समावेश किसी उत्तरवर्ती आचार्य सम्भवतः पद्मश्री की कल्पना है जिनको विश्वनाथ ने अपने विवेचन में स्थान दिया है। मौग्ध्य का अर्थ है भोलापन और तपन का अर्थ है वियोग वेदना की जलन। ये तत्त्व भी नायिका के आभूषण हैं जो कि परिशीलक के मन में कामुक भावना जागृत करने में कारण होते हैं।

नागच्छति प्रियतमे प्रहरार्धमात्रमुद्वेगजं विविधचेष्टितमङ्गनायाः।
सख्याः पुरः श्वसनरोदनमात्मभाग्यनिन्दादिकं कविवरास्तपनं वदन्ति ॥३३॥

तपन

३३—प्रियतम को रात में केवल आधे पहर का ही विलम्ब हो जाय उस समय सुन्दरी को जो उद्वेग उत्पन्न होता है और उस अवस्था में जो ऊटपटांग बाते वह करने लगती है सखी के सामने गहरी श्वासे लेती है, रोती है, अपने भाग्य को कोसती है; इस प्रकार की उसकी चेष्टाओं को श्रेष्ठ कवि लोग तपन कहते हैं।

इसका दृष्टान्त :

नायाते प्रहरार्धमेव दयिते भङ्क्त्वा नितम्बे मिथः
संसक्ताऽङ्गुलिजालमध्यमधुना सख्यः कृतार्था इति।
व्याहारः स्वपनं मुहुः पुनरिदं गौर्यर्थनाभ्यर्चनं
तन्वङ्ग्यास्तपनं तनोतिकृतिनः प्रेमाणमुच्चैरपि ॥३४॥

उदाहरण :

३४—प्रियतम ने केवल आधे पहर का विलम्ब कर दिया इतने विलम्ब से ही दुःखी होकर एकान्त में जाकर अपने नितम्बों को मसलने और दबाने लगी। सखी की अंगुलियों को अपनी अंगुलियों में फंसाकर कहने लगी कि 'सखी अब मैं कृतार्थ हो गई' अर्थात् प्रियतम के ही समान सखी के अंग स्पर्श इत्यादि में सुख का अनुभव करने लगी। बड़बड़ाना, सो जाना, फिर एकदम जगकर दुबारा वही चेष्टायें करना गौरी की प्रार्थना और पूजा (मनौती) इत्यादि कृशाङ्गी की तपन की चेष्टायें किसी कृतार्थ व्यक्ति के प्रति उच्चकोटि के प्रेम को प्रकट करती हैं।

भ्रूनेत्रादि क्रियाशाली सुकुमारविधानतः।
हस्तपादाङ्गविन्यासस्तरुण्या ललितं विदुः ॥३५॥

ललित

३५—(सुन्दरी की) भौं, नेत्र इत्यादि की क्रियायें सुकुमार विधान वाली हों; हाथ पैर और दूसरे अंगों का रखरखाव भी उसी प्रकार का हो तो तरुणी की इस प्रकार की अवस्था ललित जानी जाती है।

स्कन्धाश्रितैकमणिकुण्डलमुन्नतैकभ्रूवल्लिसाचिविनिवेशितदृष्टिपातम् ।
चेतो न कस्य ललितं हरति प्रियाया हासो यतोंऽशुकनिरुद्धरदेन्दुकान्तः ॥३६॥

उदाहरण:

३६—कानों में पहने हुये मणि के अनुपम कुण्डल कन्धे पर झूल रहे हैं; एक ओर की भ्रूलता ऊपर को उठी हुई है। दृष्टिपात तिरछे रूप में एक ओर को सन्निविष्ट कर दिया गया है। वस्त्र से मुख को ढककर चन्द्र के समान चमकते दांतों की कान्ति से मिली हुई हँसी ये सब प्रिया की ललित चेष्टायें किसके चित्त को अपनी ओर खींच नहीं लेती।

ललित अलंकार मुनि का माना हुआ है। अंगों का सुकुमार रूप में विन्यास ललित कहा जाता है। विलास में हाथ पैर इत्यादि अंगों के कर्म आकर्षक होते हैं; उसमें सुन्दरता का अधिष्ठान कर्मों में होता है। किन्तु ललित में सौन्दर्यमयी अंगों की स्थिति ही अलंकारना की प्रयोजक होती है। अभिनव गुप्त ने लिखा है कि कुछ विचारक 'लड्विलासे' इस धातु के आधार पर ललित का अन्तर्भाव विलास में ही करते हैं।

नायिकाओं के भाव एवं यत्नज अलंकारों पर ऊपर विचार किया गया। शेष अलंकारों का जिन्हें पद्मश्री ने मान्यता नहीं दी है किन्तु विश्वानाथ ने उन्हें अलंकारों के मध्य परिगणित किया है; परिशिष्ट संख्या २ में उन पर विचार किया जायेगा। जिज्ञासुओं को वहीं उनका परिशीलन करना चाहिये।

पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में हावादिभावनिर्देश नामक
त्रयोदश परिच्छेद समाप्त

चतुर्दशः परिच्छेदः

परिणाहारोहाभ्यां षण्णवद्वादशाङ्गुलैर्गुह्यैः ।
शशवृषभाश्वाः पुरुषा हरिणी वडबेभिका नार्यः ॥१॥

१—विस्तार (गहराई) और उठाव के रूप में ६,९ और १२ अंगुल के गुप्तांगों द्वारा पुरुष शश, वृष और अश्व एवं नारियां हरिणी, वडवा (घोड़ी) और हस्तिनी होती हैं अर्थात् जिन पुरुषों के लिंग उठाव में ६ अंगुल होते हैं वे शश की कोटी में आते हैं; इसी प्रकार ९ अंगुल लिंग वाले वृष एवं १२ अंगुल वाले अश्व की श्रेणी में आते हैं। छः अंगुल योनि की गहरई वाली स्त्रियां हरिणी, ९ अंगुलवाली वडवा १२ अंगुल वाली हस्तिनी कहलाती हैं।

१४वें परिच्छेद से कामशास्त्र का विषय प्रारम्भ होता है। संभोग में सबसे अधिक ध्यान देने वाली बात यह होती है कि स्त्री और पुरुष सम्भोगाङ्ग परिमाण में एक दूसरे से फिट बैठ जायें। सभी स्त्री पुरुषों के ये अंग एक से नहीं होते। अतः मुनि (वात्स्यायन) ने सर्वप्रथम संभोगाङ्गों के विस्तार की दृष्टि से उनका वर्गीकरण किया है और सुविधा के लिये पशुओं के आधार पर उनका परिचय दिया है। पुरुष का उठाव और स्त्री की गहराई पर विचार किया जाता है। पुरुष का उठाव यदि अपनी अंगुलियों से ६ अंगुल है तो वह सबसे छोटा साधन कहा जाता है। इस प्रकार के साधन वाले पुरुष को मुनि ने शश (खरगोश) कहा है। इसी प्रकार ९ अंगुल वाले को वृषभ और १२ अंगुल वाले को अश्व कहा है। यह निम्न, मध्य और उच्च साधनों का विभाजन कुछ विचारक केवल लम्बाई की दृष्टि से मानते हैं और कुछ लोग माटोई भी इतने अंगुलों की होने का प्रतिपादन करते हैं अर्थात् ६ अंगुल लम्बाई वाले साधन की मोटाई भी उतने अंगुल की होनी चाहिये। स्त्रियों के संबाध (योनि) की गहराई भी तीन कोटियों में विभाजित कि गई है निम्न, मध्य और उच्च। मुनि ने स्त्रियों के अंगों का परिमाण अंगुलों में नहीं दिया है—केवल उनकी श्रेणियाँ बतला दी हैं। कतिपय व्याख्याकारों के अनुसार मुनि का मन्तव्य स्त्री-अंग का परिमाण भी अंगुलों में नापने का दृष्टिगत होता है। अर्थात् छोटा स्त्री अंग ६ अंगुल की गहराई और ६ अंगुल की चौड़ाई वाला होना चाहिये। दूसरे लोग अंगुलों से स्त्री अंगों की गहराई की नाप बतलाने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि स्त्री की अंगुलियाँ पतली होती हैं। अतः उनसे नाप करने पर कोई संयोग ठीक बैठ ही नहीं सकेगा। इसीलिये मुनि ने स्त्री अंगों की नाप अंगुलों में नहीं बतलाई है। नामकरण भी पशुओं के आधार पर किया है—निम्न परिमाण की योनि वाली

स्त्री मृगी मध्य श्रेणी वाली वडवा (घोड़ी) और उच्च श्रेणी वाली करिणी (हथिनी) कही जाती है।

सुवचनसमदन्ताः कान्तिमन्तः प्रहर्षा अविरलकरशाखा वर्तुलास्यं वहन्तः।
चरणजघनहस्ते कर्णदेशे च कार्श्यं सुरभिरतजलाढ्या मानिनस्ते शशाः स्युः ॥२॥

शश पुरुष

२—ऐसे पुरुष शश होते हैं जिनकी वाणी में मधुरता हो; दांतों की पंक्ति समान (एकरूप गढ़ी हुई) हो; जो कान्ति (चेहरे की चमक) से भरे हों, जो सदा प्रसन्नचित्त रहें, हाथ की अंगुलियां बिखरी हुई न हों अर्थात् एक दूसरे के साथ गुथी हुई ऐसी प्रतीत हों मानो किसी ने उन्हें जाल में गूंथ दिया हो हथेली के फैलाने पर एक दूसरे से सटी हुई हों, जिनका मुख गोलाई लिये हुये हो चरण, जंघायें व हाथ दुबले पतले हो अर्थात् ये अंग अधिक वेफाव मोटे न हों, सम्भोग से निकलने वाला जल(वीर्य) सुगन्धित हो और वे स्वभाव से स्वाभिमानी हों।

१४वें परिच्छेद के दूसरे से सातवें पद्यों में पुरुषों और स्त्रियों के उक्त भेदों की इतर विशेषताओं का उल्लेख किया है। अंगों के उठाव, गहराई तथा इतर विशेषताओं का वर्णन करने में परवर्ती आचार्यों ने मुनि का ही पदानुसरण किया है।

स्थौल्यं गलस्य ललितां गतिमावहन्त आरक्तहस्तचरणं स्थिरपक्ष्मलाक्षि।
कूर्मोदरं मृदुगिरं च, सुपीवराङ्गा मेदस्विनश्च सुभगा वृषभा भवेयुः ॥३॥

वृषभ पुरुष

३—जिनके कंठ स्थूल हों, जो अपनी चाल में सुन्दरता वहन करते हों अर्थात् जिनकी चाल सुन्दर हो, जिनके हाथ और पैर लाली लिये हुये हों, जिनकी आंखों के कोये स्थिर (सधे हुये) हों, पेट कछुये के आकार का कुछ फूला हुआ हो, वाणी कोमल हो, शरीर के अवयव अच्छे खासे पीवर हों; शरीर चर्बी से भरा हुआ हो और जो सौभाग्य शाली हों वे पुरुष वृषभ (बैल) होते हैं अर्थात् बैल की कोटि में आते हैं।

दीर्घैः कृशैर्वदनकर्णशिरोभिरोष्ठैः सान्द्रैः शिरोरुहचयैः. कुटिलाङ्गजङ्घाः।
दीर्घाङ्गुलीजलदघोषविलोलनेत्रैः पीनोरुशीघ्रगमनैः सुनखाः स्युरश्वाः ॥४॥

अश्वपुरुष

४—वे पुरुष अश्व की कोटि में आते हैं जिनके मुख, कान, सर और ओठ लम्बे तथा पतले हों; केश राशि घनी हो जिनके अंग और जंघायें कुटिल अर्थात् कुछ टेढी, झुकी हुई तथा घुमावदार हों, अंगुलियां बड़ी हों, बोली बादल की जैसी गम्भीर हो, नेत्र चञ्चल हों, उरु स्थूल एवं मजबूत हों; चाल में तेजी हो और नाखून सुन्दर हों।

ललितगमना तन्वी श्यामा हिमद्युतिशीतला
विकटदशना मन्दालापा सुसान्द्रशिरोरुहा।
समधिककफा स्वल्पाहारा सुगूढशिरोस्थिका
सुरभिसुरताढ्या च स्निग्धानना हरिणी भवेत्॥५॥

हरिणी (मृगी) स्त्रियां

५—वे स्त्रियां हरिणी होती हैंजिनकी चाल सुन्दर हो, दुबली पतली हो, श्यामा अर्थात् गरमी में शीतल अंगों और सरदी में गरम अंगों वाली हो, शीतांशु (चन्द्र) की चमक के समान शीतल प्रकाश वाली हों (श्यामा के रूप में शीतलता और उष्णता स्पर्श में तथा आलिंगन में होती है किन्तु उनके दर्शन से शीतलताजन्य तृप्ति सर्वदा प्राप्त होती है।) उनके दांत विकट अर्थात् नोकदार होते हैं। वे थोड़ा बोलती हैं; बहुत अच्छे घने वाल होते हैं। उनकी कफ प्रकृति होती है (कफ प्रकृति वालों का शरीर गठा हुआ होता है।) भोजन की मात्रा कम होती है; सर की हड्डियां अन्दर को दबी रहती हैं अर्थात् उभड़ी हुई दिखलाई नहीं देती; उनका सम्भोग सुगन्ध से परिपूर्ण होता है अर्थात् सुरत में निकलने वाले जल में एक प्रकार की सुगन्धि होती है, उनके चेहरे पर एक चिकनाई प्रतीत होती है।

पीनकठिनकुचभागं वक्रास्थिग्रन्थिगुल्फमुद्वहती।
विपुलजघनमुष्णाङ्गं मृदुसुललितमांसलौ बाहू॥
स्वेदाम्बुकणोपचिता गौराङ्गी पललगन्धिरतसलिला।
तुच्छोदरी समाङ्गी तरुणी पित्ताधिका वडबा॥६॥

वडवा स्त्रियां

६—अश्वजाति की स्त्रियों के स्तन मोटे और कठोर होते हैं; वह ऐसे टखने धारण करती हैं जिसमें हड्डियों की गांठ कुछ वक्र होती है जंघायें विशाल होती हैं, शरीर गरम रहता है, दोनों बाहें कोमल सुन्दर और मांसल होती हैं। पसीने की बूंदों से उसका चेहरा भरा रहता है; शरीर गोरा होता है और कामजल में मांस की गन्ध आती है, वडवा तरुणी की प्रकृति पित्त प्रधान होती है।

खर्वा स्थूला प्रकटदशना कुन्तलैःस्थूलनीलैः
रक्ता वातप्रकृतिरकृशैर्हस्तपादैर्वराङ्गी।
शीतोष्णाङ्गी बहुतरवचा श्चञ्चलाऽनल्पमेदा
रोमाकीर्णं वहति करिणी दानगन्धं वराङ्गम्॥७॥

हस्तिनी

७—हस्तिनी नायिका के लक्षण ये हैं—इसका कद छोटा होता है किन्तु शरीर से यह मोटी होती है, इसके दांत इतने बड़े होते हैं कि छिपते नहीं बाहर से दिखलाई पड़ते हैं, केश मोटे और नीले होते हैं। इसका वर्णलाली लिये हुये होता है; यह वात प्रकृति की होती है; हाथ और पैर कृश नहीं होते; शरीर सुन्दर होता है; शरीर ठंडा और गरम दोनों प्रकार का अर्थात् कभी ठंडा और कभी गरम होता है, बोलती बहुत है, चंचल होती है, चर्वी बहुत होती है, उसकी योनि पर बाल बहुत होते हैं और उसकी योनि से हाथी के मद की जैसी महक आती है।

नरः संलक्षितो व्यक्तमनेकैरश्वलक्षणैः।
एकतो लिङ्गकौमल्याच्छशको जायते ध्रुवम् ॥८॥

उक्त भेदों में विशेषता

८—किसी व्यक्ति की उक्त लक्षणों से परीक्षा करने पर चाहे उसमें अनेक लक्षण अश्व के प्रकट हो रहे हों फिर भी यदि उसमें शश का केवल एक लक्षण लिंग की कोमलता और छोटापन विद्यमान हो तो वह निश्चित रूप से शश ही कहा जायेगा।

इस १४वें परिच्छेद के दो पद्यों ८वें और नवें में आचार्य ने प्रधान विशेषताओं का उल्लेख किया है। जहाँ अन्तर्बाह्य अनेक विशेषतयें बतलाई जाती हैं वहाँ कोई प्रधान और कोई अप्रधान विशेषता होती ही है। पद्मश्री का कहना है पुरुष की अन्य विशेषताओं की अपेक्षा लिङ्ग का परिमाण सर्वाधिक निर्णायक होता है। उदाहरण के लिये यदि पुरुष में दूसरे लक्षण अश्व के हैं किन्तु उसका लिङ्ग शश जैसा कोमल है तो वह शश ही माना जायेगा। स्त्री के संभोगाङ्ग को आचार्य ने प्रमुख नहीं माना है। उसके बाह्य अगों को महत्त्व दिया है। स्त्रियाँ पुरुष के पौरुष पर रीझती हैं जबकि पुरुष बाह्य सौन्दर्य को महत्त्व देता है। इसीलिये आचार्य ने पुरुष में उसके साधन को वरीयता प्रदान की है जबकि स्त्री के विषय में उनका कथन है कि यदि स्त्री के अंग हस्तिनी के जैसे हों किन्तु पैर और कांख छोटी हैं और स्तन तथा चेहरे भरे हुये हों तो उसे मृगी ही कहा जायेगा।

कक्षं पादतलं तुच्छं गुरुत्वं च कुचास्ययोः।
यस्याः सा हरिणी ज्ञेया याऽपीभीलक्षणैर्युता ॥९॥

नायिका में लक्षण की विशेषता

९—चाहे किसी स्त्री में हस्तिनी के लक्षण विद्यमान हों किन्तु कांख और पैर छोटे हों और स्तन तथा मुख दोनों में गुरुता हो तो वह हरिणी ही समझी जानी चाहिये।

हरिणीशशयोर्योगे वडवा वृषयोस्तथाश्वहस्तिन्योः ।
उभयोः समरतमुदितं त्रितयं रतिशास्त्रतत्त्वज्ञैः ॥१० ॥

समरत

१०—मृगी स्त्री और शश पुरुष का योग, वडवा स्त्री और वृष पुरुष का योग तथा हस्तिनी स्त्री और अश्व पुरुष का योग ये कामशास्त्र के तत्त्वज्ञों द्वारा स्त्री और पुरुष दोनों के समरत बतलाये गये हैं।

इस कारिका में स्त्री पुरुष के संयोग पर विचार किया गया है। यह विचार भी मुनि का ही है। जिसको परवर्ती सभी अन्य आचार्यों ने अनपाया है। विवाह में स्त्रियों के मृगीत्व इत्यादि और पुरुषों के शशत्व इत्यादि की परीक्षा तो की नहीं जाती जोड़ों का मिलान भाग्य पर निर्भर होता है। कहा ही जाता है कि स्त्री-पुरुष का योग तो परमात्मा का मिलाया हुआ होता है। स्त्री के छोटे के अंग से पुरुष के छोटे अंग का मिलान मध्य का मध्य से और उच्च का उच्च से अर्थात् शस और मृगी, वृषभ और वडवा तथा अश्व और हस्तिनी का ये तीन योग समरत कहे जाते हैं। ये सर्वोत्तम संयोग माने जाते हैं। इनमें विशेषता यह होती है कि पुरुष का साधन स्त्री योनि के सिरे तक पहुंच जाता है और योनि पूर्णरूप से भर जाती है तथा स्त्री को पूरा सन्तोष मिलता है। सहवास में उसे कष्ट भी नहीं होता।

हरिणी वृषयोर्वडवा हययोर्द्वितयं तथोच्चरतमुदितम्।
नीचद्वयं च वडवा शशयोर्वृषहस्तिन्योः ॥११ ॥

उच्च और नीचरत

इसमें विषम रतों का वर्णन किया गया है। ये विषम रत दो प्रकार के होते हैं—उच्च एवं नीच। स्त्री का अंग छोटा और पुरुष का बड़ा हो तो वह उच्च रत होता है; इसके प्रतिकूल यदि स्त्री का अंग बड़ा और पुरुष का चोटा हो तो वह नीच रत होता है। उच्चरत दो प्रकार को होता है—मृगी (६ अंगुल) का वृषभ (९ अंगुल) से और वडवा (९ अंगुल का अश्व (१२ अंगुल) से। इस संयोग से सहवास करने में स्त्री को पीड़ा होती है और वह डरने लगती है। नीचरत भी दो प्रकार का होता है—शश पुरुष (६ अंगुल) का वडवा स्त्री (९ अंगुल) से और वृषभ पुरुष (९ अंगुल) का हस्तनी स्त्री (१२ अंगुल) से इस संयोग से न तो स्त्री तृप्त होती है न सहवास का प्रयोजन ही सिद्ध होता है क्योंकि इसमें पुरुष के अंग से स्त्री के अंग के अनेक भाग अछूते रह जाते हैं। आचार्यों का कथन है कि उच्चरत न तो उतना बुरा होता है न उसका परिणाम ही उतना भयानक होता है जितना नीच रत का। क्योंकि उच्चरत में सहवास जैसे तैसे बन जाता है और स्त्री केवल डरने लगती है जबकि नीचरत में वह पुरुष से घृणा करने लगती है और कभी कभी व्यभिचारिणी हो जाती है। उसका गृहस्थ तो दुःखमय हो ही जाता है।

११—मृगी एवं वृष का और वडवा (स्त्री) तथा अश्व (पुरुष) का ये दोनों योग उच्चरत होते हैं। वडवा और शश का योग एवं हस्तिनी और वृष का योग ये दोनों नीच रत माने जाते हैं।

(मृगी स्त्री और शश पुरुष दोनों की जननेन्द्रियां छोटी (छः अंगुल की) होती हैं, इसी प्रकार वडवा स्त्री और वृष पुरुष दोनों की जननेन्द्रियां मध्य परिमाण की (९ अंगुल की) होती हैं और हस्तिनी स्त्री और अश्व की जननेन्द्रियां बहुत बड़ी (१२ अंगुल की) होती हैं। इस प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों की इन्द्रियों के समान परिमाण वाली होने के कारण इन रतों को समरत कहा जाता है और इनका सहवास बहुत अच्छा बन जाता है। विषमरत दो प्रकार के होते हैं—पुरुष अंग बड़ा हो और स्त्री का अंग छोटा हो तो उच्चरत होता है। मृगी की गहराई ६ अंगुल और वृष पुरुष का परिमाण ९ अंगुल का इसी प्रकार वडवा स्त्री की गहराई ९ अंगुल और अश्व पुरुष का परिमाण १२ अंगुल का ये दोनों संयोग उच्चरत होते हैं। इसके विपरीत स्त्री की गहराई अधिक और पुरुष का अंग छोटा होने पर नीचरत होता है। ये दोनों नीचरत हैं शश का वडवा से और हस्तिनी का वृष से संयोग।)

अत्युच्चमश्वमृग्योः, शशकरिण्योश्च नीचतर।
इति नवधा रतमुदितं समसुरतं तत्र साध्यमतम्॥१२॥

अतिविषमरत

१२—मृगी (छः अंगुल) का अश्व पुरुष (१२ अंगुल) से योग अत्युच्च रत होता है और शश पुरुष (छः अंगुल) का हस्तिनी (१२ अंगुल) से योग अति नीच रत होता है। इस प्रकार सुरत ९ प्रकार की होती है—(३ समरत + २उच्चरत + २नीचरत + १अत्युच्च और + १अतिनीच रत = ९) इनमें सर्वोत्तम तथा सर्वाधिक साध्य समरत होता है।

इसमें आचार्य ने दो अन्य रतों का परिचय दिया है—अत्युच्च और अति नीच। जब संयोग व्यवधान के साथ होता है तब ये दोनों रत माने जाते हैं—जब मृगी का शश और वृषभ इन दोनों की अपेक्षा बड़े अश्व से योग हो जाता है तब वह उच्चतर या अत्युच्च रत होता है। इसी प्रकार जब हस्तिनी का अश्व और वृषभ दोनों से छोटे शश से योग हो जाता है तब वह नीचतर या अतिनीच संयोग माना जाता है। इस प्रकार सब मिलाकर सुरत के ९ भेद हो जाते हैं अर्थात् तीनों प्रकार की स्त्रियों में प्रत्येक के तीन भेद—मृगी का शश से समरत, वृषभ से उच्चरत और अश्व से उच्चतर रत; वडवा का वृषभ से समरत, अश्व से उच्चरत और शश से नीच रत, हस्तिनी का अश्व से समरत, वृषभ से नीचरत और शश से नीचतर रत।

अनङ्गरङ्ग में इन रतों का प्रभाव निम्नलिखित रूप में बतलाया गया है—

तत्रप्रशस्तं सुरतं समं स्यादुच्चद्वयं मध्यममेव विद्यात्।
नीचेऽधमेऽत्युच्चमथातिनीचमत्यन्तनिन्द्यं कविभिः प्रदिष्टम्॥

(समसुरत प्रशंसनीय होती है, दोनों उच्च मध्यम कोटि की मानी जाती हैं। नीच कोटि में आने वाली सुरत अधम होती है और अति उच्च एवं अति नीच निन्दनीय मानी जाती है।)

'सुरत के अन्त में जब स्त्री कामजल छोड़ चुकती है तब उस पर इस प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं—(१) यदि उसने समरत का आनन्द लिया है तो वह नाचने लगती है। (भलेही शारीरिक रूप में वह न नाचने लगे लेकिन उसका मन मयूर तो नाच ही उठता है। क्योंकि उसे उस सुरत में जितना आनन्द आता है उतना किसी बात से नहीं। वह बार-बार उसी प्रकार के आनन्द का उपभोग करने के लिये लालायित रहती है।) (२) यदि उसका नीचरत हुआ है तो निराशा से भरकर वह ऊल जलूल बकने लगती है; उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। पुरुष के प्रति अपमान की भावना उत्पन्न हो जाती है और वह उसे धिक्कारती रहती है। (३) यदि उसका नीचतर रत हुआ है तो वह अपने भाग्य पर रोती है, दुःखी रहती है और एकान्त पाकर रोया करती है। (४) यदि उसका उच्च सुरत हुआ है तो वह आनन्द की स्मृति में अपने सुन्दर नेत्रों को कली जैसा सिकोड़ते हुये मस्त रहती है। किन्तु भय के कारण व्याकुलता भी उसमें घर कर लेती है। (५) यदि उसका उच्चतररत हुआ है तो वह असमर्थ होकर पड़ी रहती है; उसके अन्दर एकदम थकावट आ जाती है और वह परिश्रम का कोई भी काम अधिक नहीं कर सकती। (अनङ्गरङ्ग की) रञ्जिनी टीका से उद्धृत।)

यही बात पद्मश्री ने (१४.१३ में) कही है।

अन्तर्लिङ्गास्पर्शान्नीचे कण्डूतिरप्रतीकारा।
उच्चे मृदुगुह्यान्तः सम्पीडा सव्यथं हृदयम्॥१३॥

विषम रतों का प्रभाव

१३—(स्त्री अंग के अधिक बड़े होने से) पुरुष का अंग इसके अन्दर स्पर्श नहीं कर पाता; अतः नीच रत में कण्डू (खाज) की शान्ति नहीं हो पाती। उच्च रत में स्त्री के गुप्ताङ्ग के छोटे एवं कोमल होने से तेज पीडा पैदा हो जाती है और स्त्री का हृदय व्यथित हो जाता है।

मृदुमध्योत्तमशक्तय इह सूक्ष्मा रक्तजाः क्रमयः।
स्मरसद्मसु कण्डूतिं जनयन्ति यथाबलं स्त्रीणाम्॥१४॥

कण्डू क्या है?

१४—स्त्री के कामायतन (योनि) में रक्त से उत्पन्न छोटे छोटे कीटाणु होते हैं वे कण्डू (खाज) उत्पन्न किया करते हैं। उनकी शक्ति तीन प्रकार की होती है किसी के कीटाणु कोमल होते हैं, किसी के मध्य श्रेणी के और किसी के उत्तम अर्थात् उच्च शक्ति के। जिनमें जितना बल होता है उसी परिमाण में वे कण्डू उत्पन्न करते हैं।

कण्डूत्यनयनपटोः कान्ताच्युतिशमहेतुभूतस्य।
प्राणेश्वरस्य दयिता सहते न मुहूर्तविच्छेदम्॥१५॥

कण्डू मिटाने का फल

१५—जो पुरुष कण्डू मिटाने में निपुण होता है और कान्ता के स्खलित एवं शान्त करने में कारण बनता है—प्यारी स्त्री के लिये वह सर्वाधिक प्यारा पुरुष बन जाता है। वह प्राणों का स्वामी होता है और स्त्री उसके दो घड़ी के वियोग को भी सह नहीं सकती।

दैवेन यदि कदाचित् कथमपि जायते तस्य विच्छेदः।
सहसैव सा वराकी यायाद्दशमीं मनोभवामवस्थाम्॥१६॥

दैववश वियोग होने पर

१६—यदि कदाचित् दैव वश किसी विशेष कारण से उनका विच्छेद हो जाय और उन्हें अलग रहना पड़े तो वह बेचारी एकदम कामदेव की दसवीं अवस्था (मृत्यु) को पहुंच जाती है। (मृत्यु की इच्छा करने लगती है।)

अभिलाषस्तथा चिन्ताऽनुस्मतिर्गुणकीर्तनम्।
उद्वेगश्च विलापोऽथोन्मादो व्याधिस्तथाष्टमः॥१७॥

जडता मरणं चेति दशावस्थाः प्रकीर्तिताः।
प्रमदानां नराणां च स्मरेषूद्भिन्नचेतसाम्॥१८॥

काम की दशायें

१७-१८—(कामशास्त्र और साहित्य शास्त्र के आचार्यों ने काम की दस दशायें बतलाई हैं।) जब स्त्री पुरुष दोनों का या दो में किसी एक का कामवासना से हृदय विदीर्ण हो जाता है तब (१) सर्वप्रथम अभिलाषा अर्थात् सम्मिलन की आकाक्षा उत्पन्न होती है; (२) उसके बाद चिन्ता हो जाती है कि किस प्रकार सम्मिलन हो; (३) अनुस्मृति तीसरी अवस्था है जिसमें एक क्षण के लिये भी प्रेम पात्र की याद भुलाये नहीं भूलती। (४) प्रेम पात्र के गुणों का जहां तहां बखान गुण कथन चौथी अवस्था है; (५) पांचवीं अवस्था उद्वेग की है जिसमें उत्तेजना उत्पन्न होती है फिर (६) विलाप; उसके बाद (७) उन्माद (८) आठवीं अवस्था में व्याधि उत्पन्न हो जाती है अर्थात् शरीर को रोग घेर लेते हैं; (९) तब जड़ता अर्थात् विवेक शून्यता उत्पन्न हो जाती है और (१०) दसवीं अवस्था मरण की है।

काम की १० दशाओं का वर्णन काव्यशास्त्र और कामशास्त्र दोनों में किया गया है। अनेक आचार्यों ने इनका उल्लेख किया है। इनमें एक क्रम रहता है। कहीं कहीं कुछ दशाओं के नाम बदल गये हैं; किन्तु भावना और क्रम वही हैं। कतिपय आचार्यों ने १० के स्थान पर १२ काम दशायें मानी हैं। इन आचार्यों में शारदातनय के भाव प्रकाशन और प्रतापरुद्रिय

का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु परिनिष्ठित संख्या मुनि सम्मत १० ही मानी जाती है। यहाँ तक कि 'मृत्यु' शब्द की अमाङ्गलिकता बचाने के लिये मृत्यु के स्थान पर 'काम की दसवीं दशा' शब्द का प्रयोग प्रचलित है। पद्मश्री ने भी इसी शब्द का प्रयोग किया है।

भिक्षु पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में रतिविवेक नामक
चतुर्दश परिच्छेद समाप्त

पञ्चदशः परिच्छेदः

प्रथममपररामा इङ्गितैर्लक्षणीयाः, स्वयमथ सुहृदा वा यत्नसाध्या असाध्याः।
सकृदपि न च साध्या क्षेमकामैरसाध्या, यदिह विपदसाध्या साधने दुर्निवाराः ॥१॥

परस्त्री गमन प्रकरण

१—परस्त्री गमन के विषय में पहला कर्तव्य है स्वयं या मित्र के माध्यम से इशारों से परस्त्री की प्रवृत्ति को भली भांति लक्षित कर लेना चाहिये कि वह साध्य है, यत्न साध्य है या असाध्य है। कल्याण कामना करने वालों द्वारा असाध्य स्त्री को सिद्ध करने की एक वार भी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि असाध्य को सिद्ध करने की चेष्टा साक्षात् विपत्ति है; साधन के विषय में उनका निवारण अत्यन्त कठिन होता है।

यह पर स्त्री प्रकरण है; इसमें आचार्य पद्मश्री ने इस बात पर जोर दिया है कि परस्त्री गमन में विपत्तियाँ बहुत हैं। इसलिये इस प्रकार के प्रयत्न में पड़ने से पहले भली भाँति परीक्षा कर लेनी चाहिये कि अमुक स्त्री वश में आ जायेगी या नहीं। यह परीक्षा स्वयं भी की जा सकती है और इस कार्य में मित्र की भी सहायता ली जा सकती है। किन्तु सबसे अधिक विश्वसनीय परीक्षा तो सुन्दरी की चेष्टाओं द्वारा की जा सकती है। आचार्य ने पथ प्रदर्शन के लिये १५वें परिच्छेद के २ से ५ तक पद्यों में नायिका के संकेतं और प्रेम परक चेष्टाओं का परिचय दिया है।

प्रकाशो बाहुमूलस्य कक्षोदरकुचस्य च।
बालानां चुम्बनालिङ्गौ कबरीमोक्षसंयमौ ॥२॥

स्वाङ्गावयववस्त्राणां निरन्तरविलोकनम्।
अश्रुपाताङ्गुलीमर्दौ श्लेष्मोत्सर्गो मुहुर्मुहुः ॥३॥

कान्तस्य गुणसौभाग्यसङ्क्रीडागुणसम्पदाम्।
सङ्कीर्तने महोल्लासाः साङ्गभङ्गविजृम्भणम् ॥४॥

श्रुतिसद्माङ्गुलिक्षेपः सस्मिते वचनेक्षणे।
एतान्ययत्नसाध्यानामिङ्गितानि समुन्नयेत् ॥५॥

साध्य परस्त्री के लक्षण

२-५—वश में आसानी से आने वाली स्त्रियों के लक्षण ये हैं—बांहों के मूल (कन्धे से बाहुओं के जोड़) कांख, पेट और स्तनों को (किसी बहाने से) दिखलाने की चेष्टा करती हैं; दिखा दिखा कर बच्चों को चूमती हैं और उनका आलिङ्गन करती हैं (बच्चों को छाती से चिपटाती हैं) बार बार वालों की चोटी को खोलती बांधती हैं; निरन्तर अपने अंगों और वस्त्रों को देखती हैं; कभी आंसू गिराकर पोंछती है कभी अंगुलियों को चटकाती हैं; बार बार खांस खकार कर थूकती हैं; प्रियतम के गुण, उसके सौभाग्य, उसके खेल के गुणों की निपुणताओं के वखान करने के अवसर पर अत्यन्त आनन्दित होती हैं, अंगों को मरोड़ती हैं और जंभाती हैं; कानों के विवर में अंगुली डालकर खुजलाती हैं; बातचीत करने और किसी की ओर देखने में मुस्कुराती हैं; इन्हीं चिह्नों को देखकर समझ लेना चाहिये कि इस प्रकार की स्त्रियां बिना ही प्रयत्न के वश में आ जाती हैं।

संव्याधीर्ष्यालुकुव्यक्तिधनहीनप्रवासिनाम्।
स्त्रियो यात्रादिसंरक्ता स्ताश्च साध्याः प्रकीर्तिताः ॥६॥

जिन पुरुषों की पत्नियां आसानी से काबू में आ जाती हैं

६—ऐसे पुरुषों की स्त्रियां बिना प्रयत्न के आसानी से काबू में आ जाने वाली बतलाई गई हैं—जो आमतौर से रोगी रहते हों, जो ईर्ष्या करने वाले हों; जो बुरे लोग हों अर्थात् दुष्ट, दुराचारी, कुरुप हों; धनहीन गरीब लोगों की पत्नियां आसानी से वशवर्ती हो जाती हैं। इसी प्रकार जो लोग धनोपार्जन इत्यादि के लिये अधिकतर परदेस में रहते हों। ऐसी स्त्रियों पर भी आसानी से अधिकार किया जा सकता है जो खेल तमाशा देखने तथा यात्रा करने की शौकीन हों; तथा यात्रा इत्यादि में ही निरन्तर लगी रहती हों।

परिस्थितियाँ भी पर स्त्री को सुलभ बना देती हैं—ऐसे पुरुषों की स्त्रियाँ प्रायः व्यभिचारिणी हो जाती हैं—प्रायः रोगी रहने वाले, ईर्ष्या करने वाले, बुरे, दुष्ट, दुराचारी, कुरुप, धनहीन, जीविकोपार्जन के लिये प्रायः विदेश में रहने वाले पुरुषों की स्त्रियाँ आचार मार्ग से आसानी से फिसल जाती हैं। स्वयं स्त्रियों की प्रवृत्ति भी फिसलने वाली होती है। ऐसी स्त्रियाँ खेल तमाशा (अब पिक्चर्स) देखने की अधिक शौकीन होती हैं। जो स्त्रियाँ अधिकाधिक यात्राओं को पसन्द करती हैं और जाती आती रहती हैं वे आसानी से काबू में आ जाती हैं।

ह्रीभयालङ्कृताः कान्ता दुःखार्ता लोभवर्जिताः।
साध्यालिङ्गविपर्यस्ताः असाध्यास्ताः प्रकीर्तिताः ॥७॥

जो स्त्रियां आसानी से काबू में नहीं आतीं

७—आसानी से वश में न आने वाली स्त्रियों के लक्षण ये हैं—जो स्त्रियां अत्यन्त लज्जाशील होती हैं, जो डरने के स्वभाव वाली होती हैं; जो दुःखी रहती हैं; जिनको लोभ नहीं होता। आसानी से सिद्ध होने वाली स्त्रियों के जो लक्षण बतलाये गये वे जिन स्त्रियों में नहीं होते या उनसे विपरीत लक्षण होते हैं ऐसी स्त्रियां असाध्य (काबू में न आने वाली) कही जाती हैं।

ऊपर जिन लक्षणों का उल्लेख किया गया है वे लक्षण जिन स्त्रियों में नहीं होते उन स्त्रियों पर डोरे डालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। जो स्त्रियाँ लजाती बहुत हैं; डरती हैं, जो दुःखी रहती हैं और जीवन से निराश हो गई हैं, जिन स्त्रियों को लोभ नहीं होता ऐसी स्त्रियों को काबू करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये, वे असाध्य होती हैं।

रजकी मालिनी धात्री योगिनी प्रतिवेशिनी।
सखी गोपालिका चेटी नापिती दूतिका मताः ॥८॥

दूती

८—धोबिन, मालिन, धाय, योगसाधना करने वाली, पडोसिन, सहेली, जानवरों का पालन पोषण करने वाली (चरवाही का काम करने वाली), दासी, नाइन ये दूती मानी जाती हैं।

ठीक तो यही रहता है कि सम्बन्ध अपने आप जोड़ा जाय। किन्तु यदि किसी मजबूरी से स्वयं मिलना जुलना सम्भव न हो तो ऐसी स्त्रियों को दूती के रूप में नियुक्त कर अपना स्वार्थ साधन करना चाहिये जिनका घरों में जाना आना लगा रहता है और जिनके आने जाने पर कोई सन्देह नहीं करता। ऐसी स्त्रियाँ आमतौर से नाइन, बारिन, धोविन मालिन आदि परजापजहरू, दासी, सखी, जानवरों को चुगाने वाली कोई पड़ोसिन या योगसाधिका सन्यासिन इत्यादि यह कार्य आसानी से कर सकती है।

प्रगल्भा युवती दक्षा परिज्ञातपरेङ्गिता।
दूती नियोज्यते कार्ये वक्रभाषितभूषिता ॥९॥

दूती के गुण

९—दूती में इन गुणों की आवश्यकता होती है—वे बोलने में निपुण हों, जवान हों, कार्य करने में दक्ष हों, दूसरों के इशारों और चेष्टाओं को आसानी से समझने की योग्यता रखती हों तथा वक्रोक्ति (घुमाकर बात कहने) की योग्यता से परिपूर्ण हों; ऐसी स्त्री को दूती बनाया जाता है।

ऐसी स्त्री को दूती बनाना जिसका घरों में आना जाना लगा रहता हो आने जाने मिलने जुलने पर कोई सन्देह न कर सके यह तो दूती की विशेषता हुई। किन्तु यदि वह मूर्ख या दुष्ट है तो उससे जीवन की समस्यायें भी उत्पन्न हो सकती हैं। अतः दूती की योग्यता पर

भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। इन विशेषताओं का उल्लेख आचार्य ने १५.९, १० में किया है। निपुणता, दक्षता, ईशारों की समझदारी, दूसरे की मनोभावना की परख, बात को घुमा देने की योग्यता, स्वयं घुमाकर बात कहने की आदत इन गुणों वाली दूती स्वयं यौवन की भावनाओं को समझती हो और उसकी बोली कोमल हो तो कोई भी युवती उसके वश में इस सीमा तक हो जाती है कि वह दूती के पीछे ऐसे चल देती है जिस प्रकार कोई पुत्री माता के पीछे चलती है और उसकी आज्ञा मानती है।

प्रतिपदमदनप्रदीपकैस्तैर्मृदुवचनैर्युवती तयाऽभिधेया।
कुसुमशररुजाविकीर्णधैर्या द्रुतमनुयास्यति यैः सुतेव दूतीम्॥१०॥

दूती का कर्तव्य

१०—दूती किसी प्रयोज्य युवती से ऐसी भाषा का प्रयोग करे जिसका प्रत्येक शब्द कामोद्दीपक हो, वचनों में अत्यन्त कोमलता होनी चाहिये। उससे ऐसी भाषा में बातचीत करे जिसे सुनकर वह दूती के पीछे ऐसे ही चल दे जैसे कोई पुत्री अपनी मां के पीछे पीछे चल देती है।

सप्रेमदानैर्मधुरैर्वचोभिः संरक्षितव्याः सततं युवत्यः।
अरक्षिता ह्यात्मपतित्रिवर्गनाशं करोत्यन्यजनानुरागात्॥११॥

पति का कर्तव्य

११—पति का कर्तव्य है कि वह निरन्तर अपनी पत्नियों (के सदाचार) की रक्षा करने में सचेष्ट रहे। इस कार्य के लिये प्रेम के साथ स्त्रियों की इच्छित वस्तुयें देता रहे और उनसे मधुर वचनों में व्यवहार करे। यदि स्त्रियों के चरित्र की रक्षा का ध्यान नहीं रक्खा जाता तो वे पर पुरुष के जाल में फंस जाती है और उससे अपना नाश तो करती ही हैं, पति का भी नाश करती है तथा धर्म, अर्थ और काम इन तीनों वर्गों का भी नाश कर देती है।

स्त्री का सदाचारिणी बनाये रखना पति का कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व होता है। यदि पति ठीक व्यवहार नहीं करता या ध्यान नहीं रखता तो स्त्रियाँ विगड़ जाती है और धर्म, अर्थ, काम इन तीनों वर्गों का नाश कर देती है। १५वें परिच्छेद के ११वें पद्य में आचार्य ने बतलाया है कि प्रेम के साथ स्त्री की आवश्यकता पूरी करनी और कोमल वचन बोलना पति के ऐसे गुण हैं जिनसे स्त्रियाँ वश वर्तिनी बनी रहती हैं और कभी दूसरी ओर निगाह नहीं डालतीं। १२वें पद्य में आचार्य ने वे स्थान बतलाये हैं जहाँ स्त्रियों में आमतौर से विगाड़ होता है। पति का कर्तव्य है कि उन स्थानों अवसरों पर स्त्रियों की चाल ढाल और व्यवहार पर विशेष ध्यान रक्खें जिससे स्त्रियों के चरित्र की रक्षा हो सके। १३वें पद्य में बतलाया गया है कि स्त्रियाँ किन अवस्थाओं और परिस्थितियों में दुराचारिणी बन जाती हैं

और अपने वश की मर्यादा का विचार छोड़ देती हैं। १४वां पद्य उप संहारात्मक है जिसमें बतलाया गया है कि किसी रूपवान पुरुष से बातचीत करने में स्त्रियों के हावभाव और चेष्टाओं पर यदि पुरुष ध्यान रखता है तो उनकी स्त्रियाँ सदाचारिणी और सुगृहिणी बनी रहती हैं। (किन्तु यदि विपरीत अवसर आये तो बिना सन्देह अभिव्यक्त किये हुये मधुर व्यवहार से उन्हें वश में लाना और उन परिस्थितियों से दूर रखना चाहिये। उन्हें इस बात का पता नहीं चलने देना चाहिये कि पति उनके चरित्र पर सन्देह कर रहा है क्योंकि इससे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।)

उद्यानतीर्थनटयुद्धसमुत्सवेषु　　यात्रादिदेवकुलबन्धुनिकेतनेषु।
क्षेत्रेष्वशिष्टयुवतीरतिसङ्गमेषु नित्यं सता स्ववनिता परिरक्षणीया॥१२॥

पत्नियों के चरित्र की रक्षा करने के स्थान

१२—सज्जन पुरुष को चाहिये अपनी पत्नियों के चरित्र की रक्षा निम्न स्थानों पर निरन्तर करता रहे—फुलवाडियों वाटिकाओं और पार्कों आदि में घूमने जाने पर, तीर्थ यात्राओं में, नटों के कर्तव्य देखने के लिये जाने पर, युद्ध के निमित्त बहुत दिनों के लिये जाने पर, महोत्सवों में जाने पर, यात्रा इत्यादि में देव मन्दिरों में दर्शन पूजन के लिये वहाने द्वारा घर से बाहर निकलने पर, खेतों में बन्धु बान्धवों एवं रिश्तेदारों के घरों में अशिष्ट स्त्रियों द्वारा रति संगम की बातचीत में पड़ने के अवसर पर इन स्थानों और अवसरों पर विशेष ध्यान देकर पत्नियों के चरित्र की रक्षा करें।

तारुण्यमोहमदनस्वजनोपरोधैर्धर्मार्थाकामकुतुकोत्सुकसुप्रभावैः।
दूत्याऽभिनन्दितविचित्ररताश्रयेण नार्यो भवन्त्यगणितार्यकुलोपचाराः॥१३॥

स्त्रियों के चरित्र पतन के कारण

१३—स्त्रियों के चरित्र पतन के ये कारण होते हैं—(१) जवानी का जोश, (२) अज्ञान, (३) काम वासना का उफान, (४) घरवालों और अपने लोगों का सीमातीत नियन्त्रण और दवाव, (५) धर्म, अर्थ और काम को जानने की उत्कट इच्छा से उत्पन्न उत्कण्ठा, (५) धर्म इत्यादि को जानने के इच्छुक एवं उत्कण्ठित लोगों का शक्तिशाली प्रभाव, (७) दूती द्वारा (किसी विशिष्ट व्यक्ति के) विचित्र संभोग की प्रशंसा के जाल में पड़ना। इन कारणों के उपस्थित होने पर नारियां अपने वंश की मर्यादा की परवा न करने वाली और उसका अतिक्रमण करने वाली बन जाती हैं।

चेष्टां विचार्य निभृतं निजसुन्दरीणां रूपोत्तमान्यनरलोचनगोचरेषु।
यस्या न सन्ति सुतरां कतितेङ्गितानि कान्तासु सैव गृहिणी बहुमाननीया॥१४॥

स्त्रियों की परीक्षा

१४—उत्तम रूप वाले अन्य पुरुष का सामना होने पर अपनी सुन्दरी पत्नियों की जो चेष्टायें होती हैं उन्हें गुप्त रूप से जानकर और उन पर विचार कर पत्नियों के चरित्र को समझ लेना चाहिये। ऐसे अवसरों पर जिसके पूर्वोक्त इशारे नहीं होते उसी को रमणियों में सुगृहणी पद की अधिकारिणी का अधिक सम्मान देना चाहिये।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में
अन्य स्त्री साधन एवं स्वदार परिरक्षण नामक
पन्द्रहवा परिच्छेद समाप्त

षोडशः परिच्छेदः

सेवनं योपितां कुर्याद् बुद्ध्वा पथ्यक्रमं बुधः।
बालायोग्याभिरूढाना मृतुयोगविभागतः ॥१॥

१६वें परिच्छेद में चार विषयों पर विचार किया गया है—स्त्री उपभोग का समय, स्त्री वशीकरण के लिये साधना, वशीभूत स्त्री का पहिचान और उपयोग्य उत्तम स्त्री

(अ) उपभोग योग्य समय

स्त्री की विधा	आयु	उपभोग्य ऋतु	उपभोग का प्रभाव	प्रेम योग्य स्थिति	विशेष
वाला	१६ वर्ष तक	ग्रीष्म और शरद्	शक्ति का बढ़ना	बैठी हुई	
तरुणी (योग्या)	१७ से ३०	शीतकाल	शक्ति का ह्रास	लेटी हुई	अन्य आचार्य जिसे तरुणी कहते हैं उसे पद्मश्री ने योग्या भी कहा है।
अभिरूढा (प्रौढ़ा)	३१ से ५५	वर्षा और वसन्त	वृद्धावस्था लाती है	जब वह उठ रही हो	सामान्य अभिधान प्रौढ़ा या जरती जिसे पद्मश्री ने भी अभिरूढ़ा कहा है।
वृद्धा	५५ के बाद	कोई ऋतु नहीं	मृत्यु निकट लाती है	कोई समय नहीं	यह सहवास के लिये सर्वथा अयोग्य होती है

(आ) स्त्री वशीकरण—(१६.९-१०, १४) इसमें स्त्री वशीकरण के लिये ध्यान की विधि बतलाई गई है। जिस सुन्दरी में अपना मन लगता हो और मन में निरन्तर उसकी भावना आनन्द देती हो उसके प्रति प्रेम अपनी आत्मा से ही उत्पन्न होता है। उसका ध्यान करके प्राणायाम करे जिसमें पहले नाभि में, फिर हृदय देश में और इसके बाद कण्ठ में श्वास होकते हुए स्वयं में कामदेव की भावना करें अर्थात् यह समझें कि मैं कामदेव हूं। प्राणायाम करते हुये काम गायत्री का सात वार जप करे। यहाँ आचार्य ने ऋग्वेद तृतीय मण्डल के गायत्री मन्त्र के कुछ शब्द जोड़ तोड़ कर काम गायत्री मन्त्र बना दिया है। इस प्रकार प्राणायाम और गायत्री जप के बाद अपनी श्वास चुम्बन इत्यादि के बहाने से अपनी प्रेमिका को पिला दें किन्तु ध्यान रहे कि उसकी श्वास खुद न पिये। इस क्रिया से चाही हुई सुन्दरी वशवर्तिनी बन जाती है।

(यह भी एक प्रकार की तान्त्रिक क्रिया ही है।)

(इ) वशीभूत स्त्री की पहिचान—१२वें और १३वें पद्य में वशीभूत स्त्री की पहिचान बतलाई गई है। किन्तु इसमें जो लक्षण बतलाये गये हैं वे तो सामान्य सहवास काल में भी होते हैं। अतः इन्हें साधना से सिद्ध हुई स्त्री की पहिचान नहीं कहा जा सकता।

(ई) उपभोग्य उत्तम स्त्री—१४वें पद्य में बतलाया गया है कि जिसमें अपना मन रमता है वही सुन्दरी अपने लिये सर्वोत्तम होती है। यह एक सामान्य विचार है जिसका समर्थन चरक इत्यादि ग्रन्थों एवं कामशास्त्रीय सिद्धान्तों से भी हो जाता है।

स्त्री सेवन विषयक परामर्श

१—निपुण व्यक्ति को चाहिये कि स्वास्थ्य क्रम और उपयोग तथा योग्यता को समझ कर स्त्रियों का सेवन करे। वाला, योग्या (तरूणी) अभिरूपा (गलित यौवना) इनके ऋतुकाल के विभाग को समझकर इनका सेवन करना चाहिये।

(यहं तरुणी को योग्या और जरती को अभिरूढा कहा गया है।)

बालेति गीयते नारी यावच्छोडशवत्सरम्।
ततः परं च तरुणी सा यावत् त्रिंशतं भवेत्॥२॥

तदूर्ध्वमभिरूढास्याद्यावत् पञ्चाशतं पुनः।
वृद्धा ततः परं ज्ञेया सुरतोत्सववर्जिता॥३॥

स्त्रियों का आयु विभाजन

२-३—जब तक नारी १६ वर्ष की आयु पर्यन्त रहती है बाला कही जाती है। उसके बाद वह तरुणी रहती है जब तक तीस वर्ष की हो जाती है। उसके बाद अभिरूढा कही जाती है जो ५० वर्ष की आयु तक रहती है। इसके बाद वृद्धा समझी जानी चाहिये जो सुरत के उत्सव से रहित होती है।

निदाघशरदोर्बाला पथ्या विषयिणां भवेत्।
हेमन्ते शिशिरे योग्या, प्रौढा वर्षावसन्तयोः॥४॥

ऋतुओं के अनुसार नारियों का उपभोग

४—विषयों का सेवन करने वालों के लिये ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं में बाला पथ्य (स्वास्थ्य के अनुकूल होती है) योग्या (तरुणी) हेमन्त और शिशिर में ठीक रहती है; तथा वर्षा और वसन्त में प्रौढा (जरती) अनुकूल पड़ती है।

सततं सेव्यमानाऽपि बाला वर्धयते बलम्।
क्षयं नयति योग्या स्त्री, प्रौढा तु कुरुते जराम्॥५॥

उक्त विषय में विशेषता

५—बाला का सेवन निरन्तर (चाहे जिस ऋतु में) करने पर भी वह बल बढ़ाती है। योग्या (तरुणी) शक्ति को क्षीण करती है और प्रौढा सेवन करने पर बुढापे को नजदीक लाती है।

अलोमकाः सतिलका नित्यं सेव्यास्तु योनयः।
अलोमकत्वं कक्षेण, मुखेन ज्ञायते तिलः ॥६॥

६—स्त्रियों के जिस गुप्ताङ्ग पर बाल उगे हुये न हों और उस पर तिल भी हो ऐसी योनियों का निरन्तर सेवन करना चाहिये। कांख को देखकर लोम हीनता समझ ली जानी चाहिये और मुख को देखकर तिल की स्थिति जान लेनी चाहिये।

(इसका आशय यह ज्ञात होता है कि यदि कांख में बाल नहीं होते तो योनि पर भी नहीं होते। यदि योनि पर तिल होता है तो मुख पर भी होता है। अतः मुख देखकर योनि को समझ लेना चाहिये। (अन्यत्र कहा भी गया है—'स्त्री गुप्तांग के छोर पर या दाहिनी ओर यदि तिलक होता है वह योनि प्रशसंनीय कही जाती है।)

आसीने लालयेद् बालां, तरुणीं शयने तथा।
उत्थिते चाभिरूढां तु, लालनं त्रिविधं मतम् ॥७॥

प्रेम करने की स्थिति

७—बाला से उस समय प्यार करना चाहिये जब वह बैठी हो। तरुणी से प्यार तब करना चाहिये जब वह चारपाई पर लेटी हुई हो; प्रौढा से प्रेम उठने के अवसर पर करना चाहिये।

मेहनं नारभेत्तावद्यावन्नोत्कण्ठिता प्रिया।
अन्यथा तत्सुखोच्छित्ति रशीतेऽर्ककरादिव ॥८॥

सम्भोग का अवसर

७—तब तक सम्भोग कार्य प्रारम्भ नहीं करना चाहिये जब तक प्रेयसी में उत्कण्ठा (सम्भोग की कामना जागृत न हो जाय) अन्यथा उसके सुख का विघात उसी प्रकार हो जायेगा जैसे शीत न होने पर सूर्य की किरणें कष्ट दायक हो जाती हैं।

(यहां आशय सम्भोग के प्रारम्भ करने का है जिसके लिये मोहन शब्द ठीक नहीं है। 'मेहन' शब्द का प्रयोग होना चाहिये। मेहन अर्थात् लिंग का कार्य।)

नाभिहृत्कण्ठदेशेषु दधत् श्वासं न यः क्रमात्।
कामोऽहं भावयेत् कामी गायत्रीं सप्तधा जपेत् ॥९॥

सुन्दरी का वशीकरण

९-११—क्रमशः नाभि, हृदय और कण्ठ देश में श्वास क्रिया को न सञ्चालित करते हुये (प्राणायाम धारण करते हुये) कामी व्यक्ति 'मैं कामदेव हूं' यह भावना अपने अन्दर धारण करे और सात प्रकार से गायत्री जपे:—कामगायत्री यह है:—

गायत्री यथा—

ॐ नमो मनोभवाय विद्महे कन्दर्पाय धीमहि तन्नः कामः प्रचोदयात् ॥१० ॥

व्याजेन चुम्बनादीनामुच्छवासं पाययेत् प्रियाम् ।
तेन सा वशमायाति न तस्यास्तु स्वयं पिबेत् ॥११ ॥

इस गायत्री मन्त्र का जप करने के बाद चुम्बन इत्यादि के वहाने से अपनी गहरी श्वास प्यारी को पिला दे जिससे वह वश में आ जाती है; किन्तु उसकी श्वास स्वयं न पिये।

सीत्कारश्च हकारश्च श्वसितञ्च त्रपाक्षयम् ।
प्रस्विन्नवदनं चैव विकारोऽथ भगस्य च ॥१२ ॥

बुद्ध्वा चैतानि लिङ्गानि प्रियायाः सुतरां बुधः ।
तया तुल्यसुखं चैतदात्मरागं समारभेत् ॥१३ ॥

नायिका के उत्कण्ठित होने के लक्षण

१२-१३—नायिका के उत्कण्ठित हो जाने के चिह्न होते हैं—वह सी सी की आवाज करके प्रेम प्रदर्शित करती है; हकार का प्रयोग करती है 'हा' या 'हाय' (जो आन्तरिक पीडा की द्योतक होती है।) गहरी श्वासें लेती है; लज्जा की समाप्ति हो जाती है; चेहरे पर पसीने की बूंदे झलकने लगती हैं और योनि में विकार उत्पन्न हो जाता है—(योनि फड़कने लगती है और उससे जल रसने लगता है।) बुद्धिमान व्यक्ति प्रिया के इन चिह्नों को देखकर और समझकर अपने राग को प्रारम्भ करे ऐसा राग जिसमें दोनों को समान सुख की प्राप्ति हो।

सुन्दर्यामनिशं यस्यां रमते चित्तमात्मनः ।
सैवेयं भावनीया स्यादात्मरागसमुद्भवः ॥१४ ॥

भावना योग्य स्त्री

१४—जिस सुन्दरी में अपना चित्त निरन्तर रमता रहता हो और जिसमें अपने राग की उत्पत्ति हो उक्त प्रकार से उसी की भावना करना उचित है। उसी में अपने राग का उद्भव होता है।

एवं सञ्चोदिता नारी नान्यमिच्छति मानवम्।
क्लीवोऽपि हृदयं तस्याः प्राप्नोत्येव न संशयः ॥१५ ॥

१५—इस प्रकार के लिये प्रेरित (प्रयुक्त) की हुई नारी किसी दूसरे मनुष्य को नहीं चाहती। नपुंसक व्यक्ति भी उसके हृदय में स्थान प्राप्त कर लेता है इसमें संदेह नहीं।

इति नरैर्विधिना परिसेविता परमशर्म समेत्य नितम्बिनी।
तृणवदर्ज्जितजीवितनिस्पृहा त्यजति याम्यपुरेऽपि न बल्लभम् ॥१६ ॥

१६—पुरुषों द्वारा इस प्रकार की विधि से पूर्ण रूप से सेवन की हुई कामिनी महान सुख सम्मान और कल्याण को प्राप्त कर जीवन की इच्छा को तृण के समान समझने की भावना को उपार्जित कर यमराज के नगर में भी अपने प्यारे का परित्याग नहीं करती।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में
नायिकाओं का पथ्यक्रम तथा लालनादि निर्देशक
सोलहवाँ परिच्छेद समाप्त

सप्तदश परिच्छेद

पादाग्रजङ्घोरुषु योनिनाभि कुक्षौकुचे हस्ततले गले च।
ओष्ठे कपोले नयने श्रुतौच शीर्षे तथा सर्वशरीरदेशे ॥१ ॥

स्थानेषु चैतेषु तिथिक्रमेण नितम्बिनीनां समुदेति कामः।
वामाङ्गभागोपरि शुक्लपक्षे कृष्णे च सव्यावयवे तथैव ॥२ ॥

इस परिच्छेद से १९वें परिच्छेद पर्यन्त आचार्य ने तान्त्रिक प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में स्त्री शरीर का निर्वचन किया है। अतः उस प्रक्रिया को ठीक रूप से समझने के लिये तन्त्र विधि पर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक है—

तन्त्रयुग १०वीं ११वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। वैसे कहा जाता है नेपाल में ५वीं शताब्दी में ही इसके लक्षण पाये जाने लगे थे और सातवीं आठवीं शताब्दी में उनका अच्छा खासा प्रचार हो गया था। इस सम्प्रदाय की अहिर्बुध्न्य संहिता का रचनाकाल चौथी शताब्दी बतलाया जाता है। तन्त्र साहित्य और सम्प्रदाय का प्रचार प्रमुख रूप में बंगाल में हुआ था। फिर वहाँ से आसाम, नैपाल, कश्मीर, तिब्बत, दक्षिण भारत इत्यादि समस्त भारतीय प्रदेशों में और बौद्ध धर्म के साथ विदेशों में भी फैला। इस विषय की रचनायें सैकड़ों की संख्या में बतलाई जाती हैं—कुछ प्राप्य हैं कुछ अप्राप्य। प्रमुख रचनाओं का नामोल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

(१)—अहिर्बुध्न्य संहिता रचनाकाल चौथी शताब्दी; (२)—महानिर्वाण तन्त्र यह अत्यन्त प्रतिष्ठित रचना है और कहा जाता है भगवद्गीता के बाद भारतीय साहित्य में इसका दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान है; (३)—कुलार्णवतन्त्र; (४)—कुल-चूडामणि; (५)—प्रपञ्चसार इत्यादि।

तन्त्र साहित्य शाक्त, शैव और वैष्णव इन तीन सम्प्रदायों में उपलब्ध होता है। वैष्णवों में संहिता, शैवों के आगम और शाक्तों के तन्त्र इन तीनों को मिलाकर सभी को तन्त्र नाम दे दिया जाता है। इनका विषय लगभग एक ही है—सबमें ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या का समावेश किया गया है। तन्त्र ग्रन्थों की रचना प्रायः भैरव भवानी संवाद रूप में हुई है। कहीं भैरव गुरु हैं और भवानी उनकी शिष्या। उन ग्रन्थों को आगम की संज्ञा दी जाती है। इसके प्रतिकूल कहीं भैरव शिष्य के रूप में प्रस्तुत हुये हैं; वे प्रश्न करते हैं और भवानी गुरु बनकर उत्तर देती हैं। उन्हें निगम कहा जाता है।

तन्त्र साहित्य में विचित्र रूप में उच्चकोटि की उदात्त धार्मिक एवं दार्शनिक भावनाओं के साथ निम्नस्तर के ऐन्द्रिय उपभोग विधान का घोलमेल है। जहाँ एक ओर ब्रह्मवाद,

सांख्य, योग, मीमांसा, उपनिषद् इत्यादि के प्रतिपादनों की इस साहित्य में विस्तृत चर्चा है, धार्मिक जीवन विताने पर बल दिया गया है वहीं ५ मकारों का विधान है—(१) मद्य—मानवता की सबसे बड़ी औषधि है और सभी दु:खों को भुला देती है। (२) माँस—शक्तिवर्धक खाद्य जो नगर, जंगल, वायु के अधिकांश जीवों का पोषक आहार है। (३) मत्स्य—स्वादिष्ट और प्रजनन शक्ति बढ़ाने वाला खाद्य। (४) मुद्रा—पृथ्वी पर उत्पन्न अन्न जो तीनों लोकों के जीवन की जड़ है और (५) मैथुन—सभी प्राणियों का सर्वाधिक आनन्द दायक तत्व जो परम्परा को कायम रखता है। किन्तु ५ मकारों के सेवन में नियन्त्रण आवश्यक है।

उक्त ५ मकारों में मैथुन पर विशेष विचार किया गया है। मैथुन केवल अपनी पत्नी के साथ ही करना चाहिये। धर्मशास्त्र में विवाह की आठ विधियाँ बतलाई गई हैं—दो विवाह विधियाँ—ब्राह्म और आसुर शुल्क मूलक हैं। प्रथम में वर पक्ष शुल्क लेता है; दूसरे में कन्या पक्ष को शुल्क देकर विवाह किया जाता है। दो विधियाँ प्राजापत्य और गान्धर्व स्वयं वर वधू द्वारा प्रयोजित होती है—प्रथम में दोनों स्वयं विवाह का निश्चय कर अभिभावकों का आशीर्वाद लेकर विवाह बन्धन में बँधते हैं; द्वितीय में स्वत: मिलकर विवाह निश्चय के साथ सम्भोग भी कर लेते हैं; तब माता पिता को सूचना देते हैं। दो विधियाँ दैव और आर्ष धर्म मूलक हैं—प्रथम में कन्या का पिता यज्ञ की दक्षिणा के रूप में कन्यादान करता है; दूसरे में वर गाय बैल लेकर कन्या के यहाँ जाता है और कन्या के पिता को यज्ञ के घी के निमित्त उस जोड़े को प्रदान कर कन्या का वरण करता है। दो अन्य विधियाँ राक्षस और पैशाच कन्या पर अत्याचार मूलक है—प्रथम में बलात् कन्या का अपहरण किया जाता है और द्वितीय में कन्या को धोखे से शराब मिलाकर और वेहोश करके सहवास करलियाजाता है और तब कोई अन्य चारा न रहने से कन्या विवाह के लिये वाध्य हो जाती है। ये विवाह स्थायी होते हैं। इनके अतिरिक्त तन्त्र में एक और विधि मानी गई है—शिव या रुद्र विवाह इसमें जमीन पर, कागज पर या पीतल पर एक चक्र बनाया जाता है जिस प्रकार आजकल पूजा विधि में औरतें आटे से चौक रखती हैं, उस चक्र को सामने रखकर 'ओं एं ह्रीं, क्लीं' इस मन्त्र से संक्षिप्त सा पूजन कर किसी भी विवाहिता या अविवाहिता स्त्री को थोड़े समय के लिये पत्नी बना लिया जाता है और इस प्रकार उस स्त्री केसाथ किया हुआ सहवास अपनी पत्नी के साथ किया गया सहवास ही होता है उसमें दोष नहीं लगता। सामूहिक चक्र भी आयोजित किये जाते हैं जिसमें केवल एक प्रतिबन्ध होता है कि माता के साथ सहवास नहीं किया जाता शेष सभी स्त्रियाँ उपभोग्य होती हैं।(मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु।) इस विषय में तान्त्रिकों की एक व्यवस्था है कि उसमें ब्राह्मणादि चार वर्णों के अतिरिक्त एक पांचवाँ सामान्य नामक वर्ण और माना जाता है। जो साधक होने का अधिकारी है वह चक्र में प्रविष्ट होने का अधिकारी है। चक्र में प्रविष्ट होकर स्वस्त्री के अतिरिक्त किसी भी स्त्री से सहवास कर सकता है। चक्र में जाति पांति वर्ण इत्यादि के सारे भेद समाप्त हो जाते हैं और सभी की एक जाति बन जाती है। उस समय सभी पुरुष

केवल पुरुष रह जाते हैं और सभी स्त्रियाँ केवल स्त्रियाँ रह जाती हैं। उनके सारे पारस्परिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। कहीं कहीं उस सामान्य जाति को द्विजाति में सम्मिलित किया जाता है ।((प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः। निवृत्ते भैरवी चक्रेसर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥)) उस समय सभी पुरुष सब स्त्रियों से स्वेच्छा से पति पत्नी व्यवहार करने के अधिकारी हो जाते हैं।

प्रयञ्चसार एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसके विषय में कहा जाता है कि इसकी रचना भगवान् शंकर के अवतार शंकर ने की थी। शंकर के नाम पर कई रचनायें बतलाई जाती हैं; किन्तु इसमें सन्देह है कि ये रचनायें उन्हीं शंकराचार्य की हैं। इसमें काल निर्णय, भ्रूण, गर्भ, शरीर विज्ञान इत्यादि का भी विवेचन है। किन्तु अभिचार प्रक्रिया की प्रधानता है। इसके अनुसार मानव शरीर ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म प्रतिकृति है जिसमें अज्ञात तत्त्व की असंख्य नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। इनसे संबन्धित ६ महान चक्र (केन्द्र) हैं जिनमें सबसे नीचे और सबसे महत्त्वपूर्ण लिङ्गचक्र है। लिंग रूप में विराजमान ब्रह्म को कुण्डलिनी घेरे हुए है। इस कुण्डलिनी का प्रसार ऊपर को सर्वोच्च साधना और योग की ओर होता है जिसमें मोक्ष की प्राप्ति होती है। 'ओं ऐं ह्रीं क्लीं फट' इत्यादि एकाक्षरी मन्त्र अर्थहीन होते हैं। ये बीज हैं जो कि सिद्धि रूप फल प्रदान करते हैं। इनके संकेत ब्राह्मणों और उपनिषदों में भी मिलते हैं।

दीक्षा में मातृपूजन और देवी के ध्यान का अधिक महत्त्व है। इस समस्त साहित्य में रत्यात्मक तत्त्वों का प्राधान्य है। प्रपञ्चसार में इसकी विशेष व्याख्या की गई है—'जब मन्त्रों से देवताओं और दानवों की स्त्रियाँ वशवर्ती बना ली जाती हैं तब वे प्रेम की मदिरा से मदमत्त होकर अपने जेवरों को विखेरती हुई अपने रेशमी वस्त्रों को नीचे की ओर ढीले कर एवं सरकाती हुई अपने स्वरूप को अपने लम्बे बालों से ढकती हुई निकट आ जाती हैं; उनकी प्रत्येक अस्थि प्रेम की असहनीय वेदना से कांपती हैं। उनकी जांघों और स्तनों पर पसीने की बूंदें मोतियों के समान झलकने लगती हैं; वे कामवाणों से बिंधी होती हैं; उनके शरीर प्रेमजन्य उत्तेजना के सागर में डूबे रहते हैं। उनकी गहरी श्वासों के झंझाबात से उनके ओठ कांपते रहते हैं। स्त्री पुरुष का सम्मिलन एक यज्ञ का कार्य होता है जो बुद्धि से अहंकार के सम्मिलन का प्रतीक होता है। यदि कोई पुरुष पत्नी को इस प्रकार वशवर्ती बना लेता है तो वह जन्मान्तर में भी उसे प्राप्त होती है। इसमें अर्धनारीश्वर का वर्णन है जिसमें भैरव (शिव) के अर्ध भाग में भोगासक्त रमणी विद्यमान है। कृष्ण और राधा के प्रेम का भी वर्णन उक्त ग्रन्थ में किया गया है। इसी प्रकार ज्ञानार्णव तन्त्र और शारदातिलक तन्त्र में भी परिचित विषय आये हैं। कुमारी पूजन का भी महत्त्व है।

उक्त विवेचन का आशय यह है कि वात्स्यायन के कामसूत्रों की रचना के समय तक तन्त्र शास्त्र का उदय नहीं हुआ था। वात्स्यायन ने धर्म, अर्थ और काम की सामाजिक मर्यादाओं का ध्यान रखते हुये अपने समय के सभी अतिक्रमणों का निर्मुक्त रूप में वर्णन इस दृष्टि से किया कि सामाजिक जन उन अतिक्रमणों को जानकर स्वयं उनसे बचने का

प्रयत्न करें और पुरुष स्त्री के तथा स्त्री पुरुष के सम्भावित अतिक्रमणों को जानकर स्वयं उनसे वचने का प्रयत्न करें और पुरुष स्त्री के तथा स्त्री पुरुष के सम्भावित अतिक्रमणों को जानकर अपने सहयोगी को उनसे बचाने की चेष्टा करे। इस विषय में तन्त्र विद्या का दृष्टिकोण भिन्न है। तन्त्र प्रवर्तकों का दृष्टिकोण यह ज्ञात होता है कि जब तक जन समाज पूर्ण रूप से भौतिकता से और विशेष रूप से इन्द्रिय आकर्षणों से मुक्त नहीं हो जायेगा वह कभी भी धार्मिक और आध्यात्मिक सञ्चेतना प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिये तान्त्रिक लेखकों ने आध्यात्मिकता की प्रौढ़ता का प्रतिपादन करते हुये भी यौन सुखोयपभोगों को एक धार्मिक आवरण भी प्रदान कर दिया। वस्तुतः लक्ष्य दोनों का एक ही है—कामसूत्र कार उन जालों का पूरा ज्ञान कराकर उनसे बचने का उपदेश देते हैं जबकि तन्त्रकार यौन सुखोपयोग की किसी भी प्रवृत्ति को धार्मिक जामा पहिनाकर उस क्षेत्र में पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हुई मानवता को अध्यात्म की ओर उन्मुख करने की चेष्टा करते हैं। अन्यथा एक ओर उच्चकोटि के अध्यात्मवाद और दूसरी ओर इन्द्रिय सुखोपयोग को सर्वसुलभ बनाने का और अर्थ ही क्या हो सकता है?

१-२—पैर के अग्रभाग, जंघा, दोनो उरु, योनि, नाभि, कुक्षि, दोनो स्तन, हथेली, कण्ठ, ओठ, कपोल, दोनो नेत्र, कान, सर तथा समस्त शरीर में, इन सब स्थानों में तिथि के क्रम से सुन्दरियों में काम का उदय होता है, शुक्लपक्ष में बायें अंगों के ऊपर और उसी प्रकार कृष्णपक्ष में दाहिने अंगो पर काम का उदय होता है।

(कृष्णपक्ष परिवा के दिन स्त्रियों का कामदेव मांग (मस्तक में बालों के मध्य) में होताहै, बालों को अंगुलियों से सहलाने पर कामदेव का विकास होता है। फिर आंख अधर, इत्यादि क्रम से उतरता हुआ अमावस्या को पैर के अंगूठा में जागृत होता है। फिर शुक्लपक्ष परिवा के दिन काम का वास पैर के अंगूठे में रहता है; फिर क्रमशः ऊपर चढ़ता हुआ पूर्णमासी को मस्तक के दाहिने भाग में रहता है। फिर कृष्णपक्ष में बाई ओर से उतरने लगता है। यह कल्पना कहां तक सही है कहा नहीं जा सकता।)

अङ्गुष्ठमूलात्प्रभृति क्रमेण यावच्छिखामूलमुपैति कामः
कृष्णे तु पक्षे चरणाग्रदेशं प्रयाति नित्यं शिरसस्तथैव ॥३ ॥

उक्त बात प्रस्तुत पद्य में कही गई है

३—अंगूठे की जड़ से लेकर क्रमशः जब तक काम शिखा के मूल में पहुंच जाता है (तब तक ऊपर को चढ़ता रहता है।) उसी प्रकार कृष्ण पक्ष में तो सर से नित्य ही चरण प्रदेश की ओर नीचे को उतरता जाता है।

अङ्गुष्ठमूलेषु अ, आ च जंघायुगे, इ ऊरावपि, ई च योनौ।
नाभ्याम् उ, ऊ कुक्षितटे, कुचे ऋ, करे तथा ॠ, लृ च कण्ठदेशे ॥४ ॥

लृ चाधो, ए सततं कपोले नेत्रे त्व ऐ, कर्णयुगे तथा ओ
शिखाश्रये औ कथितो रतज्ञैः सर्वाङ्गदेशे च सदैव अं अः ॥५ ॥
सर्वाङ्गदेशे मदनस्यबीजमिष्टाक्षरं सेन्दुसबिन्दुशीर्षम् ।
बीजं शरच्चन्द्रकलावदातं सञ्चोदयेत्सूर्यनिभं प्रदीप्तम् ॥६ ॥

अंगों में स्वर न्यास

४-५—अंगूठे की जड़ में अ, दोनों जंघाओं में 'आ' उरू में इ, योनि में ई, नाभि में उ, कोख में किनारे पर ऊ, स्तन में ऋ, हाथ में ॠ, कंठदेश में लृ, अधर में लॄ, कपोल में निरन्तर ए, नेत्र में ऐ, उसी प्रकार दोनों कानों में ओ, रति शास्त्र के जानकारों द्वारा शिखा के आश्रय में औ कहा गया है, सर्वांग देश में अं अः की भावना करनी चाहिये। सर्वांगदेश में काम के बीज इष्ट अक्षरों का चन्द्रकला के साथ सर पर बिन्दु के संयोग से इन बीज मन्त्रों की भावना करनी चाहिये। इन बीजों की इस रूप में भावना करनी चाहिये मानो ये शरत् कालीन चन्द्रमा के समान प्रकाशमान हों और सूर्य के समान प्रदीप्त हों। इन बीजों को विभिन्न अंगों में प्रेरित करना चाहिये।

(मन्त्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करना भारतीय साधना की विशेषता है। तन्त्र साधना में एकाक्षर मन्त्र होते हैं जैसे ऐं, ह्रीं, क्लीं इत्यादि। इन मन्त्रों का जप किया जाता है। यहां लेखक ने सुन्दरी के विभिन्न अंगों को छेड़ने में विभिन्न अक्षरों के एकाक्षरी मन्त्रों की भावना करने का निर्देश दिया है।)

बीजमन्त्र—तन्त्र प्रवृत्ति सरली करण और तत्त्वों को सर्वजन सुलभ बनाने की रही है। इसी प्रवृत्ति के आधीन ८ विवाह विधियों के अतिरिक्त एक नई रुद्र विवाह विधि का प्रवर्तन किया गया और इसी दृष्टिकोण से ब्राह्मणादि चार वर्णों के साथ सामान्य जाति और वर्ण की कल्पना की गई। विधि विधान भी जटिल थे और विशेष रूप से लम्बे-लम्बे वैदिक मन्त्रों में दुरुहता आ गई थी। इस दुरुहता को दूर करने के लिये एकाक्षरी बीज मन्त्रों की कल्पना की गई। यह मान लिया गया कि वर्णों में देवता को अपने वश मेंकरने की शक्ति सन्निहित रहती है। इसके लिये विशिष्ट देवताओं के लिये विशिष्ट बीजों को स्वीकार किया गया। उदाहरण के लिये 'क्लीं' यह बीजमन्त्र कामदेव का माना गया, 'ह्रीं' बीज विद्यादेवी का माना गया। इन मन्त्रों की बढ़ा चढ़ाकर प्रशंसा की जाती थी; अतः इन्हें तन्त्रेतर धार्मिक विचारधारा में भी स्वीकार कर लिया गया। संस्कृत के महान कवि नैषधकार श्रीहर्ष ने 'ओं ह्रीं क्ली' इस मन्त्र को चिन्तामणि मन्त्र माना है और इसकी प्रशंसा में लिखा है कि एक वर्ष पर्यन्त जो इस मन्त्र को जपता है उसे इतनी सफलता मिल जाती है कि वह जिसके सर पर हाथ भी रख देता है वह भी धारावाहिक रूप में श्लोक रचना करने लगता है तथा कोई भी सुन्दरी उसकी ओर खिची चली आती है।

इस १७वें परिच्छेद में स्त्री के विभिन्न अंगों में काम के वास की तिथियाँ बतलाई गई हैं। स्त्री की योनि की मदवाहिनी नाड़ी को चन्द्रा नाड़ी कहा जाता है और उसके उद्दीप्त करने को चन्द्रकला उद्दीपन की संज्ञा दी जाती है। दूसरे कामशास्त्रकारों ने भी विभिन्न अंगों में तिथिक्रम के अनुसार काम वास का विवेचन किया है। किन्तु उनके विवेचन में अन्तर यह है कि वे उन अंगों को छेड़कर स्त्री की चन्द्रकला उद्दीप्त करने की बात कहते हैं। उदाहरण के लिये कृष्णपक्ष की द्वितीया और शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को क्रमशः बाईं और दाहिनी आँख में कामदेव का वास रहता है। अतः उस दिन निर्दिष्ट आँख का चुम्बन करने से स्त्री की चन्द्र कला जागृत हो जाती है। पद्मश्री ने काम-वास के अंग तो अन्य आचार्यों के समान ही माने हैं; किन्तु उसे उद्दीप्त करने के लिये विभिन्न अक्षर बीजों का निर्देश किया है। यह सभी विचार साम्प्रदायिक विचार मात्र हैं या इसका कोई प्रभाव पड़ता है इस विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

विभावयेत्तद्दयिताशरीरे
ततो निरुन्मेषविलोचनायाः।
(नितान्तनिःस्यन्दितनोः प्रियायाः)
विहाय बाह्यान् विभवान् भवेयुः ॥७॥

मु (स?) खे निलीनानि षडिन्द्रियाणि
(तप्तानि सर्वाणि भवन्ति तन्व्याः) ॥८॥

७-८—उक्त 'अ' इत्यादि सभी मन्त्रों की भावना अपनी प्रियतमा के शरीर में करनी चाहिये। तब स्थिति यह हो जायेगी कि उस प्रियतमा का पलक झुकना बन्द हो जायेगा और वह टकटकी पूर कर देखने लगेगी। उन मन्त्रों के प्रभाव से उसके प्रियतमा के सारे शरीर में प्रेम जन्य स्वेद प्रवाहित होने लगेगा और वे सब इन्द्रियां सभी बाह्य विषयों को छोड़कर अन्तर्मुख हो जायेंगी। उस तन्वी की सभी छः इन्द्रियां मुख (शरीर के मुख्य भाग) में विलीन होकर पूर्णतृप्त हो जायेंगी।

(इस कथन में सार यही प्रतीत होता है कि यदि किसी सुन्दरी के अंगों का इस प्रकार निरन्तर ध्यान किया जायेगा तो हृदय हृदय को समझता है अतः वह भी प्रभावित हुये बिना नहीं रहेगी। इसके अतिरिक्त वह सुन्दरी बीजमन्त्रों के प्रभाव से क्यों और कैसे प्रभावित होगी यह रहस्य है जो सामान्य बुद्धि से समझा नहीं जा सकता।)

इति चिन्तितमात्रेण स्त्रीणां तृप्तिःप्रजायते।
विनाऽपि योनिलिङ्गाभ्यां संसर्गेण वरानने! ॥९॥

९—इस प्रकार चिन्तन करने से ही स्त्रियों की तृप्ति हो जाती है। (शङ्कर जी पार्वती से कहते हैं कि) हे सुन्दर मुख वाली ! इस क्रिया से लिंग और योनि के संसर्ग की आवश्यकता ही नहीं पड़ती और स्त्रियां तृप्त हो जाती हैं।)

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में मदनोदय नामक
सत्रहवाँ परिच्छेद समाप्त

अष्टादशः परिच्छेदः

मुखं चतुर्विंशतिनाडिकानां मदावहानां मदनातपत्रम्।
नारीवराङ्गोदरमध्यवर्ति प्रचोदयेत्र्यक्षरबीजयुक्तम्॥१॥

१—स्त्री का मदनच्छत्र (योनि का ऊपरी भाग—पेंडू) मदवाहिनी २४ नाड़ियों का मुख (मुख्य सम्मिलन स्थल एवं निर्गम स्थल) है। (नारी के पूरे शरीर में कामोत्तेजक नाड़ियां बिखरी रहती हैं जो योनि में आकर मिलती है। अतः नारी के किसी स्थान का स्पर्श कामोत्तेजना में कारण होता है।) ये नाड़ियां योनि गह्वर के मध्य भाग में मिलती हैं। तीन अक्षरों के बीज मन्त्र के साथ उन्हें उत्तेजित करे।

उच्चारितानां क्रमशः कलानां द्वितीयकं पञ्चदशस्थमेकम्।
विसर्गमध्यं प्रणवादिमन्त्र मुद्घातयेत् त्र्यक्षरनामधेयम्॥२॥

॥ॐ आः अं॥

२—उच्चारित कलाओं (स्वरों) के क्रम में दूसरा 'आ' और एक दूसरा १५वें स्थान पर स्थित 'अं' इन दोनों के मध्य में विसर्ग ':' और प्रारम्भ में प्रणव 'ओम् को स्थापित कर तीन अक्षरों का त्र्यक्षर नाम का बीज मन्त्र होता है—'ओं आः अं' इस बीज मन्त्र को जपते हुये नारी को उत्तेजित कर संभोग में प्रवृत्त करना चाहिये।

संप्राप्य वालां करशाखयैव लिङ्गेन चात्मीयसमां समेत्य।
लिङ्गाङ्गुलिभ्यां तु तथाऽभिरूढां प्रचोदनीयं मदनातपत्रम्॥३॥

व्यक्तियों के अनुसार बीजमन्त्र का प्रयोग

३—बाला को प्राप्त कर हाथ की अंगुली के प्रयोग से ही उसे उत्तेजित करे; अपने समान आयु वाली युवती को प्राप्त कर उसे लिङ्ग से उत्तेजित करे और अभिरूढा (प्रौढा) को हाथ की अंगुली और लिङ्ग दोनों द्वारा उत्तेजित कर कार्य में प्रयुक्त करे। (आशय यह है कि अक्षर मन्त्र जपता जाय और यथोचित्त रूप में अंगुली और लिङ्ग का प्रयोग करता जाय।)

क्षोभण मन्त्र 'ओं कामदेवाय इदं मे हर्षय हर्षय स्वाहा' इस मन्त्र को जपते हुये योनि को संक्षुब्ध करने की क्रिया करता जाय।

ॐ कामदेवाय इदम् मे हर्षय हर्षय स्वाहा ॥

॥क्षोभन (ण) मन्त्रः ॥

द्वे लोचने, द्वे वदने, तथैका तुण्डे, स्थिता वै मुखचोद्यनाड्यः ।
अङ्गुष्ठमूलाश्रितनाड़िका तु तथा पदाङ्गुष्ठनखेन चोद्या ॥४॥

नाड़ियों की स्थिति

४—दो नाड़ियां नेत्रों में होती हैं, दो मुख में, एक तुण्ड (सम्भवतः ओठ) में स्थित होती है। ये नाड़ियां मुख के द्वारा संक्षुब्ध और उत्तेजित की जाती है। पैर के अंगूठे में जो नाडी स्थित होती है वह पैर के अंगूठे से ही उत्तेजित की जाने योग्य होती है।

आशय यह है कि नाडियों का संगमस्थल मदन छत्र है; अतः किसी अंग की नाडी को उत्तेजित करने पर उत्तेजना योनि में ही होती है।

कर्णोरुपार्श्वत्रिकमस्तकेषु संचोदनीयाः करजेन नित्यम्।
तृप्तिर्न तासां तु विपर्ययेण भवेत्कदापीति वदन्ति धीराः ॥५॥

जो नाडियां कान, उरु, पसली त्रिक (पृष्ठास्थि के उरू से संगम स्थल) और मस्तक में स्थित होती हैं उनको हाथ के नाखूनों से उत्तेजित किया जाता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता या उससे विपरीत कार्य किया जाता है तो उनको तृप्ति प्राप्त नहीं होती।

वायव्यावृतवह्निमण्डलगतं हान्तं स्वरैर्वेष्टितं
सन्दूरारुणमिन्दुबिन्दुसहितं बीजं त्रिलोक्याऽर्च्चितम्।
पान्थैरात्मनितम्बिनीभगमुखे ध्येयं हिताकाङ्क्षिभिः
स्वप्नेनापि न ताः प्रयान्ति वशतां तेनान्ययूनां सदा ॥६॥हं क्ष्यं ॥

'हंक्ष्यं' बीजयन्त्र

६—परदेस जाने का अवसर आने पर अपने परदेस निवास के समय में पत्नी के सदाचार की रक्षा के लिये पत्नी की भग के मुख (अग्रभाग) में 'हंक्ष्यं' इस बीज मन्त्र को अभिमन्त्रित कर उसकी स्थापना करे और उसका ध्यान करे। ध्यान इस प्रकार का होना चाहिये कि वायव्य कोण में अग्नि के घेरे से घिरा हुआ 'ह' अन्त वाला अक्षर सिन्दूर के समान लाल रंग के चन्द्र बिन्दु से युक्त है। (हं यह बीज मन्त्र है जिस पर, अनुस्वार का बिन्दु लाल रंग के चन्द्र बिन्दु से युक्त है। उसका वायव्य कोण में ध्यान करते हुये उसे अभिमन्त्रित कर पत्नी की योनि में स्थापित कर दे।) इस का फल यह होता है कि वियोग के दिनों में भी वे स्त्रियां अन्य पुरुष के वश में नहीं आतीं और सर्वदा सदाचारिणी बनी रहती हैं।

प्रातःसूर्यमरीचिरेव बलकृत् पिण्डो वराङ्गोदरे
दृष्टो नामविभूषितः सचपलो बिन्द्विन्दुनादान्वितः।
ध्यातो भास्वरपद्मरागरुचिरः सीमन्तिनीचिन्तितं
सप्ताहेन वशं नयत्यथ पुरं याम्यं प्रियादर्शने॥७॥

'ब्लीं' बीजमन्त्र

७—ब्लीं बीजमन्त्र इतना शक्तिदायक है मानो प्रातःकालीन सूर्य की किरणें ही हों। (सूर्य किरणों के उदय होते ही रात्रि की तन्द्रा समाप्त हो जाती है और जन समूह उद्योग धन्धों में लग लग जाता है। 'ब्लीं' बीजमन्त्र भी उसी प्रकार का शक्तिदायक है।) यह गुप्ताङ्ग के उदर (गर्त) के मुख का कौर तथा शक्ति दायक (महौषधि) है। यह अत्यन्त चपल है और नाम (प्रसिद्धि) से विभूषित देखा गया है। यह चन्द्र विन्दु या नाद विन्दु से अंकित है। (नाद और विन्दु सृष्टि के प्रवर्तक तत्त्व हैं; इसी प्रकार 'ब्लीं' बीजमन्त्र भी गुप्ताङ्ग को बल देकर सृष्टि का सञ्चालक बनता है।) ध्यान करने पर प्रकाशमान पद्मराग के समान सुन्दर है। चिन्तन करने पर सीमन्तिनी (सुन्दरी नायिका)को सात दिन में वशवर्तिनी बना देता है और वह व्यक्ति प्रिया के दर्शन यमपुर में भी करता है। वह सुन्दरी यमपुर तक वशवर्तिनी बनी रहती है।

मन्त्र का स्वरूप

ब् द्
ब्लीं
दे त्त

रेफस्थं सविसर्गमीस्वरयुतं सान्तं पिशङ्गद्युति
विन्यस्तं मदनातपत्रशिखरे स्त्रीणां परं द्रावकम्।
यस्यैकस्य वशात् पुमानशिथिल श्रद्धाभियोगान्वितः
पिण्डाकृष्टिमशीघ्रमेव कुरुते प्राप्तोपदेशः शुचिः॥८॥ह्रीं॥

'ह्रीः' मन्त्र

८—इस बीज मन्त्र में 'ह' में र और सानुस्वार 'ई' स्वर के साथ अन्तिम 'स' का प्रतिरूप विसर्ग जुड़ा हुआ है। यदि कामच्छत्र (योनि के ऊपरी भाग) में इसे स्थापित कर दिया जाय तो यह स्त्रियों का एक बहुत बड़ा द्रावक मन्त्र है; यह मन्त्र (मन्त्र का देवता) भूरे वर्णन का है। उपदेश प्राप्त, श्रद्धा और मनोयोग के साथ संल्लग्नता में परायण पुरुष इस मन्त्र को योनि शिखर पर स्थापित कर चाहे हुये ये पिण्ड (शरीरावयव) को शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में नाडी संक्षोभण नामक
अष्टादश परिच्छेद समाप्त

एकोनविंशः परिच्छेदः

सती चैवासतीसंज्ञा सुभगा दुर्भगा तथा।
पुत्री दुहित्रिणी चेति षडेता मदनाडिकाः ॥१ ॥

योनिगत नाडियां

१—स्त्री की योनि के अन्दर मद से भरां हुई छः नाड़ियां होती हैं—सती, असती, सुभगा, दुर्भगा, पुत्री और दुहित्रिणी।

योनिमात्रेऽपि सन्त्येताः कथिता मदनाडिकाः।
सती वामेऽसती सव्ये, द्वे वराङ्गत्वचि स्मृते ॥२ ॥

२—मद (उन्मत्तता) को उत्पन्न करने वाली ये नाडियां योनि मात्र में (सभी योनियो में और केवल योनि के अन्दर ही) होती है। योनि के चर्म में (ऊपरी भाग में) बाई ओर सती नाडी और दाहिनी ओर असती नाडी रहती है।

किञ्चिदभ्यन्तरे चैव रन्ध्रे सव्यापसव्ययोः।
दुर्भगा सुभगा चैव द्वे नाड्यौ समुदाहृते ॥३ ॥

चर्म से कुछ अन्दर की ओर रन्ध्र (सूराख) में बाई ओर दुर्भगा और दाहिनी ओर सुभगा नाड़ी रहती है।

सर्वतोऽभ्यन्तरे चैव पार्श्वे भगमुखस्य वै।
वामे पुत्री समाख्याता, दक्षिणेन दुहित्रिणी ॥४ ॥

४—छिद्र के सबसे ऊपरी भाग में भगमुख के पास ही बाई ओर पुत्रिणी और दाहिनी ओर दुहित्रिणी नाडी रहती है।

सतीसञ्चोदनाच्चैवासती रामा प्रकुप्यति।
असतीचोदनान्नारी खिद्यते च सती सदा ॥५ ॥

५—सती नाडी को (हाथ की अंगुली रगड़कर) संचालित करने पर असती रमणी क्रुद्ध होती है और असती के सञ्चालन से सती को सर्वदा खेद होता है।

सतीसञ्चोदनादेव सती हृष्यति निर्भरम्।
असतीचोदनाच्चैवासती तुष्यति नित्यशः ॥६ ॥

६—सती के सञ्चालन से ही सती पूर्ण रूप से प्रसन्न हो जाती है और उसी प्रकार असती के सञ्चालन से नित्य ही असती सन्तुष्ट होती है।

सुभगाचोदनान्नारी सुभगा प्रियदर्शिनी।
भवेत् स्निग्धाननाङ्गी च श्यामा पीनपयोधरा ॥७ ॥

७—सुभगा के सञ्चालन से नारी सौभाग्य शालिनी तथा प्रियदर्शन वाली हो जाती है। उसका मुख एवं अन्य अंग स्निग्ध प्रेम की चमक एवं चेहरे की चिकनई से भरे हुये हो जाते हैं।

दुर्भगाचोदनेनापि वनिता दुर्भगा भवेत्।
रूक्षा कृशा विवर्णाङ्गी जरारोगनिपीडिता ॥८ ॥

८—उसी प्रकार दुर्भगा नाड़ी के सञ्चालन से स्त्री दुर्भगा हो जाती है। उसके प्रभाव से स्त्री रूखी (शरीर और स्वभाव दोनों में) कृश, उतरे और और विगड़े हुये रंग वाली और बुढ़ाये के रोग से पीड़ित रहने वाली होती है।

पुत्रीसञ्चोदनादेव प्रिया पुत्रवती भवेत्।
दुहित्रीचोदनेनापि दुहिता जायते ध्रुवम् ॥९ ॥

९—पुत्री नाडी के सञ्चालन से ही प्यारी स्त्री पुत्रवती होती है और दुहित्रिणी नाडी के सञ्चालन से निश्चित रूप से लड़की पैदा होती है।

उभयोश्चोदनात्सूते क्लीबमेव न संशयः।
निपुणं चोदयन्नाडीं यदीच्छेद्धितमात्मनः ॥१० ॥

१०—दोनों के सञ्चालन से नपुंसक ही पैदा होता है इसमें सन्देह नहीं। यदि पुरुष अपना हित चाहे तो निपुणता पूर्वक विचार के ही नाडियों का सञ्चालन करे।

मतान्तर कहते हैं :

सती कुचेऽसती कक्षे, सुभगौष्ठे च, दुर्भगा।
त्रिके, तुण्डे स्थिता पुत्री, नितम्बे तु दुहित्रिणी ॥११ ॥

इस विषय में दूसरा मत

११—सती नाडी स्तनों में, असती कांख में, सुभगा अधरोष्ठ में, दुर्भगा त्रिक में (रीढ के निचले भाग में जहां तीन हड्डियां रीढ और दनों जंघायें मिलती हैं) चेहरे में पुत्री और

नितम्ब में दुहित्रिणी रहती है। (इनका सञ्चालन इस प्रकार होता है—स्तनों का मर्दन करने से सती नाड़ी क्रियाशील होती है; कांख में नाखूनों में घाव करने में असती नाड़ी, अधरोष्ठ में चुम्बन एवं दन्तक्षत से सुभगा नाड़ी, त्रिक में हाथ से सहलाने और प्रहार करने से दुर्भगा नाड़ी; चेहरे (कपोलादि) का चुम्बन करने से पुत्रिणी और नितम्ब को सहलाने, ठोकने और नाखूनों से नोचने में दुहित्रिणी नाड़ी सञ्चालित होती है।)

एवं सञ्चोदिता नारी नान्यमिच्छति मानवम्।
क्लीबोऽपि हृदयं सर्वं प्राप्नोत्येवं न संशयः ॥१२॥

१२—इस प्रकार जिस नारी की नाड़ियां सञ्चालित की जाती हैं वह किसी दूसरे पुरुष की इच्छा करती ही नहीं। इस प्रकार की नारी के पूर्ण हृदय को नपुंसक भी निस्सन्देह प्राप्त कर लेता है।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में मदनाडी कथन रूप
उन्नीसवाँ परिच्छेद समाप्त

विंशतिः परिच्छेदः

नखदशनपदेषु मन्दभावाः प्रहरणकर्पणचुम्बने विरागाः।
अकुटिलमतयश्चरित्रवत्यो मृदुरतयोऽपि च मध्यदेशनार्यः ॥१॥

प्रदेशभेद से स्त्रियों की प्रवृत्तियां

मध्य देश

(हिमाचल और विन्ध्याचल के मध्य में कुरुक्षेत्र से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम प्रदेश को मध्य देश माना जाता है। यह लगभग उत्तर प्रदेश की सीमा है।)

१—नाखून और दांतों के चिन्हों में मध्य देश की स्त्रियों की अधिक रुचि नहीं होती, (वे नाखूनों से नोचे जाने और दांतों से काटे जाने को अधिक पसन्द नहीं करतीं।) प्रहार करने केशों इत्यादि के खींचने और चुम्बन में उनका विराग होता है। (कुछ प्रदेशों विशेषकर पश्चिम के देशों में औरतों के नितम्बों पर प्रहार करना उन्हें अधिक अच्छा लगता है।) इस प्रदेश की स्त्रियों का स्वभाव कुटिल नहीं होता, यहां की स्त्रियां सच्चरित्र होती हैं। ये स्त्रियां कोमल सुरत को पसन्द करती हैं।

नखदशनपदे विरक्तचित्ताः प्रहरणचुम्बरताश्च लाटनार्यः।
तदुदितवनिताजनस्य चेष्टा प्रभवति परिश्चमदेशसुन्दरीषु॥२॥

लाट देश की स्त्रियां

(पश्चिम समुद्र तटवर्ती गुर्जर प्रदेश और उज्जैन के मध्य में स्थित एक प्रदेश जिसमें सम्भवतः सौराष्ट्र और काठियावाड़ के कुछ भाग शामिल हैं। दूसरे पद्य में वहां की स्त्रियों की प्रवृत्ति बतलाई गई है।)

२—(मध्यदेश की भांति) लाट प्रदेश की स्त्रियां भी नाखूनों और दांतों से नोचे-काटे जाने और घाव बनवाने में विरक्त चित्त वाली होती हैं; किन्तु प्रहार (पीटे जाने) और चुम्बन में उनका अनुराग बढ़ा चढ़ा होता है। लाट प्रदेश की स्त्रियों में प्रकट होने वाली चेष्टायें पश्चिमी देशों की स्त्रियों में विशेष रूप से पाई जाती हैं।

पशुकरणरते कृतानुरागाः सुपरिश्लेषकचग्रहप्रसाध्याः।
नखदशनपदे सृतष्णभावा लघुसुरता अपि सिन्धुदेशनार्यः॥३॥

सिन्धु देश की स्त्रियां

(सिन्धु प्रदेश वर्तमान सिन्ध ही है जो अब पाकिस्तान में चला गया है।)

३—सिन्धु प्रदेश की स्त्रियों को पशुओं के समान सम्भोग कराना अच्छा लगता है। भली भांति जोरदार चिपटाने और केश खींचने से वे वश में हो जाती हैं। नाखूनों और दांतों से घाव करने की प्यास उनमें सदा बनी रहती है। किन्तु सम्भोग उन्हें थोड़ी देर का अच्छा लगता है।

गिरिकुहरवनेषु तत्स्वभावा: कुरुमरुदेशकुरङ्गलोचनाश्च।
विविधरतिरता: कलासु कल्पाश्चतुरतरा अपि सिंहले मृगाक्ष्य: ॥४॥

कुरु, मरु और लंका की स्त्रियां

(कुरु प्रदेश पहाड़ों से लगता पश्चिमी उत्तर प्रदेश है, मरु—मारवाड़ प्रदेश है और सिंहल लंका प्रसिद्ध ही है।)

४—कुरु और मरु देश की स्त्रियां (घर से बाहर) पर्वत कन्दराओं और वनों में सम्भोग कराने के लिये आदी होती हैं। सिंहल (लंका) की स्त्रियां अनेक प्रकार की सम्भोग कलाओं में निपुण होती हैं और अधिक चतुर होती हैं।

वैदग्धवासा: शुचयो गुणढ्या भवन्ति काश्मीरनितम्बवत्य:।
आचारहीना: कृतघातसाध्या भवन्ति जालन्धरदेशरामा: ॥५॥

कश्मीर और जालन्धर

(ये दोनों प्रदेश प्रसिद्ध हैं।)

५—कश्मीर की स्त्रियां, करीने के वस्त्र पहिनना और सुगन्धित द्रव्यों का सेवन करना पसन्द करती हैं तथा गुणों से भरी हुई होती हैं। जालन्धर की स्त्रियों का चाल चलन अच्छा नहीं होता और वे जोरदार प्रहार से वश में हो जाती हैं।

आलिङ्गने चित्ररतानुरक्ता वेगान्विता: कृत्रिमलिङ्गसाध्या:।
चुम्बाभिलाषा: सततं युवत्य: स्त्रीराज्यजा: कोशलदेशजाश्च ॥६॥

स्त्री राज्य और कोशल प्रदेश की स्त्रियां

(स्त्री राज्य में सम्भवत: भूटान और वर्तमान अरुणाचल, मेघालय, नागालैण्ड, मणिपुर, मिजोरम इत्यादि के क्षेत्र आते हैं जहां स्त्रियां पुरुषों की अधिकारिणी और उन पर शासन करने वाली होती हैं। अयोध्या के आसपास का प्रदेश कोशल राज्य प्रसिद्ध ही है।)

६—स्त्री राज्य की स्त्रियां आलिंगन (चिपटाने) और नये नये प्रकार के सम्भोग करने को पसन्द करती है। (सम्भोग के अवसर पर उनमें तेजी अत्यधिक होती है।) बनावटी लिंगों

के प्रयोग से उन्हें वश में लाया जा सकता है। ये ही विशेषतायें कोशल प्रदेश की स्त्रियों में भी होती हैं।

प्रचण्डवेगाः कृतघातसङ्गाः सदोन्मदा इन्द्रियपानलुब्धाः।
कराङ्गुलीकृत्रिमलिङ्गसाध्याः कर्णाटदेशे कथितास्तरुण्यः ॥७॥

कर्णाटक की स्त्रियां

(यह प्रदेश प्रसिद्ध ही है।)

७—कर्णाटक की स्त्रियों में तेजी बहुत होती है, जोरादर आघात को पसन्द करती है। सदा उन्मत्त रहती है। पुरुष की इन्द्रिय के चूसने की लोभी बनी रहती है। हाथ की उंगली और बनावटी लिंग से सम्भोग के द्वारा वश में हो जाती है। उनके स्वभाव ऐसे ही बतलाये जाते हैं।

सदा चतुःषष्टिकलाप्रसक्ता रतास्तथालिङ्गनचुम्बनेषु।
कराङ्गुलिक्षेपविधिप्रसाध्याश्चण्डा महाराष्ट्रकुरङ्गनेत्राः ॥८॥

महाराष्ट्र

(यह वर्तमान महाराष्ट्र ही है।)

८—महाराष्ट्र की मृगनयनियां सदा चौंसठ कलाओं के आसक्त रहतीहैं इसी प्रकार वे आलिंगन और चुम्बन में तल्लीन रहती हैं। हाथ की अंगुली डालने की विधि से वश में आ जाती है। वे अत्यन्त प्रचण्ड स्वभाव की होती है।

केशग्रहालिङ्गनचुम्बनेषु जिह्वाप्रवेशे च विमर्द्दने च।
सम्भूषणे मर्द्दनताडने च सदाऽनुरक्ता द्रविडे रमण्यः ॥९॥

द्रविड प्रदेश की स्त्रियां

द्रविड प्रदेश

(दक्षिण भारत का विशेष रूप से मद्रास के आस-पास का प्रदेश।)

९—केशों का पकड़ना, आलिंगन चुम्बन (योनि में) जिह्वा का प्रवेश, विमर्दन, पीटना आभूषण धारण करना इन सबके लिये द्रविड देश की स्त्रियां सदा अनुरक्त रहती हैं।

किमपि रसिकचित्तं चुम्बनालिङ्गनादावधरमधुसमीहाऽत्यन्तलावण्यदेहाः।
सुरभिसुरतभावास्तीर्थयात्राभिलाषा मृदुलमधुरवाचो गौडबङ्गाङ्गनाः स्यु ॥१०॥

गौड और बंग

(ये प्रसिद्ध प्रदेश हैं।)

१०—गौड और बंग प्रदेश की स्त्रियों का चुम्बन और आलिंगन आदि में बहुत कम चित्त रमता है। अधर मधु का पान कराने की उनकी उत्कट इच्छा होती है और उनके शरीर

में लावण्य अत्यधिक मात्रा में होता है। उनकी संभोग की भावना अत्यन्त मनोहर होती है। तीर्थ यात्रा में उनकी अभिलाषा सदा बनी रहती है। उनकी बोली कोमल और मधुर होती है।

आघाते मर्द्दने वा नखदशनपदे निःस्पृहाः क्षोभणे च,
नानाक्रीडाकलालंङ्कृतिरतिमनसो मन्दवेगोपरागाः।
दृष्ट्वा दूरेऽपि यूनः सपदि मनसिजावेशसाकाङ्क्षनेत्राः,
नेपाले कामरूपे सुमुधुरवचनाश्चीनदेशे च रामाः ॥११॥

नेपाल, कामरूप और चीन

११—इन प्रदेशों की स्त्रियां, आघात, मर्दन, नाखूनों और दांतों के घाव और क्षुब्ध करने (अत्यन्त परेशान करने) इत्यादि के विषय में अत्यन्त अनिच्छुक होती हैं। नाना प्रकार की क्रीडाओं कलाओं, आभूषणों, रतिक्रियाओं में उनका मन लगा रहता है, मन्द वेग वाले पुरुष के प्रति वे दुर्वचनों का प्रयोग करती हैं। जवान पुरुष को दूर से ही देखकर तत्काल कामदेव के आवेश के कारण उनके मन में (पुरुष से मिलने की) आकाङ्क्षा पैदा हो जाती है। उनके वचनों में अत्यधिक मधुरता होतीहै।

योषितां विषयसाम्यतः प्रियं चुम्बनं प्रकृतिकृत्यमिष्यते।
तत्र चैकविषये प्रयुज्यतेऽभीप्सितप्रकृतिसाम्यतस्तदा ॥१२॥

उपसंहार

१२—प्रदेश की समता के कारण उनका स्वभाव भी वैसा ही बन जाता है और अपने स्वभाव के अनुकूल चुम्बन (इत्यादि) कार्यों को चाहा करती है। उसमें एक प्रदेश के अन्दर अभीष्ट प्रकृति के अनुकूल (सहवास विषयक क्रियायें) प्रयुक्त की जाती हैं।

अन्यथा हि न सुखस्य साधनं सर्वमेतदनपेक्षितं कृतम्।
दुस्सहेन शिशिरेण निर्भरं पीडिते व्यजनमारुता इव ॥१३॥

१३—यदि उनकी प्रकृति के अनुकूल कार्य नहीं किया जाता तो वह सुख का साधन नहीं बनता। (तब वे समझती हैं कि) अभी कुछ अनावश्यक किया गया है। दुस्सह शीत से पीडित व्यक्ति पर विना विचारे पंखा झलने से जैसे कष्ट बढ़ता ही है (उसी प्रकार प्रकृति और प्रदेश की विशेषता बिना समझे संभोग कार्य में प्रवृत्त होना आनन्द दायक नहीं होता प्रत्युत कष्ट को बढ़ाने वाला ही होता है।)

देशधर्म के विषय में मुनि का कथन है कि इस विषय में केवल दिशा निर्देश किया जा सकता है। समयानुसार परिस्थियाँ, प्रथायें और प्रवृत्तियाँ बदलती जाती हैं। एक प्रदेश के निवासी जब जीविकोपार्जन या कारणान्तर से दूसरे प्रदेश में जाकर रहने लगते हैं। तब

में लावण्य अत्यधिक मात्रा में होता है। उनकी संभोग की भावना अत्यन्त मनोहर होती है। तीर्थ यात्रा में उनकी अभिलाषा सदा बनी रहती है। उनकी बोली कोमल और मधुर होती है।

आघाते मर्द्दने वा नखदशनपदे निःस्पृहाः क्षोभणे च,
नानाक्रीडाकलालंङ्कृतिरतिमनसो मन्दवेगोपरागाः।
दृष्ट्वा दूरेऽपि यूनः सपदि मनसिजावेशसाकाङ्क्षनेत्राः,
नेपाले कामरूपे सुमुधुरवचनाश्चीनदेशे च रामाः ॥११॥

नेपाल, कामरूप और चीन

११—इन प्रदेशों की स्त्रियां, आघात, मर्दन, नाखूनों और दांतों के घाव और क्षुब्ध करने (अत्यन्त परेशान करने) इत्यादि के विषय में अत्यन्त अनिच्छुक होती हैं। नाना प्रकार की क्रीडाओं कलाओं, आभूषणों, रतिक्रियाओं में उनका मन लगा रहता है, मन्द वेग वाले पुरुष के प्रति वे दुर्वचनों का प्रयोग करती हैं। जवान पुरुष को दूर से ही देखकर तत्काल कामदेव के आवेश के कारण उनके मन में (पुरुष से मिलने की) आकाङ्क्षा पैदा हो जाती है। उनके वचनों में अत्यधिक मधुरता होतीहै।

योषितां विषयसाम्यतः प्रियं चुम्बनं प्रकृतिकृत्यमिष्यते।
तत्र चैकविषये प्रयुज्यतेऽभीप्सितप्रकृतिसाम्यतस्तदा ॥१२॥

उपसंहार

१२—प्रदेश की समता के कारण उनका स्वभाव भी वैसा ही बन जाता है और अपने स्वभाव के अनुकूल चुम्बन (इत्यादि) कार्यों को चाहा करती है। उसमें एक प्रदेश के अन्दर अभीष्ट प्रकृति के अनुकूल (सहवास विषयक क्रियायें) प्रयुक्त की जाती हैं।

अन्यथा हि न सुखस्य साधनं सर्वमेतदनपेक्षितं कृतम्।
दुस्सहेन शिशिरेण निर्भरं पीडिते व्यजनमारुता इव ॥१३॥

१३—यदि उनकी प्रकृति के अनुकूल कार्य नहीं किया जाता तो वह सुख का साधन नहीं बनता। (तब वे समझती हैं कि) अभी कुछ अनावश्यक किया गया है। दुस्सह शीत से पीडित व्यक्ति पर विना विचारे पंखा झलने से जैसे कष्ट बढ़ता ही है (उसी प्रकार प्रकृति और प्रदेश की विशेषता बिना समझे संभोग कार्य में प्रवृत्त होना आनन्द दायक नहीं होता प्रत्युत कष्ट को बढ़ाने वाला ही होता है।)

देशधर्म के विषय में मुनि का कथन है कि इस विषय में केवल दिशा निर्देश किया जा सकता है। समयानुसार परिस्थियाँ, प्रथायें और प्रवृत्तियाँ बदलती जाती हैं। एक प्रदेश के निवासी जब जीविकोपार्जन या कारणान्तर से दूसरे प्रदेश में जाकर रहने लगते हैं। तब

अपने प्रदेश की प्रथाओं का प्रभाव उस दूसरे प्रदेश की प्रवृत्तियों पर डालते हैं और उनकी प्रवृत्तियों से स्वयं प्रभावित होते हैं। अतः अभियोक्ता को चाहिये कि शास्त्र तक ही सीमित न रहे; किसी प्रदेश की प्रवृत्तियों का स्वयं अध्ययन कर ले। केवल प्रदेश की ही नहीं अभियोज्य की व्यक्तिगत इच्छाओं का जान लेना भी उपयोगी होता है; तभी अभियोज्य को संतुष्ट किया जा सकता है।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में देश विभाग नामक
बीसवाँ परिच्छेद समाप्त

एकविंशतिः परिच्छेदः

सुशक्तिवह्निप्रविदार्यमाणसद्वक्त्रहृद्यस्तिमिताभिरामम् ।
यत्तालुजिह्वाजनितं प्रशस्तं शृङ्गारविद्भिः स्तनिताभिधानम् ॥१ ॥

(इस परिच्छेद से बाह्य सुरत के वर्णन का प्रारम्भ किया गया है जिसमें सबसे पहले आचार्य ने सीत्कार का उपादान किया है। कामशास्त्र में चुम्बनादि को बाह्य सुरत कहा जाता है जिसे उपभोग नाम दिया जाता है। सुरत शब्द का वास्तविक प्रयोग अन्तः प्रवेश के लिये होता है। मुनि ने इस विषय का विवेचन विशिष्ट क्रम के साथ किया है। उनके अनुसार सबसे पहले स्पर्श के द्वारा भावाभिव्यक्ति की जाती है। सीत्कार का अवसर तो बहुत बाद में आता है। पद्मश्री ने यहाँ पर क्रम का ध्यान नहीं रक्खा है। जहाँ जो ठीक लगा उसको वहीं स्थान दे दिया। वैसे सीत्कार का प्रयोग सुरतकाल में ही नहीं होता। प्रेमभिव्यक्ति के लिये भी सीत्कार का प्रयोग कियाजाता है। यदि कोई लड़की पड़ोस से 'सी' करती हुई निकल जाती है तो उसकी ओर ध्यान चला ही जाताहै। अतः उसका प्रथम उपादन भी सकारण ही है। यह सिस्कारी अधिकतर चुम्बन के समय निकलती है। अतः पद्मश्री ने इसे सशब्द चुम्बन भी कहा है।

(इस परिच्छेद में सुरत के अन्तराल में या सुरत की उत्कट इच्छा प्रकट करने के लिये स्त्रियों के मुख से जो आवाज निकलने लगती है उसका परिचय दिया गया है। यह कबूतरों और उस जाति के अन्य पक्षियों में विशेष रूप से देख सकते हैं। स्त्रियों के मुख से अनेक प्रकार की आवाजें निकलती हैं जो सम्भोगेच्छा या सम्भोगानन्द को प्रकट करने वाली होती हैं। उनमें 'सी' की आवाज अधिक प्रसिद्ध है। इसीलिये सभी आवाजों के लिये सीकृति शब्द का सामान्य प्रयोग कर दिया जाता है। यहां इन्हीं आवाजों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।)

स्तनित

१—शक्ति के साथ जठराग्नि की प्रेरणा से उद्भूत ठहरा हुआ हृदय को प्रिय मनोरम शब्द किसी सुन्दर मुख से निकल जाता है उस शब्द को स्तनित कहा जाता है। यह तालु और जीभ के संयोग से उत्पन्न होता है। यह शृङ्गार शास्त्र के जानकारों द्वारा प्रशंसित किया जाता है।

हृष्यत्कपोतादिविहङ्गमानां यथा रुतं कूजितमामनन्ति।
आयासनिःश्वासनिरोधहृद्यं मनीषिणस्तच्छ्वसितं वदन्ति ॥२ ॥

कूजन एवं श्वसित

२—कबूतर इत्यादि पक्षी जब हर्ष (सम्भोगेच्छा) से भर जाते हैं तब वे जिस प्रकार का शब्द करने लगते हैं वैसा ही स्त्रियों द्वारा शब्द करना कूजन कहलाता है; आयास (प्रयत्न

की निष्फलता निराशा जन्य थकावट) के कारण जो गहरी श्वास ली जाती है जो रुकावट के कारण रूखी किन्तु प्रिय होती है उस शब्द को विद्वान लोग श्वसित कहते हैं। (अनेक कारणों से हृदय के विषाद को वाणी द्वारा प्रकट करना उचित और सम्भव नहीं होता तब हृदय की व्यथा को रोकते हुये भी जो गहरी श्वास वरवस निकल जाती है उसे श्वसित कहा जाता है।)

उच्छ्वासदन्तौष्ठजशीत्कृतं यत् सीत्कारसंज्ञं विवुधास्तदाहुः ।
श्लिष्टाधरोत्पादितपून्निदानं पूत्कारमन्वर्थकनामधेयम् ॥३ ॥

सीत्कृत एवं पूत्कृत

३—गहरी श्वास, दांत और ओठ के संयोग से जो 'सी' की (गहरी) आवाज निकलती है उसे विद्वान लोग सीत्कृत कहते हैं। नीचे और ऊपर के ओठ को मिलने से जो 'पूत्' की आवाज निकलती है वह पूत्कृत नाम का स्वर होता है। यह स्वर अन्वर्थ होता है अर्थात् आवाज 'पूत' निकलती है और इसका नाम भी पूत ही है।

हिक्शब्दवच्छ्वासनिरोधपूर्वं यच्चुम्बनं हिक्कृदिति प्रसिद्धम् ।
सन्निष्पतन्मौक्तिकशब्दरम्यं तद्दूत्कृतं सर्वजना वदेयुः ॥४ ॥

हिक्कृत और दूत्कृत

४—श्वासकी रुकावट के साथ जो हिक् शब्द चुम्बन में किया जाता है वह हिक्कृत नाम से प्रसिद्ध है। जो शब्द मोती के गिरने की आवाज के समान रमणीय रूप में निकलता है उसे दूत्कृत नाम से सभी लोग पुकारते हैं।

संयोगकाल की ध्वनियों की संख्या परिनिष्ठित नहीं होती। देश भेद से ध्वनियाँ भी बदल जाती हैं। कभी कबूतर इत्यादि पशुपक्षियों की बोली जैसी आवाज निकलती है। कभी सीटी जैसी आवाज होती है। कभी 'हाय रे, हाय मां' जैसी आवाज निकल जाती है। सीत्कार के अनेक उद्देश्य बतलाये गये हैं—सम्भोग पीड़ा के लिये आदी न होने पर कुछ स्त्रियाँ बड़बड़ाने लगती हैं; कुछ रोने लगती हैं; कभी क्रोध की अभिव्यक्ति में कठोर भाषा बोलती हैं। अधिकांश आवाजें तो संभोगजन्य आनन्द और हर्ष को प्रकट करने वाली होती हैं; कभी छुटकारा पाने की आकाङ्क्षा व्यक्त होती है, कभी आवाज से प्रेमी की शक्ति की प्रशंसा और प्रोत्साहन की ध्वनि निकलती है सुन्दरी का आशय विशिष्ट ध्वनि में क्या है यह खूब सोच समझकर निर्णय कर लेना प्रोमी को सफल बनाता है। प्रायः ऐसा भी होता है कि कष्ट का बहाना दिखावे दिखावे के लिये किया जाता है। आनन्द में भी अनिच्छा प्रकट की जाती है। अतः भाव को समझकर व्यवहार करना प्रेमी की सफलता के लिये आवश्यक है।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागर सर्वस्व में सशब्द चुम्बन प्रतिपादक
इकीसवाँ परिच्छेद समाप्त

द्वाविंशः परिच्छेद

अव्यक्तरेखैर्नखरैः समस्तैः रोमाञ्चकृत् सत्क्वणिताभिरामम्।
स्तने कपोले च हनुप्रदेशे प्रयोज्यतामुच्छुरितं प्रियायाः ॥१॥

नखक्षत

नखक्षत रतिशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी अंग है। यह कामकला और कामोपयोग का सर्वस्व है। प्रेम और सहवास का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्मारक तत्त्व है। जब स्त्रियाँ गुप्त स्थानों पर लगे चिन्हों को देखती हैं तो बहुत दिनों का छूटा हुआ प्रेम भी उनके स्मृति पटल पर अंकित हो जाता है। जब कोई अपरिचित पुरुष नखक्षत के चिन्हों को किसी स्त्री के शरीर पर देखता है तब दृढ़ चरित्र वाले व्यक्ति के मन में भी उस स्त्री के सौभाग्य की प्रशंसा और स्वयं मिलने की आकाङ्क्षा उत्पन्न हो जाती है। यदि पुरुष के शरीर पर नखक्षत के चिन्ह को कोई स्त्री देखती है तो सदाचारिणी स्त्री के मन में भी उस पुरुष के प्रति भावना हिलोरें लेने लगती हैं। मुनि के शब्दों में राग वटाने वाला इतना महत्त्वपूर्ण कोई तत्त्व नहीं है जितना कि नखक्षत और दन्तक्षत।

मुनि ने नखक्षत के शरीरावयव गर्दन, उरु, स्तन, पीठ इत्यादि गिनाये हैं किन्तु अन्त में कह दिया है कि स्त्री के समस्त शरीर में तथा समस्त चर्म में कामुक भावना प्रवाहित रहती है। अतः किसी भी अंग का स्पर्श उनकी काम भावना को जागृत कर देता है। जब तक प्रेम की उद्दाम भावना जागृत नहीं हो जाती तब तक अवयवों का विचार किया जाता है; किन्तु अनुराग के अत्यन्त बढ़ जाने पर कोई मर्यादा नहीं रहती; शरीर के किसी भी अंग पर नखक्षत किया जा सकता है। नखक्षत है भी कामोद्दीपन की परिवृद्ध अवस्था में प्रयोजनीय क्रिया। स्वल्पराग या सहवास के प्रारम्भ में प्रयोज्य चिढ़ जाता है उसे नख या दांत से घाव लगवाना अच्छा नहीं लगता; किन्तु जब राग पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है तब उसमें अंगों के पीडन और घाव लगवाने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाती है। मुनि ने जोर दिया है कि नखक्षत और दन्तक्षत का प्रयोग तभी करना चाहिये जब सम्भोग का जोश पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ हो। मुनि ने वे अवसर भी गिनाये हैं जब यह जोश पराकाष्ठा पर पहुंचता है—बहुत दिनों की आकाङ्क्षा के बाद प्रथम सम्मिलन में, वियोग के अधिक समय रहने की सम्भावना में, एक के प्रस्थान काल में, प्रवास से लौटने पर नाराजी (मान) के दूर हो जाने पर आदि अनेक ऐसे अवसर हैं जब जोश बढ़ा चढ़ा होता है; उस अवस्था में नखक्षत अधिकाधिक वाञ्छनीय होते हैं। कुछ प्रदेशों की स्त्रियाँ शरीर पर घाव कराने की अत्यन्त

शौकीन होती हैं; प्रदेश की ही नहीं स्त्रियों की व्यक्तिगत रुचि भी भिन्न-भिन्न होती है। जो स्त्रियाँ घाव की शौकीन होती हैं यदि उनके घाव न लगाया जाय तो वे निराश हो जाती हैं। कुछ स्त्रियाँ शरीर के किसी विशेष अंग में घाव लगवाना चाहती हैं। अतः मुनि का निर्देश है कि स्त्री के विभिन्न अंगों को छेड़कर उनकी प्रतिक्रिया देख लेना चाहिये जिससे उनकी रुचि का पता चल जाता है। प्रवास के प्रस्थान करने पर तो प्रवास काल में स्मृति को जीवित रखने के लिये भी घाव किया जाता है। बिहारी की नायिका के प्रियतम ने चलते समय जो घाव दिया था बिहारी की नायिका उसे सूखने नहीं देती; वार वार खोंट खोंट कर उसे ताजा करती रहती है। इस विषय में मुनि ने आगाह भी किया है कि परस्त्री को नखक्षत नहीं लगाना चाहिये क्योंकि उससे उनके पारिवारिक जीवन में विषाद पैदा हो सकता है। यदि स्मृति को सुरक्षित रखने के लिये घाव लगाना ही हो तो ऐसे अंग में लगा देना चाहिये जिसे केवल स्त्री देखकर आनन्दित हो जाया करे। कामशास्त्र में अविवाहित लड़की भी शास्त्रीय दृष्टि से परकीया ही मानी जाती है। अतः उससे भी परकीया जैसा ही व्यवहार करना चाहिये। यदि उससे विवाह करने का निश्चय कर चुके हो तो दूसरी बात है। मुनि ने शरीर पर नाखूनों द्वारा पुष्प इत्यादि के चिन्ह बनाने का भी प्रतिपादन किया है जो कि प्रयोजक की कलाभिज्ञता का परिचायक है।

उच्छुरित

१—सुन्दरी के स्तन, कपोल और ठोढी पर जो नखक्षत इस रूप में किया जाता है जिसमें नाखून की रेखायें उभड़ती नहीं उस नखक्षत को 'उच्छुरित' शब्द से अभिहित एवं प्रयुक्त किया जाना चाहिये। इस नखक्षत से सुन्दरी रोमाञ्चित हो जाती है और उसके मुख से क्वणित (वीणा स्वर) के समान मनोरम शब्द निकल जाता है।

वक्रोऽर्धचन्द्रः कथितो नखाङ्कः सद्भिः प्रदिष्टः स्तनयोर्गले च।
यदा तु तौ सम्पुटतां प्रपन्नौ ब्रूते तदा मण्डलकं मुनीन्द्रः ॥२॥

अर्धचन्द्र एवं मण्डलक

२—सुन्दरी के स्तनों और गले पर टेढी रेखा में जो नाखून का चिह्न बनाया जाता है वह सज्जनों द्वारा अर्धचन्द्र कहा जाता है। जब नाखून के दो चिह्न आमने सामने इस रूप में बना दिये जाते हं जिनसे एक घेरा बन जाता है उन जिह्न को मुनियों के स्वामी मण्डलक नाम से पुकारते हैं।

किञ्चिच्च दीर्घौ क्षतिमूरुपृष्ठश्रोणीतटे व्याघ्रपदं लिखन्ति।
दीर्घायतां तां प्रवदन्ति रेखां स्थानं तदीयं यदनन्तरोक्तम् ॥३॥

व्याघ्रपद और रेखा

३—जांघ की पीठ पर (पीछे की ओर) और नितम्ब के किनारे पर जो गहरी लम्बी घाव वाली रेखा बनाई जाती है उसे व्याघ्रपद कहा जाता है। जब वह अधिक दीर्घ और फैली विशाल हो जाय तो विद्वान लोग उसे रेखा कहते हैं। उसके वे ही स्थान हैं जो अभी बतलाये गये हैं अर्थात् उरू पृष्ठ और नितम्ब।

शशप्लुतं पञ्च नखव्रणानि सान्द्राणि पृष्ठस्तनगुल्फदेशे।
स्तनस्य पृष्ठे विरलानि तानि निगद्यतामुत्पलपत्रमेतत्॥४॥

शशप्लुत एवं उत्पलपत्र

४—नाखूनों के पांच घने घने घाव जब पीठ, स्तन और टखने (घुटने) पर किये जाते हैं तब वे 'शशप्लुत' कहलाते हैं (क्योंकि तब वे ऐसे मालूम पड़ते हैं मानो उन अंगों पर खरगोश कूदा हो और उसके पैरों के चिह्न बन गये हैं।) स्तन पर जब वे चिह्न विरल (विखरे रूप में) बनाये जाते हैं तब उन्हें उत्पल पत्र की संज्ञा दी जाती है।

हित्वा कनिष्ठाङ्गुलिजव्रणानि चतुर्नखानां विरलीकृतानाम्।
कपोलदेशे स्तनमण्डले च वदन्ति मायूरपदं मुनीन्द्राः॥५॥

मायूरपद

५—छोटी उंगली छोड़कर (उसे अलग रखकर) शेष चार नाखूनों से विखरे हुये रूप में कपोल देश में तथा स्तन मण्डल पर जब घाव बनाये जाते हैं तब उन्हें मुनीन्द्र लोग मायूरपद कहते हैं।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में नखपद नामक
द्वाविंश परिच्छेद समाप्त

त्रयोविंशः परिच्छेदः

रागाभिलक्ष्यं स्फुटमोष्ठदेशे तद्गूढकं दन्तपदं वदन्ति।
उच्छूनकं स्यादधरे च सव्ये गण्डे दृढालिङ्गनतस्तदेव ॥१ ॥

दन्तक्षत

२३वां परिच्छेद दन्तक्षत विषयक है। इस विषय में कामशास्त्र के आचार्यों में दो मत पाये जाते हैं—एक मत यह है कि दन्तक्षत उन्हीं स्थानों पर करना चाहिये जहां नखक्षत किया जाता है। दूसरे मत के अनुसार चुम्बन स्थान दन्तक्षत के स्थान माने गये हैं। वस्तुतः दूसरा मत ही ठीक है क्योंकि चुम्बन और दन्तक्षत दोनों मुख से किये जाते हैं। मुनि ने चुम्बन स्थान ही दन्तक्षत के बतलाये हैं और उसी का समर्थन रति रहस्य (कोकशास्त्र) से भी होता है। इन दोनों आचार्यों ने ऊपरी ओठ, मुख का अन्दरूनी भाग और नेत्र को छोड़कर चुम्बन के स्थानों पर दन्तक्षत करने का विधान किया है। अनंगरंग में ओठ, मुख के अन्दरूनी भाग और नेत्रों को छोड़कर नखक्षत के स्थानों पर दन्तक्षत करने का विधान किया है जो संगत प्रतीत नहीं होता। नखक्षत के स्थान को नितम्ब, पीठ इत्यादि भी हैं जहाँ दन्तक्षत नहीं किया जाता। नेत्रों, मुख के अन्दरूनी स्थान (जीभ इत्यादि) को छोड़कर दन्तक्षत का जो विधान किया गया है वह भी संगत नहीं होता न तो नेत्रों पर नखक्षत किया जाता है, न मुख के अन्दर जीभ इत्यादि में। इन स्थानों पर चुम्बन अवश्य किया जाता है। इससे भी निष्कर्ष यही निकलता है कि चुम्बन के स्थानों पर दन्तक्षत करने का मुनि का प्रतिपादन ही ठीक है। दन्तक्षत का भी महत्त्व नखक्षत का जैसा ही या कुछ लोगों के मत में उससे भी अधिक है। सम्भोग में पीड़ा में आनन्द आता है; जिस कार्य में जितना अधिक पीड़ा पहुंचती है उसमें उतना अधिक आनन्द प्राप्त होता है और उस कार्य का उतना अधिक महत्त्व भी होता है।

१—ओठ पर दांतों से ऐसा घाव बनाया जाता है जो स्पष्ट रूप में उभड़ आता है और उसमें लाली दिखलाई पड़ने लगती है उस दांतों के चिह्न को गूढक कहा जाता है। यदि जोश में भरकर दृढ आलिंगन के साथ अधर (नीचे के ओठ) के बायें भाग में एवं कपोल पर उसी प्रकार का चिह्न बनाया जाता है तब उसे उच्छूनक कहते हैं।

रदोष्टसंयन्त्रणतः प्रवालमणिः कपोले कृतिना प्रयोज्यः।
द्विदन्तसन्दंशयतोऽधरान्तर् द्विबिन्दुको बिन्दुरिति प्रसिद्धः ॥२ ॥

प्रवालमणि एवं बिन्दु

२—कपोल पर दांतों से काटने और ओठों से दबाने पर जो चिह्न बन जाते हैं उन्हें प्रवालमणि कहा जाता है। अधर के मध्य में दो दांतों से काटने पर जो दो बिन्दु बन जाते हैं उन्हें बिन्दु की संज्ञा दी जाती है।

रदैरनेकैर्मणिबिन्दुमाला (ले ?) गले कपोले हृदये लिखन्ती(न्ति) ।
तद्गण्डकाख्यं विषमैश्च कूटैर्वृत्तं स्तने नागरका वदन्ति ॥३॥

मणिबिन्दुमाला और गण्डक

३—अनेक दातों से नायक के गले, कपोल और हृदय पर मणियों के बूंद की समान जो चिह्न नायिका बनाती है उसे मणिबिन्दु माला कहा जाता है। नागरिक लोग (पुरुष) स्त्रियों के स्तनों पर विषम (अव्यवस्थित) उभारों वाले घेरे रूप चिह्न बनाते हैं उन्हें गण्डक कहा जाता है।

घनाः सुदीर्घा रदनाङ्कराजयो विभिन्नसद्विभ्रमलोहितान्तराः ।
विमण्डना एव कृताः पयोधरे लिखन्ति यत्नेन वराहचर्वितम् ॥४॥

वराहचर्वित

४—जब स्तनों पर दांतों के ऐसे चिह्न बनाये जाते हैं जो घने हों, विशेष रूप से दीर्घ हों, कतार में बने हों, बिखरे एवं घुमाव वाले हों जिनका अन्दरूनी भाग (खून के छिनक आने से) लाल रंग का हो मानो स्तनों को आभूषण पहिरा दिया गया हो उस चिह्न को वराहचर्वित कहा जाता है। (उसे देखने से ऐसा मालूम पड़ता है मानो स्तनों को शूकर ने चवा डाला हो। इसीलिये इसका नाम वराह चर्वित पड़ा है।) इस चिह्न को कामी लोग प्रयत्न पूर्वक बनाते हैं।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में दन्तक्षत नामक
तेइसवाँ परिच्छेद समाप्त

चर्तुविशंः परिच्छेदः

आलिङ्गनभेद

प्रियं मृगाक्षी सरलाङ्गयष्टि निंवेष्टयन्ती लतिकेव शालम्।
विचुम्बनार्थं नमयेत्तदीयम् मुखं लतावेष्टितकं तदाहुः ॥१॥

आलिगंनभेद

२४वें परिच्छेद में आचार्य ने आलिंगन (भेंटना) भेदों का विवेचन किया है। मुनि ने उपभोग या बाह्य सुरत में पहला स्थान आलिंगन को ही दिया है। मुनि के मत में प्रेम का प्रारम्भ अथवा प्रकाशन आलिंगन से ही होता है उसे मुनि सम्भोग वर्णमाला का पहला अक्षर या संभोगमन्त्र का ओंकार मानते हैं। आते जाते या किसी व्यवहार में अंग को छुआ देना या कोई वस्तु देते समय स्पर्श कर देना इसे भी मुनि आलिंगन में समाविष्ट करते हैं। यह स्पर्श इस प्रकार संकोच के साथ किया जाता है जिसे प्रयोज्य तो लक्षित कर लेता है किन्तु देखने वाले उसे संयोग ही समझते हैं। वात्स्यायन ने इसे सार्वजनीन पूजा बतलाया है और कहा है कि यह पूजा विद्वान्, मूर्ख, सज्जन असज्जन सभी करते हैं। गणिकाओं का समूह भी इस पूजा को महत्त्व देता है; फिर भला यह पूजा कौन नहीं करेगा? यह पूजा तो आनन्द दायिनी है। मुनि ने आलिंगन को सर्वप्रथम दो प्रकारों से विभाजित किया—(१) प्रथम सहवास से पहले और (२) दूसरी सहवास के बाद। प्रथम सहवास के पहले के आलिंगन—स्पृष्टक, विद्धक, उद्धृष्टक और पीडितक। दूसरी कोटि में आने वाले चार आलिंगन हैं—लतावेष्टितक, वृक्षाधिरुढक, तिल तण्डुलक और क्षीरनीरक। इनके अतिरिक्त सुवर्णनाभ द्वारा स्वीकृत चार आलिंगनों का और वर्णन किया जाता है जिसमें एक अंग को मिलाया जाता है। ये चार आलिंगन हैं—ऊरूपगूहन, जघनोपगूहन, स्तनालिंगन और लालाटिक। इन आलिंगनों में पद्मश्री ने ११ आलिंगनों का परिचय दिया है—लतावेष्टितक, वृक्षाधिरूढ, आश्लेषयुग्म, स्पृष्टक, पीड़ितक, तिलतण्डुल, क्षीरनीर, जघनोपगूहन, कुचोपगूढ, ऊरूपगूड और लालाटिक। इनमें आश्लेष युग्म नामक आलिंगन नया है; सुवर्णनाभ के माने हुये चार आलिंगनों का उपादान आचार्य ने किया है। शेष ६ आलिङ्गन भरत द्वारा प्रतिपादित आलिंगन ही हैं जिनमें अभियोग पूर्वक के दो आलिंगन छोड़ दिये गये हैं—विद्धक और उद्धृष्टक। पद्मश्री ने आलिंगनों का उपादान तो वात्स्यायन से ही किया है किन्तु उनकी क्रमबद्धता का ध्यान नहीं रक्खा है।

लतावेष्टितक

१—मृगनयनी नायिका प्रियतम को चूमने के लिये छड़ी के समान शरीर को सीधे रूप में खड़ा करके इसी प्रकार चिपटा ले जैसे लता सालवृक्ष को घेरकर चिपटा लेती है। इसी स्थिति में उसके मुख को नीचे झुकाकर चुम्बन ले ले। इस आलिंगन को लतावेष्टितक कहा जाता है।

आक्रम्य पादमबला चरणेन पत्युरूरुं तथाऽपरपदेन समञ्चयन्ती।
तत्पृष्ठसङ्गतभुजाऽन्यतरेण दोष्णा तं सम्मुखं सरभसं स्फुटमुन्नयन्ती॥२॥

किञ्चिच्च खिन्नरुदितेच्छति चुम्बनार्ता प्राणेश्वरः यदिह वृक्षमिवाधिरोढुम्।
वृक्षाधिरूढमुपगूहनमेतदुक्तमाश्लेषयुग्ममुदितं स्थितकान्तमेत्य॥३॥

वृक्षाधिरूढ उपगूहन और आश्लेष युग्म

२-३—अवला कुछ खिन्न सी कुछ रोती हुई सी चुम्बन की आकाङ्क्षा में अत्यन्त पीडित होकर पति के पैर को अपने पैर से दवाकर तथा दूसरे पैर से (पति की) ऊरु (जाँघ) का सहारा लेकर दवाती हुई, पति की पीठ को अपनी भुजा से घेरे हुये तथा दूसरी भुजा से जो वाई या दाहिनी कोई हो सकती है तेजी के साथ उसे (ऊरू को) ऊपर उठाती हुई ऐसी मालूम पड़े मानो पति रूपी वृक्ष पर चढ़ने का प्रयत्न कर रही है इस प्रकार जो आलिङ्गन किया जाता है उसे वृक्षाधिरूढ आलिङ्गन की संज्ञा दी गई है। बैठे हुये प्रियतम को भेंट लेना आश्लेष युग्म कहा गया है।

संस्पर्शपूर्वमबलापरिरम्भणं यत् तत् स्पृष्टकं मुनिजनैः कथितं पुराणैः।
कुड्याश्रयेषु परिपीडनमङ्गनायाः कुर्यात् पतिर्यदिह पीडितमेतदाहुः॥४॥

स्पृष्टक और पीडित (पीडितक)

४—स्पर्श पूर्वक अवला का जो आलिङ्गन किया जाता है वह पुराने मुनिजनों द्वारा स्पृष्टक आलिङ्गन कहा गया है। (वात्स्यायन ने कहा है कि अपने शरीर का दूसरे (प्रेमी या प्रेमिका) के शरीर से स्पर्श करा देना स्पृष्टक आलिंगन कहलाता है। यह उस अवस्था में किया जाता है जब तक दोनों का सम्मिलन नहीं हुआ है। यह आलिंगन इसलिये किया जाता है कि प्रेमपात्र व्यक्ति तो वास्तविकता समझ जाय; किन्तु दूसरे लोग यह समझें कि संयोगवश हो गया है।) किसी दीवाल के सहारे स्त्री को आलिंगन में दवाकर पीडित करना पीडितक आलिंगन होता है।

तल्पे वितन्वदवगूहनकेलिमुच्चैर्यन्निस्तरङ्गमिथुनं घटयेत रागात्।
रागातिरक्तपरिवर्धितगौरवेण तत्कीर्तितं मुनिवरैस्तिलतण्डुलाख्यम्॥५॥

तिलतण्डुल

५—चारपाई पर लेटे हुये जोड़े के दोनों व्यक्ति आलिंगन की क्रीडा को अत्यधिक रूप में विस्तारित करते हैं और प्रेमवश निस्तरंग (विना हिले डुले) लेटे रहते हैं। प्रेम की अधिकता के कारण बढ़े हुये गौरव से युक्त व्यक्तियों का आलिंगन बद्ध होना तिलतण्डुल कहलाता है। जिस प्रकार तिल और चावल मिले रहते हैं उसी प्रकार स्त्री पुरुषों के अंग एक दूसरे से उसी प्रकार चिपटे रहते हैं। इसलिये इस आलिंगन को तिलतण्डुल कहा जाता है।

अङ्के स्थिताऽथ शयने मृगशावकाक्षी गात्रेऽप्रियस्य विशती वनिताऽनुरागात्।
गाढोपगूहनवशेन निरन्तरं यत् संश्लेषमाहुरिह येन पयोऽभिधानम्॥६॥

क्षीरनीर

६—यदि मृगनयनी वनिता चारपाई पर प्रियतम की गोद में बैठी हुई प्रेमवश इस प्रकार आलिंगन करे मानो प्रियतम के शरीर में घुसी जा रही है प्रगाढ आलिंगन में जो निरन्तर संश्लेष चलता रहता है उस आलिंगन को क्षीरनीर की संज्ञा दी जाती है। इसमें दोनों ऐसे मिलते हैं मानो दूध और पानी मिल रहे हों! इसीलिये इसे क्षीरनीर कहा जाता है।

आक्रम्य यत्र जघनं जघनस्थलेन संलङ्घयेत् प्रियतमा पतिमानताङ्गी।
व्यक्तीभवन्नखपदा गलितोत्तरीया तज्ञै स्तदेव कथितं जघनोपगूहम्॥७॥

जघनोपगूहन

७—जब झुके हुये शरीर वाली युवती अपने जघनस्थल से प्रियतम की जंघाओं पर आक्रमण करे और इस क्रिया में पति का अतिक्रमण कर जाय आलिंगन के जोश में उसके कपड़े भी शरीर से अलग हो जायं जिससे उसके नाखून और दातों के चिह्न दिखलाई पड़ने लगें! कामशास्त्र को समझने वालों द्वारा वह आलिंगन जघनोपगूहन कहा जाता है।

दध्यादुरःस्थितभरं कुचयुग्ममुच्चैस्तन्व्यास्तदा प्रकथयन्ति कुचोपगूढम्।
ऊरूपगूढमपि कीर्तितमङ्गनोर्वोः पीडां यदोरुयुगलेन करोति कान्तः॥८॥

कुचोपगूढ और ऊरूपगूढ

८—कृश शरीर वाली सुन्दरी के दोनों स्तनों का भार अत्यधिक रूप में पति की छाती पर पड़ रहा हो—इस प्रकार के आलिंगन को कुचोपगूढ कहा जाता है। जब पुरुष के ऊरू स्त्री के ऊरुओं को पीड़ा देते हुये पूरी तरह से दवा लेते हैं तब उसे ऊरूपगूढ आलिंगन कहा जाता है।

वक्त्रे मुखं नयनयोर्नयनेनियुज्य क्रीडासुखानि तरसोन्मनसः प्रियायाः।
हन्याल्ललाटफलकेन ललाटमध्यं लालाटिकं तदुपगूहनमामनन्ति ॥९॥

लालाटिक

९—मुख में मुख और नेत्रों में नेत्र मिलाकर उत्कण्ठित प्रिया के साथ क्रीडा सुख का आनन्द अत्यन्त वेग के साथ लिया जाता है। इसमें ललाट फलक से प्रेमी के मस्तक को पीडित किया जाता है तब उस आलिंगन को लालाटिक कहा जाता है।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में आलिङ्गन नामक
चतुर्विंश परिच्छेद समाप्त

पञ्चविंशः परिच्छेदः

चुम्बन भेद

सञ्चोदनार्थं मदनाडिकानां निपीड्य वक्षःस्तननाभिमीषत्।
यच्चुम्ब्यते नागरकैर्मुनीन्द्रा निपीडितं चुम्बनमेतदाहुः। ।१ ॥

२५वें परिच्छेद में आचार्य ने चुम्बन का वर्गीकरण कर विवेचन किया है। ज्ञात होता है आचार्य चुम्बन के दो प्रकार मानता है—सशब्द चुम्बन और निश्शब्द चुम्बन। सशब्द चुम्बन का विवेचन आचार्य सीत्कार प्रकरण में २१वें परिच्छेद में कर चुका है। इस परिच्छेद को आचार्य ने निश्शब्द चुम्बन कहा है। प्रथम प्रकार के चुम्बनों से 'सी' की आवाज भी साथ में निकलती है। निश्शब्द चुम्बन 'सी' आवाज से रहित होते हैं। इन चुम्बनों की संख्या आचार्य ने ७ रक्खी है निपीडत, भ्रमित, उन्नमित्त, स्फुरित, संहितोष्ठ, वैकृतिक और नतगण्ड। चुम्बन के स्थान हैं—छाती, स्तन, नाभि, अधरोष्ठ, कपोल, हृदय जंघा और उरूदेश। आचार्य ने इस विषय में मुनि का आश्रय तो लिया है; किन्तु उसकी क्रमबद्धता और वर्गीकरण को छोड़ दिया है। सम्भवतः यह ग्रन्थ के संक्षिप्तीकरण के मन्तव्य से किया गया है।

निपीडत चुम्बन

१—मदनाडियों की उत्तेजना के लिये छाती, स्तन और नाभि देश को कुछ दबाकर नागरकों द्वारा जो चुम्बन किया जाता है उसे उच्च कोटि के मुनि लोग निपीडत चुम्बन कहते हैं।

भ्रान्तेन वक्त्रेण ललाटदन्तच्छदेषु तद् भ्रामितनामधेयम्।
उन्नामितोष्ठेन मुखेन नेत्रे गण्डे तथोन्नामितकं प्रसिद्धम्।।२ ॥

भ्रमित और उन्नामित

२—जब प्रियतम अपने मुख को इधर उधर घुमाते हुये मस्तक और अधरोष्ठ का चुम्बन करता है तब उस चुम्बन को भ्रामित चुम्बन कहा जाता है। उठे हुये ओठों वाले मुख से यदि दोनों नेत्रों और कपोल का चुम्बन करता है तो वह उन्नामित नाम से प्रसिद्ध है।

नाभौ कपोले स्फुरिताधरेण पयोधरे वा स्फुरितं प्रदिष्टम्।
तथोदितं हृज्जघनोरुदेशे श्लिष्टाधरौष्ठेन च संहतोष्ठम्।।३ ॥

स्फुरित एवं संहितोष्ठ

३—यदि फड़कते हुये अधर से नाभि कपोल और स्तन का चुम्बन किया जाता है तो वह चुम्बन स्फुरित नाम से प्रसिद्ध है। उसी प्रकार हृदय, जंघा और ऊरु देश में जो चुम्बन दोनों ओठों को जोड़कर किया जाता है उसे संहितोष्ठ कहा जाता है।

वक्रीकृतास्येन गले कपोले कुचे च तद्वैकृतकं तदाऽऽहुः।
सम्यङ्नतीकृत्य कपोलयुग्मं सर्वाङ्गदेशे नतगण्डमेतत् ॥४॥

वैकृतक और नतगण्ड

४—जब मुख को घुमाकर गले, कपोल और स्तन का चुम्बन किया जाता है तब उसे वैकृतक चुम्बन कहते हैं। मुख को भली भांति झुकाकर दोनों कपोलों का और समस्त शरीर का जो चुम्बन किया जाता है उसे नतगण्ड चुम्बन कहते हैं।

एतानि निःशब्दविचुम्बनानि मया यथास्थानमुदीरितानि।
अथाभिधास्ये मधुरस्वनानि मुखाधिवासानि विचुम्बनानि ॥५॥

उपसंहार

५—ये सब शब्दहीन चुम्बन हैं जिनका यथास्थान (एकाधिक प्रकरणों में) मेरे द्वारा वर्णन किया गया है। अब मैं ऐसे चुम्बनों का वर्णन करूंगा जिनका अधिवास मुख के अन्दर होता है और जिसमें साथ में मधुर स्वर का भी सामञ्जस्य रहता है।

भिक्षु पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में निश्शब्द चुम्बन नामक
पच्चीसवाँ परिच्छेद समाप्त

षड्विंशः परिच्छेदः

(जिह्वा प्रवेश)

सूक्ष्मीकृताग्रा रसना मुखान्तःप्रवेशिता तां प्रवदन्ति सूचीम्।
वितन्यमाना प्रतता मता सा, प्रकम्पमाना यदि वाकली स्यात्॥१॥

जिह्वा प्रवेश

१—जीभ के अगले भाग को सिकोड़ कर और उसे नोकदार बनाकर यदि मुख के अन्दर प्रविष्ट कर दी जाय तो उस जिह्वा को सूची कहा जाता है। यदि जीभ अन्दर प्रविष्ट कर फैला ली जाय तो वह प्रतता मानी गई है। यदि मुख के अन्दर जीभ को कंपाया जाय तो वह जीभ वाकली होती है।

पद्मश्री विरचित नागर सर्वस्व में जिह्वा प्रवेशनामक
छब्बीसवाँ परिच्छेद समाप्त

सप्तविंशः परिच्छेद

चूषण भेद

जिह्वाग्रमात्रस्य विचूषणं यत्तदुच्यतामोष्ठविमृष्टसंज्ञम्।
विचूष्यते शीघ्रतरं यदेतत्तच्चूषणं चुम्बितकं वदन्ति ॥१॥

चूषण भेद

ओष्ठविमृष्ट एवं चुम्बितक

१—जो कि केवल जिह्वा के अग्रभाग का चूसना है उसे ओष्ठविमृष्ट का नाम दिया जाय। उसी को जल्दी जल्दी चूसने को विचुम्बितक कहते हैं।

यदत्र दष्ट्वाऽधरचूषणं परैर्मनीषिभिः कीर्तितमार्दचुम्बितम्।
परस्परं स्त्रीपुरुषौ विचूषतो वदन्ति तत्सम्पुटकं विलासिनः ॥२॥

आद्रचुम्बित एवं संपुटक

२—दूसरे मनीषियों (काम शास्त्रियों) ने कहा है कि काटकर घाव करते हुये जो अधर को चूसा जाता है वह आर्द्र चुम्बित कहलाता है। यदि स्त्री पुरुष आपस में एक दूसरे का चूषण करे तो विलासी लोग उसे सम्पुटक कहते हैं।

पद्मश्री विरचित नागर सर्वस्व में चूषणा कर्मनामक
सत्ताइसवाँ परिच्छेद समाप्त

अष्टविंशः परिच्छेदः

उत्तान करण

वामोरुसंस्थापितदक्षिणोरु नारी यदा स्वस्तिकमाह धीरः ॥१॥
यदोरुमूलोपरि योषिदूरू वदन्ति माण्डूकमिदं मुनीन्द्रा ॥२॥

२८वें से ३२वें इन पाँच परिच्छेदों में सुरत (वास्तविक प्रावेशिक संभोग) का परिचय दिया गया है जिस पर अधिकतर कामसूत्र तथा इस विषय में प्रतिष्ठित दूसरे ग्रन्थों की छाया है। सुरत के लिये ५ प्रकार के करणों या आसनों का कामशास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लेख पाया जाता है। इन ५ अध्यायों में उन्हीं ५ प्रकार के आसनों का निरुपण किया है। २८वां परिच्छेद उत्तान आसन विषयक है जिसमें स्त्री चित लेटकर सहवास कराती है। इसमें स्त्री का मुख ऊपर को रहता है, इसीलिये इसे उत्तान करण कहा गया है। यह आसन सर्वाधिक प्रचलित है, और सर्वाधिक उपयोगी भी है क्योंकि इसमें शरीर के सभी अंग सुव्यवस्थित रहते हैं। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि आसनों की यह परिकल्पना इसलिये की गई है कि स्त्री-पुरुषों के संभोगाङ्ग सर्वदा न तो एक रूप होते हैं और न सर्वदा एक दूसरे से मेल में होते हैं। जो मेल में होते भी हैं उनमें एक कठिनाई यह होती है कि पुरुष का अंग कुछ ऊपर को होता है और स्त्री का कुछ नीचे की ओर जो सीधे लेटने में जांघों के बीच में दब ज़ाता है और पुरुष के लिये सहवास सम्भव नहीं होता। इसलिये आसनों में अंगों की विभिन्न मुद्राओं की परिकल्पना की गई है। साथ ही उच्चरतों में स्त्री को कष्ट होता है और नीच रतों में दोनों का अभीष्ट आनन्द प्राप्त नहीं होता। आसनों के द्वारा इन दोषों को कैसे दूर किया जा सकता है इस दृष्टि से भी आचार्यों ने विभिन्न आसनों की परिकल्पना की है। कामसूत्र में तो मुनि इस तत्त्व का निर्देश भी करते चले हैं कि किस आसन से उच्च या नीच रत में सुखकर सहवास किया जा सकता है।

इस परिच्छेद की पुष्पिका में कहा गया है कि इसमें २४ उत्तान सुरतों का परिचय दिया गया है। किन्तु वास्तव में इसमें १९ आसनों का ही परिचय है। ज्ञात होता है कि इसका कुछ भाग उच्छिन्न हो गया है जिसमें ५ आसन उच्छिन्न हो गये लगते हैं।

उत्तान करण (आसन) स्वस्तिक एवं मण्डूक

१-२—सुरत में जब स्त्री बायें ऊरु पर दाहिना ऊरु स्थापित करे तो वह स्वस्तिक आसन होता है। जब पुरुष के ऊरु मूल पर स्त्री की ऊरु हों तो वह आसन माण्डूक आसन बन जाता है।

कौर्मं यदोत्तानरतौ प्रयत्नादुभौ भवेतां सरलीकृताङ्गौ।
पादौ स्थितावात्म हनुप्रदेशे नार्या यदा तद्धनुपादसंज्ञम् ॥३ ॥

कूर्म आसन और हनुपाद

३–जब स्त्री पीठ के बल चित्त लेटकर सुरत क्रिया में प्रवृत्त होती है तब वह उत्तान आसन कहलाता है। इस प्रकार के आसनों में कूर्म आसन वह होता है जिसमें स्त्री पुरुष दोनों के शरीर एवं अंग सरल रूप में स्थापित हों। यदि स्त्री के पैर अपनी ठोढी में लग रहे हों तो उस आसन की संज्ञा हनुपाद होती है। (आशय यह है कि कूल्हे के पास से स्त्री अपने ऊरुओं को ऊपर की ओर मोड़ ले और घुटनों से पैरों को ऐसी स्थिति में स्थापित कर ले कि पैर उसकी अपनी टोढी की ओर मुड़ जायं। इसमें पैरों की स्थिति हनु (ठोढी) के निकट होने से इसे हनुपाद की संज्ञा दी जाती है।)

आबद्धपर्यङ्कपदप्रियायाः कण्ठं पतिर्बन्धुरयेद्भुजाभ्याम्।
तज्जानुजङ्घान्तरनिःसृताभ्यां पद्मासनं तत् करणं प्रदिष्टम् ॥४ ॥

पद्मासन

४—प्रिया के पैर पर्यंक बन्ध की स्थिति में हों अर्थात् उसका वायां पैर अपनी दाहिनी जांघ पर और दाहिना पैर बाई जांघ पर स्थित हो और पति उसके घुटने और जंघाओं के बीच से भुजायें निकाल कर उसके कंठ को घेर ले तब उसे पद्मासन कहा जाता है।

(जब स्त्री के पैरों की उक्त स्थिति होगी और पति अपने बाहें घुटनों के अन्दर से निकालेगा तब पति पत्नी की टांगों के घेरे में आ जायेगा और पत्नी की टांगें पति की पीठ पर जड़ी होंगी।)

पर्यंकमेकेन पदा निबद्धं तदर्धपद्मासनमुच्यते तु ॥५ ॥

अर्ध पद्मासन

५—यदि पर्यङ्कबन्ध एक ही पैर से किया गया हो अर्थात् एक पैर जांघ पर जमा लिया गया हो और दूसरा पैर फैला ही रहे इस आसन को अर्ध पद्मासन कहते हैं।

यदाऽङ्गना पादयुगं निदध्यात् प्रियोरसि स्यादिह पिण्डिताख्यम्।
आरोप्यते तत्र यदैकपादं तदा भवेत्पिण्डितमर्धपूर्वम् ॥६ ॥

पिण्डित एवं अर्ध पिण्डित

६—जब स्त्री दोनों पैरों को प्रिय की छाती पर लगा दे और इस प्रकार संयोग में निरत हो तो उस आसन को पिण्डित आसन कहा जाता है। यदि एक ही पैर छाती में लगाया जाय दूसरा फैला रहे तो अर्ध पिण्डित आसन होता है।

संस्थापयेदूरुयुगं मृगाक्षी पुंस्कन्धयोजृम्भितमुच्यते तत्।
विन्यस्यते तत्र यदोरुरेको नार्या तदा वेणुविदारणं स्यात्॥७॥

जृम्भित और वेणुविदारित

७—जब स्त्री अपनी दोनों उरुओं को पुरुष के कन्धों पर जमाकर सम्भोग में प्रवृत्त हो तो उस आसन को जृम्भित आसन कहा जाता है। यदि उस आसन में एक उरु को पुरुष के कन्धे पर रक्खा जाय तब उसे वेणुविदारित कहा जाता है।

स्त्रियः स्वपार्श्वद्वितयार्पितोरो रिन्द्राण्यपि स्यात्प्रियजानुयोगात्।

इन्द्राणी

यदि स्त्री अपने दोनों उरुओं को अपने दोनों पसवाड़ों में (वगल और उसके नीचे के विस्तार में) दवाले और पुरुष अपने घुटनों को उनमें रख दे और इस प्रकार सम्भोग करे तो उस आसन का नाम इन्द्राणी होता है। (इस आसन में पुरुष और स्त्री के गुप्ताङ्ग एक दूसरे से काफी दूर पड़ जाते हैं जिससे उनके मिलाने में काफी कष्ट होता है। अतः कामशास्त्रकारों में इस आसन को कष्टसाध्य बतलाया है।)

(इस आसन की व्याख्या विभिन्न लेखकों ने विभिन्न प्रकार से की है। ठीक स्थिति का पता नहीं चलता। इस विषय में कुछ लोगों ने स्त्री के घुटनों की पुरुष की वगलों में आने की बात कही है जो प्रस्तुत पद्य की वाक्य रचना से मेल नहीं खाती। स्त्री के लिये विशेषण 'स्वपार्श्व' में स्व का प्रयोग और 'प्रियजानु' में प्रियतम के घुटने शब्दों के प्रयोग से उक्त व्याख्या ही ठीक मालूम पड़ती है।

(२) पद्य की ये दो पंक्तियां सम्भवतः दूसरे पद्य का भाग है जो छापे की भूल से अस्थानस्थ हो गई है।)

एका (स्कंधा?) श्रितं कुञ्चितमेकजानु प्रसारितं चैकपदं तरुण्याः।
यूना समापीडितकण्ठदेशं संवेशनं सूच्यभिधानमग्र्यम्॥८॥

सूची

८—जब तरूणी एक घुटने को (पति के) कन्धे पर रख लेती है और एक पैर को फैल लेती है तथा पुरुष स्त्री के कण्ठ को पीडित करते हुये सम्भोग करता है तब उसे सूची नाम का संवेशन प्रकार कहा जाता है।

आरोपितं पादयुगेन चोर्वोर्नार्या यदा नागरकं प्रशस्तम्।
निपीडये दूरुयुगेन मध्ये कान्तस्तदा ग्राम्यमुदीरितं तत्॥९॥

नागरक और ग्राम्य

९—जब नारी के दोनों पैर पुरुष के दोनों उरुओं पर आरोपित होते हैं (या उनका स्पर्श करते हैं) तब वह नागरक आसन होता है जिसकी प्रशंसा की जाती है। जब मध्य में दोनों उरुओं से प्रियतम निपीडत करे तब उसे ग्राम्य कहा जाता है।

(ग्राम्य और नागरक दोनों आसन अधिक प्रचलित हैं और सामान्यतः इन्हीं का प्रयोग किया जाता है। ये समपाद आसन हैं और उन लोगों के अनुकूल पड़ते हैं जिनके गुप्ताङ्गों का परिणाह एक जैसा होता है। दूसरे आसन तब उपयोगी होते हैं जब अंग मेल में नहीं होते और उन्हें मेल में लाना पड़ता है। इन दोनों आसनों में स्त्री की उरुओं के बीच में पति को रहना पड़ता है। दोनों में अन्तर यह होता है कि ग्राम्य आसन में स्त्री की उरु पति के उरुओं पर चढ़ी रहती हैं जिनके दवाव में पति जोरदार सम्भोग नहीं कर पाता जबकि नागरक आसन में स्त्री अपनी उरुओं को ऊपर की ओर समेट लेती हैं; उसके पैर थोड़ा थोड़ा पुरुष के उरुओं का स्पर्श करते हैं तब पुरुष पूरी शक्ति से सम्भोग करने में समर्थ हो जाता है।)

पादौ स्थितौ वल्लभनाभिदेशे नार्या तदा कार्कटनामधेयम्।
वस्तौ कटीचोदनदोलितौ तौ तदोच्यते प्रेङ्खणमग्रधीभिः ॥१०॥

कार्कट और प्रेङ्खण

१०—जब स्त्री के पैर प्रियतम के नाभि प्रदेश में स्थिति होते हैं तब उस आसन को कार्कट कहा जाता है। वस्ति प्रदेश में कमर को सञ्चालित करने से यदि दोनों पैर हिलते रहें तो उस आसन का नाम प्रेङ्खण होता है।

आश्लिष्य वामेन भुजेन कान्तः पयोधरे सव्यकरं विदध्यात्।
नार्यानृजङ्घायुगसंयताङ्घ्रे बुधैस्तदा मार्कटकं तदुक्तम् ॥११॥

मार्कटक

११—जब पुरुष बाई बांह से स्त्री को भेंट ले और दूसरा हाथ स्त्री के स्तन पर रक्खे। स्त्री की दोनों जंघायें पुरुष की जंघाओं से नियन्त्रित (कसी हुई) रहें तब उसे मार्कटक आसन कहते हैं।

दधाति रामोरुयुगं कराभ्यां कान्तस्तदोद्भुग्नकमुच्यते तत्।
नीतं शिरश्चैकपदं तरुण्याः प्रसारितं चापरमायताख्यम् ॥१२॥

उद्भुग्नक और आयत

१२—जब प्रियतम अपने दोनों हाथों से स्त्री की दोनों उरुओं को पकड़ ले (और इस स्थिति में सहवास करे) तब उसे उद्भुग्नक नाम दिया जाता है। यदि तरुणी के एक पैर को सर पर रख ले और दूसरे पैर को फैला ले तब उसे आयत कहा जाता है।

कण्ठं निजं बन्धुरयेद्भुजाभ्यां स्वजनुजङ्घान्तरनिःसृताभ्याम्।
नितम्बिनी यत्र वदन्ति धीरास्तन्नागपाशं करणप्रधानम्॥१३॥

नागपाश

१३—जब स्त्री अपनी दोनों भुजाओं को अपने घुटने और जंघाओं के बीच से निकाल कर अपने कंठ को पकड़ कर कुछ तिरछा कर ले धीर लोग उसे नागपाश नामक प्रधान आसन की संज्ञा देते हैं।

(इस आसन में स्त्री की उरु और जांघे उसकी बाहों पर आ जाते हैं और पुरुष पर उनका दवाव विल्कुल नहीं पड़ता।)

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में उत्तान स्थित करण नामक
अट्ठाइसवाँ परिच्छेद सम्पात

एकोनत्रिंशः परिच्छेदः

द्वयोस्तिरश्चोः सरलीकृताङ्ग्यो र्विघट्टनं सम्पुटकं तदुक्तम्।
यदोरुयुग्मेन निपीडयेत्पतिं प्रिया तदा पीडितकं तदाहुः ॥१॥

तिर्यक् बन्ध (पार्श्वरत)

आचार्य ने पाश्वे रतों (तिरछे लेट कर सम्भोग कराने) में सम्पुटक आसन का वर्णन किया है। मुनि ने उत्तान आसनों में भी सम्पुटक माना है। जब स्त्री दो पैर फैला कर सीधे लेट जाती हैः पुरुषलिंग को पहले योनि में लेकर जंघाओं को दवाकर पुरुष लिंग को कस लेती है तब उत्तान सम्पुटक होता है। जब स्त्री करवट लेटकर पहले पुरुषयन्त्र को योनि में लेकर कस ले तब यह उत्तान सम्पुटक होता है। दोनों प्रकार का संपुटक नीचरतों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। इसकी सामान्य विशेषता है अंग संकोचन द्वारा पुरुष यन्त्र को कस लेना जो उत्तान और तिर्यक इन दोनों आसनों में सम्भव है।

१—(अ) सम्पुटक—जब दोनों स्त्री पुरुष तिरछे-करवट लिये हुये लेटे हों; उस अवस्था में अपने अंगों को सीधा करके रगड़ने का कार्य करें तब उस आसन को सम्पुटक कहा जाता है।

(कामशास्त्रीय ग्रन्थों में सम्पुटक दो प्रकार का माना गया है—उत्तान बन्ध और तिर्यक् बन्ध या पार्श्व सम्पुटक। यहां पर तिर्यक् बन्ध का ही परिचय दिया गया है। इसमें स्त्री करवट लेकर दूसरी ओर मुंह करके लेट जाती है। पुरुष पीछे से स्त्री यन्त्र में अपने साधन को इसी प्रकार स्थापित कर देता है जैसे दोने में कोई वस्तु रक्खी जाती है। इस प्रकार पीछे से ही सम्भोग की क्रिया पूरी करता है। करवट लेने में स्त्री यन्त्र के उरुओं के मध्य दब जाने से पुरुष यन्त्र के प्रवेश में कठिनाई होती है। इसका समाधान रति रहस्य में यह किया गया है कि स्त्री की टांगे उस यन्त्र को भींच लेती है जिससे योनि संकोचन भी होता है। स्त्री का नितम्ब विशाल होता है; अतः पुरुष वहां तक पहुंचने के लिये अपने नितम्ब के नीचे तकिया लगा लेता है।)

(आ) निपीडतक—जब स्त्री अपने दोनों उरुओं से पुरुष यन्त्र को दबाकर पीडित करती है तब उस आसन को निपीडतक की संज्ञा दी जाती है।

यस्मिन् भर्तुः सरलिततनोः कुञ्चितत्र्यस्त्रनार्या-
गाढाश्लेषो यदिह मुनयो मुद्रकं तद्वदन्ति।

पृष्ठे पश्चाद्दयितघटना कुञ्चितत्र्यस्त्रगात्रं
सीमन्तिन्या विमुखशयनं यत्परावृत्तकं तत् ॥२ ॥

मुद्रक

२—जिस आसन में प्रियतम का शरीर सीधा रहे और स्त्री लेटने में तीन कोण बनाती हो (घुटने, नितम्ब और ऊपरी भाग में मुड़ी हुई हो) उस समय प्रियतम गढ़ालिंगन कर जो सहवास करता है मुनि लोग उस आसन को मुद्रक बतलाते हैं।

(आ) परावृत्तक

पीछे से पीठ पर प्रियतम के क्रिया कलाप के कारण तीन कोणों से सिकुड़ते जाना और प्रिय की ओर पीठ घुमाकर लेटना परावृत्तक कहलाता है।

जङ्घाद्वयेनैव नरस्य जङ्घे स्त्री वेष्टयेद्वेष्टितकं प्रसिद्धम्।
भगेन लिङ्गस्य निपीडने तु वदन्ति तद्वाडवकं मुनीन्द्राः ॥३ ॥

वेष्टितक और वाडवक

३—जब स्त्री अपनी दोनों जंघाओं से पुरुष की जंघाओं को घेर लेती है तब उसे वेष्टितक आसन कहा जाता है। योनि से लिंग को कस कर पीडित करने को वाडवक की संज्ञा दी जाती है।

वेष्टितक आसन में संपुटक और पीड़ितक दोनों का योग रहता है। संपुटक की स्थिति में ही स्त्री अपनी जांघ को पुरुष की जांघ पर रखकर उसे दबाये रहती है और पुरुष भी स्त्री की जांघ को दबाये एवं घेरे रहता है। इसमें जांघों का व्यत्यास होता है—अर्थात् बाई जांघ से दाहिनी जांघ और दाहिनी जांघ से बाई जांघ दवाये रक्खी जाती है। इसमें योनि बहुत संकुचित हो जाती है जिससे पुरुष का लघु यन्त्र कसा रहता है—बाहर नहीं निकल जाता।

(वडवा का अर्थ है घोड़ी। जिस प्रकार घोड़ी की योनि में अश्व का लिंग जाते ही स्वाभाविक रूप में उसकी योनि लिंग को कस लेती है तब वडवा के समान व्यवहार करने के कारण उस आसन को वाडवक कहा जाता है। यह क्रिया अत्यन्त कठिन होती है और कहा जाता है आन्ध्र की स्त्रियां इस क्रिया के लिये अभ्यास करती हैं और इस विषय में उन्हें सहेलियों द्वारा शिक्षा दी जाती हैं।)

स्त्रियों में संभोगाङ्ग में एक संकोचिनी नाडी होती है। ऊपर को श्वास लेकर तथा गुदा को ऊपर की ओर खींचकर उसे संकुचित किया जाता है। इसमें जितनी देर तक इस क्रिया को रोके रक्खा जा सकता है उतनी देर तक पुरुष यन्त्र कसा रहता है। कुछ पशुओं में यन्त्र के प्रवेश के साथ ही बिना किसी प्रयत्न के यह नाड़ी संकुचित हो जाती है। यहाँ पर वडवा (घोड़ी) की नाड़ी के संकुचित होने की बात कही गई है। कुत्तों में भी यह क्रिया

देखी जाती है। यह क्रिया पुरुष के लिये उत्तेजित कारक औषधि का भी काम देती है। यह नपुंसकता की एक अच्छी औषधि है।

आसीनकान्तत्रिकपादयुग्मं नितम्बवत्या यदि युग्मपादम्।
पार्श्वे स्थितानां मृगलोचनानां गीतानि तज्ज्ञैः करणानि सप्त ॥४॥

युग्मपाद

४—यदि बैठे हुये पुरुष के त्रिक संबद्ध दोनो चरण और नितम्बिनी के दोनों चरण (एक सी स्थिति में) हों तो उस आसन को युग्मपाद की संज्ञा दी जाती है।

(यहां स्पष्ट नहीं है कि लेखक कहना क्या चाहता है। सम्भवतः लेखक का ध्यान रति रहस्य में दी गई परिभाषा की ओर है। उसमें कहा गया है स्त्री और पुरुष दोनों बैठे हुये हों; स्त्री एक पैर फैला ले और दूसरा सिकोड़ ले; स्त्री के फैले हुये पैर के नीचे पुरुष अपना पैर फैला ले और स्त्री के सिकोड़े हुये पैर की ओर वाले अपने पैर को समेट कर सम्भोग करे तो उसे युग्मपाद कहा जाता है।)

तिर्यकबन्ध का उपसंहार

पसवाडे से (करवट लेकर) स्थित मृगनयनियों के ७ आसन कामशास्त्रज्ञ लोगों ने बतलाये हैं। (उन सात आसनों का प्रस्तुत परिच्छेद में परिचय दिया गया है।) वे आसन ये हैं—सम्पुटक, पीडितक, मुद्रक, परावृत्तक, वेष्टितक, वाडवक और युग्मपाद।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागर सर्वस्व में पार्श्वकरण नामक
उनतीसवाँ परिच्छेद समाप्त

त्रिंशः परिच्छेदः

मयूरकाद्याश्रितया तरुण्या कान्तस्य योगोऽथ विपर्ययेण।
विधायकं कल्पज (क?) शास्त्रविद्भि स्त्वासीनसंज्ञं करणं तदुक्तम्॥१॥

आसीन आसन

१—यदि तरुणी मयूरक इत्यादि किसी आसन से बैठी हो और पुरुष उससे विपरीत अवस्था में स्थित हो तो इस प्रकार के सुरत आसन को कल्पज (?) शास्त्रज्ञों ने आसीन संज्ञक आसन बतलाया है।

मञ्जीरकान्तिच्छुरितत्रिकस्य पर्यङ्कबन्धस्थिरभर्तुरङ्कम्।
स्थिताङ्गनाबाहुविषक्तकण्ठं प्रशस्तमेतल्ललितं विधिज्ञैः॥२॥

ललित आसन

२—यदि पति पर्यङ्कबन्ध आसन से बैठा हो और तरूणी उसकी गोद में इस प्रकार बैठी हो कि उसके नूपुरों की झलक पति के त्रिक (दोनों जंघाओं और रीढ की हड्डी के निचले छोर इन तीनों की सन्धि) पर पड़ रही हो और उसकी बाहें प्रियतम के कण्ठ को घेरे में लिये हों तो उस आसन को ललित आसन कहा जाता है। यह आसन प्रशंसनीय है।

पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में आसीन करण नामक
तीसवाँ परिच्छेद समाप्त

एकत्रिंशत् परिच्छेदः

व्यानत आसन

अनुच्चैः पूर्वाङ्गं निजचरणयोः पाणियुगलं,
तथा यष्टेः पश्चात् स्थित पतिकराश्लिष्टमुदरम्
नितम्बिन्या धीरैः पशुकरणमेतन्निगदितम्,
प्रशस्तं यत्सिन्धौ मरुकुरुजनैश्चापि सुतराम् ॥१ ॥

पशुकरण

स्त्री शरीर का ऊपरी भाग झुका हुआ हो और उसके दोनों हाथ अपने पैरों पर जमे हुये हों (वह पशु के समान खड़ी हो) इस प्रकार की उसकी शरीर यष्टि के पीछे की ओर उस पर झुक कर अपने दोनों हाथों से स्त्री के पेट को पकड़ लें और इस प्रकार संभोग करे। इस करण को पशु करण की संज्ञा दी जाती है। यह आसन मारवाड और कुरुदेश के लोगों में प्रशंसनीय माना जाता है।

तनौ तल्पासीने निजकरधृतं पार्ष्णियुगलं
नितम्बिन्याः पृष्ठं नतमतिशयोत्क्षिप्तजघनम्।
समुन्नीतं पश्चात् परमदयितेनोरुयुगलं
स्मृतं व्याघ्रस्कन्दं करणमतनो दुष्करमतम् ॥

व्याघ्रस्कन्द

संभोगशय्या पर शरीर को इस प्रकार रख दे कि अपने दोनों हाथों से पसवाड़े को पकड़ लें। स्त्री की पीठ बहुत बहुत झुकी हो। इस प्रकार जघन भाग (नितम्ब के घेरे) को ऊँचा उठाकर परम प्रियतम पीछे की ओर दोनों उरुओं को स्थिर रखते हुये स्त्री के ऊपर चढ़कर संभोग करे। यह व्याघ्रस्कन्द (वाघ की उछाल) नामक आसन है जिसका करना कुछ कठिन है।

ये दोनों करण न तो प्रसिद्ध हैं, न प्रयोग में आते हैं और न इनका अर्थ ही अधिक स्पष्ट है। कामशास्त्र में अनेक पशुओं के समान संभोग का प्रतिपादन किया गया है। दो पशुकरण गाय के समान और हाथी के समान (धेनुक और ऐभ) अधिक प्रसिद्ध हैं और

प्रयोग में भी आते हैं। स्पष्टीकरण के लिये ग्रन्थान्तर से उनका उल्लेख निम्न पंक्तियों में किया जा रहा है।

विन्यस्य पाण्यङ्घ्रियुगंधरण्यामधोमुखी धेनुवदग्रसंस्था।
स्यात् स्त्री यदाऽधः कटिदेशवर्ती भर्ता भजेद्धेनुकमेतदुक्तम्॥

जब दोनों हाथों और दोनों पैरों को भूमि पर रखकर नीचे को मुख किये हुये गाय के समान आगे को स्थित हुई स्त्री हो और उसके कमरदेश में स्थित पति संभोग करे वह धेनुक कहा गया है।

(धेनुक शब्द का अर्थ है ऐसा आसन जिसमें गाय के समान व्यवहार किया जाय। इसमें स्त्री अपने दोनों हाथों को पृथ्वी पर जमा देती है और दोनों पैर पीछे की ओर पृथ्वी पर रक्खे रहते हैं। वह इस प्रकार खड़ी हो जाती है जैसे गाय खड़ी होती है। पैरों से आगे की ओर को झुक कर खड़े होने में उसका यन्त्र स्वाभाविक रूप में जंघों के ऊपर आ जाता है। पुरुष बैल के समान पीछे खड़े होकर उससे सहवास करता है। स्वाभाविक है कि इस अवस्था में स्तन मर्दन में कठिनाई होती है और चुम्बन लेना तो और भी कठिन हो जाता है। अतएव इस अवस्था में स्तन मर्दन इत्यादि का कार्य स्त्री की पीठ मर्दन इत्यादि के द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिये।)

(अनंगरंग से)

ऐभ आसन

अधोमुखी मस्तकदोःकुचास्यै र्भुवं गतां क्रामति यत्र नारीम्।
करीवभर्ता रतिलोलचित्त स्तदैभसंज्ञं करणं प्रदिष्टम्॥

नीचे को मुख वाली, मस्तक बाहें, स्तन और मुख से पृथ्वी का स्पर्श करने वाली नारी को हाथी के समन रति के लिये चञ्चल चित्त वाला पति जहां आक्रान्त कर लेता है उस करण को ऐभ करण कहा जाता है।

(इभ का अर्थ है हाथी। इभ के समान जो आसन लगाया जाता है उसे ऐभ आसन कहा जाता है। इतनी ऊँची हथिनी की पीठ पर चढ़कर सहवास करना और उस पर पूरा बोझ रख देना हाथी जैसे विशालकाय जानवर के लिये भी अति कठिन है। अतः होता यह है कि हथिनी अपने पैरों को समेटकर मुख इत्यादि अगले भाग को जमीन पर रख देती है और पिछली टांगों से घुटने के वल खड़ी होकर योनि को कुछ ऊँचा कर देती है जिससे हाथी आसानी से सहवास कर लेता है। इसी प्रकार जब स्त्री नीचे को मुख कर लेती है, मस्तक, बांहें, स्तन और मुख को जमीन पर लगा देती है और पिछले भाग को घुटनों के बल पर कुछ ऊँचा कर देती है जिससे योनि जांघों के ऊपर सीध में आ जाती है। पुरुष

रति करने के लिये चंचल चित्त होकर जब उसी प्रकार स्थित नारी से सहवास करता है तब उस आसन को ऐभ आसन की संज्ञा दी जाती है।)

(अनंगरंग से)

(वात्स्यायन ने इस प्रसंग में अनेक अन्य जीवों की कामक्रीडा का वर्णन किया है जिनमें कुत्ते, हिरण, बकरे, गधे, बिल्ली, व्याघ्र, शूकर, घोड़े इनका उल्लेख कर इनकी कामक्रीडा देखकर इनके अनुकरण का निर्देश दिया है। इस विषय में बहुतों के साथ कामक्रीडा का भी उल्लेख किया है और उसे गोयूथिक संज्ञा दी है। जिस प्रकार एक वैल अनेक गायों का उपभोग करता है या जिस प्रकार जल क्रीडा में एक हाथी अनेक हथिनियों के साथ विहार करता है या जिस प्रकार एक हरिण अनेक हरिणियों से या एक वकरा अनेक बकरयों के साथ विहार करता है उसी प्रकार एक पुरुष अनेक स्त्रियों का समूह में उपभोग कर सकता है। ग्रामनारी नामक स्त्री राज्य प्रदेश में एक स्त्री अनेक पुरुषों का एक साथ उपभोग करती है। इस प्रकार की सुरत को संघाटक उपभोग कहा जाता है। उन प्रदेशों में अनेक पुरुष एक स्त्री के अन्तःपुर में इसी प्रकार रहते हैं, जिस प्रकार अनेक राजाओं की रानियां रहती हैं। उपसंहार में वात्स्यायन का कथन है—

पशूनां मृगजातीनां पतङ्गानां च विभ्रमैः
तैस्तैरुपायै श्चिततज्ञो रतियोगान् विवर्धयेत्॥

(पशुओं, मृगों की जातियों और पक्षियों की विलास चेष्टाओं द्वारा प्रेमिकाओं की मनोवृत्ति को समझकर विभिन्न उपायों से रतियोगों को बढ़ाये।) यशोधर ने पशुओं के प्रेम परक स्वर के अनुकरण की भी बात कही है।

पद्मश्री विरचित नागर सर्वस्व का पशुकरण परक व्यानत बन्ध विषयक
इकतीसवाँ परिच्छेद समाप्त

द्वात्रिंशः परिच्छेदः

तन्व्या नरेणोदधृतपादमेकं चान्यं पृथिव्यां हरिविक्रमाख्यम्।
कान्तत्रिकारोपितपादमेकं तदोच्यते व्यायतनामधेयम्।।१ ।।

(अ) हरिविक्रम आसन

१—पुरुष स्त्री के एक पैर को ऊपर उठा दे और दूसरा पृथ्वी पर ही रक्खा रहे तब उसे हरिविक्रम आसन कहा जाता है।

हरिविक्रम का अर्थ है वामनावतार में वामन का उठाया हुआ पैर। यह आसन उत्थित वन्ध है अर्थात् इसमें खड़े खड़े सम्भोग किया जाता है। स्त्री पुरुष एक दूसरे के आमने सामने खड़े हो जाते हैं। स्त्री अपनी बाहों से पुरुष के गले को घेर लेती है। वह अपनी जांघों को फैलाकर पति की जांघों के सहारे इस प्रकार खड़ी हो जाती है कि उसका एक पैर जमीन पर टिका रहता है और दूसरा ऊपर को उठा हुआ होता है इस अवस्था में जब वह संभोग करती है तब ऐसा मालूम पड़ता है मानो वामन भगवान् ने पृथ्वी और आकाश को नापने के लिये अपना एक पैर ऊपर उठा लिया हो।

(आ) व्यायत आसन

यदि एक पैर प्रियतम के त्रिक में लगा दिया गया हो तब उसे व्यायत आसन कहा जाता है।

हरिविक्रम आसन में जो स्थिति बतलाई गई है उसी स्थिति में यदि स्त्री का उठा हुआ पैर प्रिय के त्रिक (दोनों जांघों और रीढ़ की हड्डी के जोड़) में लगा रहे तो वह व्यायत आसन होता है; क्योंकि इसमें स्त्री की जंघायें अधिक फैली होती हैं। इसमें प्रियतम की पीठ की ओर ले जाकर उठा हुआ पैर स्त्री प्रियतम के त्रिक में लगा देती है।

नृहस्तयोः पादतले धृते तु विषक्तकण्ठ्याऽर्पितनामधेयम्।
धृतं निजे वक्षसि वल्लभेन स्त्रीपादयुग्मं प्रवदन्ति दोलाम्।।२ ।।

(अ) अर्पित

२—झुके हुये कण्ठ वाली नायिका द्वारा अपने चरण पुरुष के हाथों में रख देने पर (पति के हाथों में अपने चरण रखकर सहवास करने पर) अर्पित नामक आसन कहा जाता है।

(आ) दोला

पति द्वारा स्त्री के दोनों पैर छाती से लगाकर सहवास करने में उस आसन को दोला (झूले) की संज्ञा दी जाती है।

लगभग सभी उत्थित बन्धों में स्त्री क्रियाशील होती है। एक तो कद में स्त्री प्रायः पुरुष से छोटी होती है; फिर उसका सम्भोगाङ्ग भी पुरुष के नीचे ही रहेगा। अत एव यह सम्भव नहीं है कि खड़ी हुई स्त्री का पुरुष खड़े खड़े सहवास कर सके। पुरुष अपने हाथों पर उसके पैर लेकर सहारा दे देता है और इस प्रकार वह सहवास करने में समर्थ हो जाता है। यह अर्पित आसन है। यदि स्त्री खड़े हुए पुरुष की छाती में पैर लगा लेती है और पुरुष के हाथों पर लेटी हुई सी होकर झूला सा जूलती हुई सहवास करती है तो वह दोला आसन हो जाता है।

नार्या यदा बाहुविषक्तकण्ठ्या, नितान्तसंयोजितपादयुग्मम्।
स्थितस्य कुड्याश्रित नायकस्य, त्र्यस्त्रे तदा विद्धि विलम्बितारव्यम्॥३॥

विलम्बित करण

३—जब नारी प्रियतम के गले में दोनो बाहें डाल ले और उसके पैरों से अपने दोनों पैर भली भांति सटा ले। पति दीवार के सहारे खड़ा हो उस समय तीन कोणों से शरीर को मोड़ते हुये जो सहवास किया जाता है उसे विलम्बित आसन की संज्ञा दी जाती है।

नृकूर्परद्वन्द्वविलम्बिजानुं नितम्बिनीं बहुविषक्तकण्ठीम्।
निवेष्टये द्बाहुयुगेन मध्ये स्थितः पतिः कूर्परजानुसंज्ञाम्॥४॥

कूर्पर जानु

४—पति मध्य में स्थित हो; उसकी दोनों कोहनियों पर नायिका के घुटने अवलम्बित हों; नायिका की बाहें प्रियतम के कंठ को घेर रही हों और पुरुष अपनी दोनों बाहों से भेंटकर सहवास करे इस आसन की जानुकूर्पर संज्ञा होती है।

कामसूत्र में अवलम्बित आसन का वर्णन किया गया है; उसी का विलम्बित नाम से अधूरा अनुवाद पद्मश्री ने किया है। इस आसन में पुरुष दीवाल का सहारा लेकर खड़ा हो जाता है और अपने हाथों की अंगुलियाँ जोड़कर बैठने का एक आसन सा बना लेता है जिस पर स्त्री बैठ जाती है; वह अपनी टांगें पुरुष की कमर के दोनों ओर से निकालकर अपने पैर दिवाल से सटा देती है और पैरों से दीवाल को धक्का दे दे कर सहवास करती है। इस क्रिया में पुरुष के हाथों पर बैठी हुई नायिका अपने हाथों से पुरुष के गले में गोफा डाले रहती है।

विलम्बित आसन में जो स्त्री की क्रिया होती है लगभग वैसी ही क्रिया जानुकर्पर में पुरुष द्वारा सम्पादित की जाती है। इसमें स्त्री खड़ी रहती है, वह केवल अपनी टांगें पैला लेती है। पति भी एक प्रकार से खड़ा ही रहता है। उसके पैर जमीन पर रहते हैं। वह घुटनों के बल झुक जाता है और स्त्री की फैली हुई जांघों के बीच से सहवास करता है। इस क्रिया में वह अपनी कोहनी से स्त्री की गर्दन को घेरे रहता है। यह क्रिया तभी बन पाती है जब पुरुष स्त्री से लम्बा हो।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में उत्थित करण नामक
बतीसवाँ परिच्छेद समाप्त

अन्तःसुरत विषयक टिप्पणी

स्त्री पुरुष के सम्भोगाङ्गों का मिलना और संघर्षण ही मुख्य सुरत (सम्भोग) है। शास्त्र में इसके लिये कई शब्दों का प्रयोग किया जाता है—करण, आसन, संवेशन, बन्ध, लय इत्यादि यह प्रक्रिया पाई तो समस्त जीव जगत् में जाती है किन्तु मानव जाति में एक कठिनाई आ जाती है—सभी पुरुषों के यन्त्र एक ही परिमाण के नहीं होते और न सभी स्त्रियों के यन्त्रों की गहराई एक जैसी होती है। यदि दोनों के अंगों की असमानता में संयोग हो जाता है तो न तो सहवास का दोनों को आनन्द आता है और न पुत्रादि रूप फल प्राप्ति ही सम्भव हो पाती है। इस समस्या का हल आचार्यों ने कई रूपों में निकला जिसका एक उपाय था विभिन्न आसनों की कल्पना। कहा जाता है इस दिशा में ८४ आसनों (poses) की कल्पना की गई किन्तु वात्स्यायन सूत्रों में भी इतने आसनों का निरूपण किया नहीं गया है। ज्ञात होता है वात्स्यायन का कुछ भाग लुप्त हो गया है। आसनों को ५ अवस्थाओं में विभाजित किया जाता है—(१) उत्तान बन्ध जब स्त्री पीठ के बल लेट कर सुरत क्रिया में प्रवृत्त होती है; (२) तिर्यक बन्ध जब करवट लेट कर सामने से या पीछे से सुरत क्रिया की जाती है; (३) उपविष्ट बन्ध—जब यह क्रिया बैठकर की जाती है, (४) ऊर्ध्व बन्ध—जब पुरुष खड़े होकर सहवास करता है और (५) व्यानत बन्ध या पशुकरण सुरत—जब नायिका पशु के समान दोनों हाथों को जमीन से टेक कर खड़ी हो जाती है और पुरुष पीछे से झुककर सहवास करता है।

उक्त सुरतों में सर्वाधिक प्रचलित और सर्वाधिक प्रतिष्ठित उत्तान बन्ध है क्योंकि इसमें स्त्री का संभोगयन्त्र पूर्ण रूप से दब जाता है और ऊपरी शरीर पर पूरा दवाव रहता है तथा चुम्बनादि की पूरी सुविधा रहती है जिसमें दोनों के अंगों का परिमाण मेल खाता है। इसके प्रतिकूल दो रत और होते हैं—नीच रत जिसमें स्त्री यन्त्र की गहराई की अपेक्षा पुरुष यन्त्र की लम्बाई और मोटाई कम होती है तथा उच्चरत—जिसमें पुरुष यन्त्र के लिये आवश्यक परिमाण से स्त्री यन्त्र की गहराई कम होती है। नीच रत में स्त्री यन्त्र की दीवारों में पुरुष यन्त्र का स्पर्श ही नहीं होता और सुरत की वास्तविकता भी पूरी नही होती; उच्चरत में दोनों को सहवास में कष्ट होता है किन्तु सुरत सम्पन्न हो जाता है। नीचरत अधिक बुरा होताहै क्योंकि इसमें सहवास ठीक रूप में हो ही नहीं पाता। सन्तान सुख की प्राप्ति में वाधा पड़ती है। जहां सहवास ठीक नहीं हो पाता वहां गृहकलह भी बढ़ जाता है और निगाह इधर उधर पड़ने लगने से व्यभिचार की सम्भावना भी अधिक हो जाती है। उच्चरत में स्त्री डरने और घबराने लगती है तथा पुरुष का जीवन दु:खमय हो जाता है।

उच्चरत में वात्स्यायन ने प्रतिसारक का निर्देश दिया है अर्थात् प्रवेश में कष्ट का अनुभव होने पर स्त्री अपने नितम्ब भाग को धीरे धीरे पीछे की ओर को सरकाती रहे जिससे पीडा कुछ कम हो जाती है। उरुओं को इधर उधर फैला लेना भी एक उपाय है जिससे स्त्री यन्त्र कुछ फैल जाता है और प्रवेश में कष्ट की अनुभूति कुछ कम हो जाती है। करवट लेकर सहवास नीच रत के अनुकूल पड़ता है। विशाल नितम्ब के दवाब में योनि सिकुड़ जाती है और उस अवस्था में पुरुष यन्त्र से उसका संघर्षण बन जाता है। किन्तु उस अवस्था में प्रवेश में कठिनाई होती है। इस विषय में शास्त्रकारों का सुझाव है कि स्त्री अपने यन्त्र में पहले ही पुरुष यन्त्र को ले ले और बाद में उरुओं को भींचकर दवा ले तब वह सुरत जैसे तैसे बन जाता है। तिर्यक् आसन शंखिनी और हस्तिनी स्त्रियों के अनुकूल बन जाते हैं। स्थित आसनों में बाह्य सुरत चुम्बन आदि की सुविधा रहती है किन्तु उसमें क्रियाशील स्त्री होती है क्योंकि स्त्री यन्त्र नीचे होता है जिससे पुरुष क्रियाशील हो ही नहीं सकता। स्थित आसन कठिनाई पैदा करते हैं और रोगजनक होते हैं अतः उनका प्रयोग कम ही किया जाता है। जिन पुरुषों का यन्त्र छोटा होता है उनके लिये व्यानतबन्ध भी अच्छे सिद्ध होते हैं। इन बन्धों में भी पशुओं के समान क्रियाशील होने के कारण उत्तान बन्ध जैसी सुविधा रहती है—केवल बाह्य रत चुम्बनादि की गुञ्जायश नहीं रहती। ऊर्ध्व या उत्थित बन्ध चित्र रतों में आते हैं। उनमें भी क्रियाशील स्त्री ही होती है। वास्तविक आनन्द पुरुषयन्त्र की अगली नोक और स्त्री यन्त्र के अन्तिम छोर के संघट्ट में ही होता है जिसे विचारकों ने योगियों द्वारा प्राप्य ब्रह्मानन्द के समकक्ष माना है—

ऊद्गर्भशय्यावदनान्तिकस्थं चिञ्चाप्रसूनप्रतिमं भगान्तः।
तद्ब्रह्मसौख्यास्पदमाहुरार्याः स्पर्शात्परं द्रावकमङ्गनानाम्॥

त्रयस्त्रिंशः परिच्छेदः

यदङ्गुलीनां प्रविधाय कुञ्चनं चतसृणामेव करोति मस्तके।
अनल्पतात्कारनिनादि ताडनं स्मृतं विदग्धैरिह शब्दकर्तनम्॥१॥

शब्दकर्तन

१—जो कि नायक चारों अंगुलियों को एक में जोड़ कर इकट्ठा करके मस्तक पर प्रहार करता है जिससे जोर का तात् शब्द निकलता है—इस क्रिया के साथ पति सम्भोग क्रिया को जारी रखता है; इस क्रिया को निपुण लोग शब्दकर्तन की संज्ञा देते हैं।

आबद्धमुष्ट्या यदि मुष्टिसंज्ञं श्रोणीतटे पृष्ठतले विधेयम्।
गण्डे पदङ्गुष्ठतलेन हन्यात्तदा बुधा विद्धकमामनन्ति॥२॥

मुष्टि एवं विद्धक ताडन

२—मुट्ठी को बांधकर यदि उससे कमर, नितम्ब, और पीठ पर प्रहार किया जाता है उस ताडन को मुष्टि संज्ञा दी जाती है। कपोलों को पैर के अंगूठे से ताडित करे—उस ताडन को विद्वान लोग विद्धक नाम देते हैं।

बाह्य सुरतों (चुम्बन इत्यादि) का विधान स्त्री को उद्दीप्त करने के निमित्त किया जाता है यह पहले बतलाया जा चुका है। उसी श्रेणी में स्त्री के विभिन्न शरीरावयवों पर प्रहार करना भी स्त्री उद्दीपन का एक साधन है। कामशास्त्रीय ग्रन्थों में इसका विशेष विस्तार किया गया है। वर्तमान समाज में और विशेषकर पाश्चात्य समाज में यह अधिकतर अपनाया जाता है।

कामसूत्र में ताडन का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। हाथ की विभिन्न मुद्राओं द्वारा स्त्री के विभिन्न अंगों कोपीटने के लिये मुनि ने हाथ की चार मुद्रायें बतलाई हैं—प्रसृत (फैलाया हुआ हाथ) अपहस्त (उल्टा हाथ) मुट्ठी और समपाणि। इनका किस प्रकार किन अंगों पर प्रहार किया जाता है इसका अध्ययन मनोरंजक भी है और शिक्षाप्रद भी। पद्मश्री ने यहाँ संकेत भर दिया है। विस्तार के लिये कामसूत्र का अवलोकन करना चाहिये। अनंगरंग में भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इन हस्त मुद्राओं के अतिरिक्त हाथ की अस्त्रों जैसी आकृति बनाकर प्रहार करने का भी शास्त्रकारों ने विवेचन किया है। हाथ की अस्त्र रूप में भी चार मुद्रायें बतलाई गयी हैं—कीला कर्तरी (कैंची) विद्धा (दो अंगुलियों मध्यमा और तर्जनी के मध्य से अंगूठा निकाल कर उससे प्रहार करना) और संदंशिका

(विभिन्न अंगों में चुटकी काटना)। कामसूत्र में वास्तविक यन्त्रों के प्रयोग का भी निदेश है और उसके दुष्परिणाम भी बतलाये गये हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों में स्त्री द्वारा भी प्रहार करने का विवेचन किया गया है।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में ताडन नामक
तैंतीसवाँ परिच्छेद समाप्त

चतुस्त्रिंशः परिच्छेदः

आदाय मुष्ट्या परिमर्दनं यत्तदुक्तमादीपितनामधेयम्।
स्पृष्ट्वा यदा हस्ततलेन विद्धं तदोच्यते स्पृष्टकमग्रधीभिः ॥१ ॥

(अ) आदीपित

१—(किसी अंग को) पकड़कर मुट्ठी से भली भांति मर्दन करना आदीपित नाम का मर्दन होता है।

(आ) जब हाथ के तल (हथेली) से अंग का स्पर्श करके उसे विद्ध (प्रताडित) किया जाता है। तब उस ताडन को विद्ध संज्ञा दी जाती है।

आकम्पमानेन करेण यच्च मनीषिभिः कम्पितकं तदुक्तम्।
इतस्ततो यत्र निपीडमात्रे मतं मुनीन्द्रेण समाक्रमाख्यम् ॥२ ॥

(अ) कम्पितक

२—जहां कांपते हुये हाथ से मर्दन किया जाता है उसे मनीषी लोग कम्पित का नाम देते हैं।

(आ) समाक्रम

जब केवल इधर उधर निपीडन किया जाता है मुनीन्द्र का मत है कि उसे समाक्रम की संज्ञा दी जाती है।

चौंतीसवे परिच्छेद में आचार्य ने अंगों के मुट्ठी से मर्दन करने का उल्लेख किया है। शरीर पर जो मालिश इत्यादि की जाती है उसे कामशास्त्र की एक प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाता है। एक मत यह है कि किसी भी रूप में दूसरे के शरीर का स्पर्श करना चाहे वह मालिश के लिये ही हो कामशास्त्र के क्षेत्र में आता है। किन्तु वात्स्यायन इससे सहमत नहीं है। उनका विचार है कि इसमें भावना का महत्त्व अधिक है; सामान्य मालिश स्वास्थ्य वर्धन या रोग शमन के लिये की जाती है। काम वासना प्रकट करने के लिये या काम की भावना से प्रेरित होकर जो मालिश की जाती है वही काम के क्षेत्र में आती है।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागर सर्वस्व में मर्दन नामक
चौंतीसवाँ परिच्छेद समाप्त

पञ्चत्रिंशः परिच्छेदः

यः सर्वगात्रेषु दृढं करेण ग्रहस्तदा तं वद बद्धमुष्टिम्।
संवेष्ट्य यत्रांगुलिकां कचेन वदन्ति तद्वेष्टितकं मुनीन्द्राः ॥१॥

(अ) बद्धमुष्टि

१—शरीर के समस्त अंगों का दृढता पूर्वक पकड़ना बद्धमुष्टि कहलाता है।

(आ) वेष्टितक

जिसमें अंगुली को वालों से लपेटकर (वाल पकड़कर) सहवास किया जाता है उसे वेष्टितक की संज्ञा दी जाती है।

सङ्ग्रथ्य वामाङ्गुलिकाग्रहश्च स्मृतं कृतग्रन्थिकनामधेयम्।
कण्ठे स्तनेऽङ्गुष्ठकतर्जनीभ्यां तदा समाकृष्टिमुदाहरन्ति ॥२॥

(अ) कृत ग्रन्थिक

२—भली भांति गूंथकर वाई अंगुलियों का पकड़ना कृतग्रन्थिक नामक पकड़ना कहलाता है।

(आ) समाकृष्टि

अंगूठा और तर्जनी मिलाकर पकड़ने को (चुटकी लेने को) समाकृष्टि कहा जाता है।

किसी अंग को हाथ से पकड़कर जोर से भींच देना भी कामशास्त्र के क्षेत्र में आता है। सहवास काल में प्रयोज्य को किसी भी रूप में पीड़ित करना कामशास्त्र का क्षेत्र है। अंगुली पकड़कर इतनी जोर से दबा देना जिससे युवती की सिस्कारी निकल जाय कामोद्दीपन के लिये अत्यन्त उपयोगी तत्त्व है। स्तन इत्यादि किसी दूसरे अंग का कस कर दबाना इस दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। स्त्रियाँ इस प्रकार दबायें जाने के लिये लालायित रहती हैं और जब यह क्रिया शक्तिभर की जाती है तब उनकी स्मृति बहुत समय तक पुरुष के प्रति उनकी भावना को जागृत रखती है। किन्तु इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि पहले यह क्रिया बहुत साधारण रूप में प्रारम्भ करे जिससे बहुत हल्के रूप में दबाव डाला जाय। धीरे धीरे कसावट को बढ़ाते बढ़ाते सीमा तक ले जाना चाहिये। इसमें स्त्री को अभूतपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। पहले स्पर्श एवं मालिश तक सीमित रखते हुये इस क्रिया को बढ़ाना चाहिये।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में ग्रहण विधिनामक
पैंतीसवाँ परिच्छेद समाप्त

षट्त्रिंशः परिच्छेदः

प्रवेश्यते तर्जनिका वराङ्गे प्रवेशनं तत्करणं वदन्ति।
सा मध्यमापृष्ठगता यदा स्यात् विदुर्विदग्धाः कनकाभिधानम् ॥१॥

(अ) प्रवेशन

१—जब योनि में तर्जनी अंगुली प्रविष्ट की जाती है तब उस करण को प्रवेशन कहा जाता है।

(आ) कनक

जब उस तर्जनी पर मध्यमा अंगुली रखकर योनि में प्रवेश कराया जाता है तब उसे कनक की संज्ञा दी जाती है।

तयोर्द्वयोः पृष्ठविपर्ययेण वदन्ति धीरा विकनं तदेव।
तते तु ते द्वे कथिता पताका, तिस्रः सहानामिकया त्रिशूलः।

श्लिष्टा यदा ताः शनिभोगमाहुः ॥२॥

(अ) विकन

२—उन दोनों के पृष्ठ वदलने को विकन कहा जाता है। इसमें कभी तर्जनी पर मध्यमा और कभी मध्यमा पर तर्जनी रखकर योनि प्रवेश कराया जाता है।

(आ) पताका

उन दोनों तर्जनी व मध्यमा को फैला कर उक्त क्रिया करने को पताका कहा जाता है।

(इ) त्रिशूल

उन दोनों तर्जनी और मध्यमा के साथ अनामिका को मिलाकर उक्त क्रिया तीन अंगुलियों से करने को त्रिशूल कहा जाता है।

(ई) यदि वे तीनों अंगुलियां मिली हुई हों तो उन्हें शनिभोग की संज्ञा दी जाती है।

३६वां परिच्छेद अंगुलि प्रवेश का है। पुरुष अपने साधन के स्थान पर योनि में अंगुलि प्रवेश भी करता है। यह क्रिया स्त्री को उत्तेजित करने की तो शक्तिशाली प्रक्रिया है ही पुरुष की कमजोरी को छिपाने का भी एक साधन है। जब पुरुष यह देख ले कि उसके साधन में स्त्री को सन्तुष्ट करने की शक्ति नहीं है या यदि उसके अन्तःपुर में अनेक स्त्रियाँ हैं तथा वह सभी को सन्तुष्ट करना चाहता है तो अंगुलि से मथ देना भी एक उपयोगी

तत्त्व है। कभी कभी यह भी विहित है कि पहले स्त्री की योनि को इस सीमा तक मथ देना चाहिये कि वह पूर्ण रूप से स्खलित होने की सीमा तक आ जाय, तब अपने साधन को स्त्री यन्त्र में प्रविष्ट कर सम्भोग क्रिया की समाप्ति कर दी जाय। अंगुलि प्रवेशका एक उपयोग यह भी है कि यदि योनि बहुत कड़ी हो और पुरुष यन्त्र को प्रवेश में कठिनाई हो रही हो तो अंगुलि से मथ देने से वह ढीली पड़ जाती है और उससे प्रवेश में सुविधा हो जाती है। पद्मश्री ने अंगुली की ६ स्थितियाँ बतलाई हैं—प्रवेशन (तर्जनी का प्रवेश); कनक (तर्जनी पर मध्यमा अंगुली); विकन (योनि के अन्दर तर्जनी और मध्यमा को ऊपर नीचे करना); पताका (योनि के अन्दर तर्जनी और मध्यमा को फैला देना); त्रिशूल (तर्जनी और मध्यमा को मिलाकर उसके नीचे अनामिका को रख देना)। और शनिभोग (तीनो मिली हुई अंगुलियाँ) इनके साथ कामशास्त्र में करिहस्त नामक एक और स्थिति बतलाई गई है जिसमें तर्जनी और अनामिका के एक में मिला कर तथा मध्यमा अंगुली को अलग रखकर उनका उपयोग किया जाता है। करिहस्त के प्रयोग के विषय में निम्नलिखित पद्य प्रसिद्ध हैं—

करिहस्तेन संवाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते।
उपसर्पन्ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजने॥

इस पद्य में कई शब्दों के दो दो अर्थ हैं—(अ) करिहस्त (१) हाथी की सूंढ (२) अंगुली की उक्त मुद्रा; (आ) संवाध (१) सेनाका कड़ा घेरा (२) स्त्री की कड़ी योनि; (इ) ध्वज (१) पताका (२) पुरुषलिंग; (ई) साधन (१) शत्रु सेना (२) स्त्री योनि। इन शब्दों के आधार इस पद्य के दो अर्थ हो जाते हैं—एक युद्ध परक अर्थ और दूसरा सम्भोग परक अर्थ।

युद्धपरक अर्थ—शत्रु सेना का घेरा बहुत कड़ा था जिसमें प्रवेश कर सकना नायक के लिये सम्भव नहीं था। नायक ने हाथियों को आगे बढ़ा दिया। हाथियों ने सूंड उठा उठाकर और चारों ओर दौड़ धूप कर शत्रुसेना में खलबली मचा दी जिससे घेरे का कड़ापन भङ्ग हो गया और इससे नायक का प्रवेश आसान हो गया। तब नायक उसमें प्रवेश कर गया तथा शत्रु सेना के मध्य अपनी पताका फहरा दी जो शोभित हो रही है।

सम्भोग परक अर्थ—स्त्री की योनि बहुत कड़ी थी जिसमें पुरुष लिंग के प्रवेश में कठिनाई हो रही थी पुरुष ने करिहस्त नामक अंगुली की मुद्रा स्त्री योनि में प्रविष्ट कर दी जिसने अन्दर जाकर योनि को भली भाँति मथ दिया जिससे उसमें ढीलापन आ गया। तब पुरुष लिंग उसमें प्रविष्ट होकर शोभित होने लगा।

मुनि ने यह भी प्रतिपादित किया है कि आवश्यकतानुसार सोने, चांदी, लोहे, लकड़ी के कृत्रिम लिंग बनावा लेना चाहिये। उनको चिकना करके अंगुलि मुद्रा का काम लेना चाहिये। यदि इस प्रकार के लिंग सुलभ न हों तो ककड़ी, खीरा, वैगन इत्यादि में किसी एक का उपयोग किया जा सकता है। किन्तु इसे पहले चिकना कर लेना चाहिये।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में अङ्गुलिप्रवेश नामक
छत्तीसवाँ परिच्छेद समाप्त

सप्तत्रिंशः परिच्छेदः

इति सुरतमनेकभेदभिन्नं स्फुटमुदितं परिहृत्य फल्गुवाक्यम्।
त्रिविधमृगदृशां स्वरूपवेदि मृदुखरमध्यमकर्म योक्तुमेतत्॥१॥

१—इस प्रकार अनेक भेदों में विभाजित सुरत प्रकारों का वर्णन स्पष्ट रूप में किया गया। प्रस्तुत वर्णन में महत्त्वहीन तत्वों का परित्याग कर दिया गया। तीन प्रकार की मृगनयनियों (मृगी, वडवा, हस्तिनी) के कोमल, कठोर और मध्यम कोटि के कर्मों की नियोजना करने के लिये यह सब कहा गया है।

आचार्य ने यहाँ तक कामशास्त्रीय उपयोगी विधियों का संकेत रूप में प्रकथन कर दिया। आचार्य ने स्वयं स्वीकार किया है कि वह व्यर्थ की व्याख्या के चक्कर में नहीं पड़ा है। फिर भी उसने जितना कुछ कहा है उससे निस्सन्देह विषय स्पष्ट हो गया है। स्त्री-पुरुषों के जो मृगी इत्यादि और शश इत्यादि तीन तीन भेद किये गये हैं उनके कोमल, कठोर और मध्यम कोटि के सभी उपचारों का वर्णन कर दिया गया।

हर्तुं हृदयसर्वस्वं यदीच्छेद्भर्तुरङ्गना।
तदा विदग्धकामाना मित्याचरितमारभेत्॥२॥

२—पति की प्यारी सुन्दरी यदि अपने हृदय सर्वस्व को अपनी ओर आकर्षित करना चाहती हो तो जिन व्यक्तियों की कामनायें निपुणता से भरी हुई हैं उनको पसन्द आने वाले इन व्यवहारों का प्रारम्भ करे।

इस पुस्तक में एक महत्त्वपूर्ण विषय की उपेक्षा होती रही है—स्त्री किस प्रकार अपने पति को अपने अधिकार में रखने की चेष्टा करें और किस प्रकार उसे अपना वशवर्ती बनाये रहे जिससे सदाचार के मार्ग में वह विचलित न हो। मुनि ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और स्वयं कहा है कि वे उपाये ऐसे हैं कि १०० स्त्रियों में फंसे हुए अपने पति को अपनी और आकर्षित कर दूसरी ओर दृष्टि डालने से उसे बचा सकती है। इसके लिये अन्य व्यवहार सम्बन्धी उपाय हैं; किन्तु प्रमुख उपाय उन्हें कामुक सम्बन्ध में सन्तुष्ट रखना है। पद्मश्री ने ३७वें अध्याय में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस विषय में मनोवैज्ञानिक विवेचन अत्यन्त मनोरञ्जक बन पड़ा है। एकदेशीय होते हुये भी यह अवलोकनीय है और दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिये उपयोगी भी है।

कौशलं धूपितं धौतं वस्त्रमग्राम्यमण्डनम्।
दधानाऽऽपीडसद्वेषं, वक्ति भूयः प्रियान्तिके॥३॥
(दधाना, पीतसद्धूपवर्तिर्भूयात् प्रियान्तिके?)

३–देखने सुनने में टीपटाप रहे; मित्रता का व्यवहार करे; वस्त्र धुले हुये एवं धूप इत्यादि से सुवासित किये हुये हों, शरीर की सजावट और आभूषण इत्यादि की योजना ऐसी करनी चाहिये जो शहराती स्त्रियों में प्रचलित हो, गंवार स्त्रियों का शृङ्गार नहीं करना चाहिये। अधिकतर प्रियतम के निकट बातचीत करे। प्रियतम के पास ऐसी साड़ी पहिन कर जाय जिसने अच्छी धूप की वत्ती का पान कर लिया हो अर्थात् सुगन्धित साड़ी पहिन कर प्रिय के निकट जाना चाहिये।

ससाध्वसं च सस्नेहं सव्रीडं सहसं तथा।
ईषद्दृश्यतनुर्नारी वसेत्कान्तं निरन्तरम्॥४॥

४—नारी निरन्तर प्रियतम के निकट रहे। उस समय वह कुछ घबराती हुई, कुछ प्रेम प्रदर्शित करती हुई कुछ लजाती हुई, कुछ मुस्कुराती हुई चेष्टायें करती रहे। कभी कभी जानबूझकर अपने शरीर की थोड़ी थोड़ी झलक दिखलाती जाय।

आकर्षति पुनस्तस्मिन् रतानीकरते प्रिये!।
जनयेदङ्गसङ्कोचं क्षणं साक्षाद्भयादिव॥५॥

५—जब प्रिय अनेक प्रकार के सुरत कर्मों में प्रवृत्त हो रहा हो और वह सुरत के लिये अपनी ओर खींचे तब क्षण भर के लिये अंगों को इस प्रकार सिकोड़ ले मानो (इस कर्म से) बहुत डर रही है।

प्रक्रान्ते सुरते पश्चात् क्रमाविर्भूतमन्मथा।
निःशङ्कमर्पयेद्गात्रमतिस्नेहादिव प्रिये॥६॥

६—बाद में सुरत कार्य प्रारम्भ हो जाय तब क्रमशः (धीरे धीरे) कामवासना के जागृत होने पर विना संकोच के अपना शरीर समर्पित कर दे यह प्रदर्शित करती हुई मानो प्रियतम के प्रति प्रेम भाव से अत्यन्त भरी हुई है।

यद्यत्समीहते द्रष्टुं हन्तुं वा लिखितुं वपुः।
तत्तदापसरेच्छीघ्रं सोद्वेगं, ढौकनीयं च॥७॥

७—प्रियतम जिस जिस अंग को देखना चाहे, उस उस पर प्रहार करना चाहे, या उस पर संभोग के चिह्न (नखक्षत या दन्तक्षत) बनाना चाहे उसे झटपट छिपा लेने की चेष्टा करे फिर तत्काल उद्वेग के साथ उसे इस प्रकार प्रदान कर दे मानो भेंट में दे रही हो।

कुर्यात्कूजितमामर्दे, दंशे सव्यथहुंकृतिम्।
नखक्षतेषु सीत्कार माघाते स्तनितं स्फुटम्॥८॥

८—जब प्रियतम शरीर को मसले तब कूजन की आवाज करे; जब दांतों से काटे तब 'हूं' की आवाज करे जब नाखूनों से घाव करे तब सीत्कार का स्वर निकाले और जब प्रहार करे अर्थात् पीटे तब स्तनित का स्वर निकाले।

प्रस्विन्नवदना श्रान्ता मन्दहाकारनादिनी।
आयासश्वासरोमाञ्चं मुञ्चेत्तद्रागवृद्धये॥९॥

९—चेहरे पर पसीना झलक आये, थकी होने का अभिनय करे; 'हाय' 'हाय' की आवाज के साथ कराहने लगे, तकलीफ हो रही है यह प्रदर्शित करे, गहरी श्वासें ले और रोंगटे खड़े हो जायं ये सब चेष्टायें प्रियतम के राग को बढ़ाने के लिये करे।

मा मां निपीडयात्यर्थं न समर्थाऽस्मि निर्दय!
इत्येवं गद्गदाव्यक्तं प्रियं ब्रूयान्नितम्बिनी॥१०॥

१०—वह सुन्दरी प्रियतम से गद्गद वोली में इस प्रकार कहे 'मुझे इतना अधिक मत सताओ' 'तुम बड़े वेरहम हो, मुझसे अब सहन नहीं हो रहा।'

वामत्वमनुबन्धं च प्रौढत्वमसमर्थता।
कान्ताकूतं स्फुटं ज्ञात्वा सुरतेषु प्रदर्शयेत्॥११॥

११—जब प्रियतम का विरोधी भाव (अपने प्रतिकूल इरादा) स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़े तब सुरतकाल में (अपनी ओर से भी विपरीत भाव के अन्तर्गत) अपना कुटिल रूप प्रदर्शित करे, व्यवहार में कसावट ले आये जो पति को जकड़ने वाले हों, प्रौढता प्रदर्शित करे (यह प्रकट करे कि 'अब मुझमें क्या रह गया है, मैं तो पुरानी पड़ गई हूं।) तथा यह प्रकट करे कि 'अब मैं असमर्थ हो गई हूं'—अब मेरे अन्दर इतनी ताकत नहीं कि मैं यह सब वर्दाश्त करूं।

धीरताविनयोच्छेद मश्लीलमसमञ्जसम्।
वृद्धिं याते रतावेगे व्यवहारं समारभेत्॥१२॥

१२—सुरत का आवेग जब बढ़ा चढ़ा हो उस समय व्यवहार में धीरतालाये, नम्रता को विल्कुल छोड़ दे, गन्दे और वेशर्मी वाले शब्दों का प्रयोग करने में विल्कुल संकोच न करें और व्यवहार में इस बात की परवा न करे कि सभी कुछ उचित ही होना चाहिये अनुचित आचरण भी निस्सङ्कोच प्रकट करे।

शिथिलाङ्गी निरुत्साहा सन्निमीलितलोचना।
प्र(नि?) वृत्ते मोहने तिष्ठेत् स्वेदविन्दुकणचिता ॥१३॥

१३—जब दीवाना बना देने वाला कार्य समाप्त हो जाय तब अंगों को ढीला डाल दे, उत्साह रहित हो जाय, आंखे बन्द कर पड़ रहे और चेहरे पर पसीने की बूंदे झलक आयें (यहां पर 'निवृत्ते' पाठ ही ठीक है।)

नितम्बाच्छादितं शीघ्रं वैलक्ष्यं ललितं स्म(स्मि?) तम्।
दृष्टिं खेदालसां कुर्याद्व्यक्तकेशविभूषणा ।१४॥

१४—जैसे ही सम्भोग समाप्त हो नितम्ब को कपड़े से ढक लें, (यह प्रदर्शित करे कि किसी ने देख नहीं पाया।) लज्जा का भाव एवं परेशानी प्रकट करें; एक मनोरम मुस्कुराहट चेहरे पर ले आये; दृष्टि ऐसी बना ले कि उससे थकावट और आलस्य प्रकट हो; केशों के आभूषण व्यक्त हो रहे हों। (सम्भोग काल की तैयारी के लिये जिन आभूषणों को करीने से केशों में सजाया था वे सब बिखरे हुये दिखलाई पड़ें।)

वात्सायनादिरचितं विशरीरशास्त्रं यद्दृश्यते मृगदृशां मृदु तन्निमित्तम्।
सीमन्तिनीपुरुषयोरुभयोरिदं तु, स्त्रीसेवनोत्कठिनता नियता हि लोके॥१५॥

१५—वात्स्यायन इत्यादि मुनियों एवं आचार्यों द्वारा अनङ्गशास्त्र (कामशास्त्र) की रचना की गई जोकि मृगनयनियों के कोमल भावों को प्रकट करता है। यह स्त्री पुरुष दोनों के लिये उपयोगी है, क्योंकि यह बात लोक में प्रसिद्ध ही है कि स्त्री सेवन का सच्चा सुख प्राप्त करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

तत्कुट्टिनीमतमुदीक्ष्य वराङ्गनानां कान्ते विधेयमबलाचरितं प्रदिष्टम्।
स्त्रीसौख्यलिङ्गमवधारयतां नराणां चोक्तं स्वरागजननं सुतरामिहैव॥१६॥

१६—इसलिये (स्त्री सुख प्राप्त करने की कठिनाई के कारण) वाराङ्गनाओं (वाजारू स्त्रियों वेश्याओं) के विषय में लिखी गई कुट्टिनीयमत विषयक पुस्तकों का अध्ययन करे यहां (इस रचना में) उन चरित्रों का वर्णन किया गया है जो प्रियतम के प्रति स्त्रियों के चरित्र होते हैं। इसके अतिरिक्त यहीं पर उन पुरुषों के मन में राग पैदा करने की प्रक्रिया भली भांति बतला दी गई जो लोग स्त्री सुख प्राप्ति के चिह्नों को भली भांति समझते हैं।

कुट्टिनी वेश्याओं के यहाँ रहने वाली जोड़-तोड़ कर ग्राहकों को अन्य वेश्याओं की ओर से हटाकर अपनी मालकिन, अधिकृत या संरक्षित वेश्या के पास लाने का प्रयत्न करती हैं। साथ ही जब उससे वेश्या पर्याप्त धन निचोड़ लेती है और उससे लाभ की आशा कम हो जाती है तथा उसे दूसरा ग्राहक फसाना होता है तब उक्त ग्राहक से छुटकारा दिलाना भी उसका कार्य होता है।

यहाँ पर ८वीं शताब्दी के कश्मीर नरेश जयापीड के दरबारी कवि दामोदर गुप्त की प्रतिष्ठित पुस्तक 'कुट्टिनी मत' का उल्लेख किया गया है। यह एक बड़ी पुस्तक है जिसमें इस विषय का विवेचन किया गया है कि वेश्यायें ग्राहकों को कैसे पटायें और उनसे धन ऐंठने में क्या उपाय हो सकते हैं। दृश्य बनारस का है जहाँ वेश्यायें नौकरों के समूह के सहयोग से अपना सम्पन्न व्यवसाय चलाती हैं। वहाँ मालती नाम की एक वेश्या है जो सरल स्वभाव की है। यद्यपि वह सुन्दरी है किन्तु उतना धन कमा नहीं पाती जितनी उससे निम्न कोटि की वेश्यायें कमाती हैं। एक दिन वह अपने भवन के छज्जे पर खड़ी थी। संयोगवश उसे गाई जाती हुई एक आर्या सुनाई दी जिसका आशय यह था कि प्रेमियों को खुश करने की एक कला होती है जिसका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक स्त्री का कर्तव्य है। उसे यह समझ में आ गया कि प्रेमियों से धन ऐंठने की कला का उसमें अभाव है। अतएव वह विकराला नामक एक पुरानी वेश्या के पास गई जो सुन्दर तो नहीं थी, किन्तु प्रेमी लोग उसके यहाँ बहुत अधिक आते थे तथा उसकी कमाई भी बहुत जबरदस्त थी। विकराला ने उसे सारी गतिविधियों की पूर्ण शिक्षा प्रदान की। यह पुस्तक कथानकों से भरी है और शिक्षाओं का पर्याप्त स्पष्टीकरण किया गया है। यह कला की एक प्रायोगिक रचना है। इसी रचना के बल पर दामोदर गुप्त एक प्यारे रचनाकार बन गये हैं। विभिन्न विवरणों और प्रयोगों के अतिरिक्त इसमें उच्चकोटि का कवित्व है जिससे संग्रह ग्रन्थों और शास्त्रीय ग्रन्थों के उदाहरणों में इनकी प्रायः उपेक्षा नहीं की जाती। यह पुस्तक तो वेश्याओं की दृष्टि से लिखी गई है; किन्तु यह कुलवती स्त्रियों के भी पढ़ने योग्य है। क्योंकि इससे पुरुषों के वञ्चित होने का तो उन्हें ज्ञान हो ही जाता है उपयोगी प्रयोगों द्वारा वे पति को वश में रखने की शिक्षा भी ग्रहण कर लेती हैं।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में वामाचरित प्रकाश नामक
सैंतीसवाँ परिच्छेद समाप्त

अष्टत्रिंशः परिच्छेदः

सुतार्थं बद्धचिन्तानामपुत्राणां मनोर्भुवाम्।
हिताय करुणासिन्धुः कथयामि सुतोदयम्॥१॥

पुत्रोत्पत्ति-प्रकरण

१—जो पुत्रहीन मानव पुत्र प्राप्ति के लिये चिन्ता से निरन्तर बंधे हुये हैं—उनके भले के लिये करुणा का सागर मैं पुत्रोत्पत्ति के विषय में कह रहा हूं।

रजःस्नानदिने दत्वा भिक्षुसङ्घातभोजनम्।
शक्तितो दक्षिणां दत्वा प्रार्थयेद्वरमीप्सितम्॥२॥

२—रजोनिवृत्ति के दिन स्नान करके भिक्षु समूह को भोजन प्रदान करे और शक्ति भर दक्षिणा देकर अपनी अभीष्ट प्राप्ति का वरदान मांगे।

तदौषधं पिबेत्कान्ता तारापूजापुरःसरम्।
कान्तया सहितो रात्रौ पुत्रार्थी विधिमुच्चरेत्॥३॥

३—पत्नी तारा देवी का पूजन करके बतलाई गई औषधि का पान करे। फिर पुत्र की इच्छा करने वाला पुरुष रात्रि में पत्नी के साथ अग्रिम विधि निर्वाह के लिये आगे बढ़े।

पुत्रोत्पत्ति के साधनों के विषय में पद्मश्री ने दो बातों पर विशेष जोर दिया है—तारापूजन और पाँच शिक्षायें। तारा यह प्रधान रूप से बौद्धों की उपास्य देवी है; इसका अर्थ है तारने वाली या मोक्ष देने वाली देवी। इस देवी की एक विशेषता यह है कि यह दुर्गा का भी नामान्तर है। अतः यह पौराणिक धर्मानुयायियों और बौद्धों दोनों के द्वारा पूजी जा सकती है तथा इससे कोई साम्प्रदायिक विद्वेष पैदा होने की सम्भावना नहीं है।

समसौख्यं निरुन्मेषः प्रयोगेषु यथा सुधीः।
धैर्यवान्मेहनात्पूर्वं तारापादाम्बुजं स्मरेत्॥४॥

४—स्त्री पुरुष दोनों एक ही सुख वाले हों। (अनन्य चित्त होकर एक ही कामना से दोनों मिलें।) मिलने में ढील ढाल न करें। काम शास्त्रीय प्रयोगों में पूर्ण बुद्धि रखते हों, धैर्य धारण करने वाले हों और सहवास से पहले तारादेवी के चरण कमलों का स्मरण करें।

यदा सूर्येण मार्गेण देहे वहति मारुतः।
सञ्चोद्य नाडिकां पुत्रीं पश्चान्मोहनमाचरेत्॥५॥

५—जब वायु सूर्य मार्ग से वह रही हो अर्थात् नाक से श्वास दाहिने नथुने से चल रहा हो उस समय पत्नी की योनि की पुत्री नाडी को सञ्चालित कर बाद में सम्भोग क्रिया प्रारम्भ करे।

पुत्री नाडी के विषय में देखइये प्रस्तुत पुस्तक का १९वीं परिच्छेद। उस नाडी को सञ्चालित करने का आशय है स्त्री को उत्तेजित करने की जो बाह्य विधि अपनाई जाय उसमें पुत्री नाडी के निर्दिष्ट स्थान को अंगुली से सहलाकर उत्तेजित किया जाय।

करवीरसुमैर्देवीमार्यतारां वरप्रदाम्।
त्रिसन्ध्यं पूजयित्वा तु मन्त्रं सप्तशतं जपेत्॥६॥

६—करवीर के पुष्पों से वर देने वाली आर्या तारा देवी की पूजा करे। तीनों सन्ध्याओं में पूजा करके ७०० वार मन्त्र जपे।

मन्त्रस्त्वयं—ॐ जम्भे मोहय स्वाहा।
पञ्चशिष्या (क्षा?) परोभूत्वा मासमेकं तथाऽर्चयन्।
वंशोद्योतकरं पुत्रं लभते नात्र संशयः॥७॥

७—मन्त्र तो यह है—

'ओं जम्भे मोहय स्वाहा'

पांच शिक्षाओं में परायण होकर एक महीने तक मन्त्र का जप करे। वंश को प्रकाशित करने वाले पुत्र को प्राप्त कर लेता है इसमें सन्देह नहीं।

पांच शिक्षायें हैं—आसन, पूजा, जप, प्राणायाम और मुद्रा।
उषित्वा लक्ष्मणामूलं तन्मन्त्राधिष्ठितं पिवेत्।
सुरभ्या एक वर्णायाः पयसा शवलीकृतम्॥८॥

८—नियम पूर्वक मन्त्र की जप विधि पूरी कर उक्त मन्त्र से अधिष्ठित लक्ष्मणा की जड़ का पन करे—वह जड़ एक रंग वाली गायके दूध से परिवर्तित रंग की बना दी गई हो।

पुष्योद्धृतं लक्ष्मणाया मूलं पिष्टं च कन्यया।
ऋत्वन्ते घृतदुग्धाभ्यां पीत्वाप्नोत्यवला सुतम्॥

लक्ष्मणा पीले रंग के फूल का एक पौदा होता है जिसकी जड़ शास्त्रों में पुत्र देने वाली बतलाई गई है। कहा गया है—पुष्य नक्षत्र में उखाड़ कर लाई हुई लक्ष्मणा की जड़ को कन्या पीसें और घी दूध के साथ स्त्री उसका पान करे तो वह पुत्र को प्राप्त कर लेती है—

तदौषधिप्रभावेण शुक्रवृद्धिः प्रजायते।
पिण्डाच्छुक्राधिकात्पुत्रः कन्या रक्ताधिकाद्भवेत् ॥९ ॥

९—उस औषधि के प्रभाव से शुक्रवृद्धि हो जाती है। शुक्र की अधिकता वाले पिण्ड से पुत्र उत्पन्न होता है और रज की अधिकता वाले पिण्ड से कन्या उत्पन्न होती है।

आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओं से शुक्राधिक्य और रज के आधिक्य की संगति इस प्रकार बैठेगी कि स्त्री के रज में केवल 'x' क्रोमोजोम होता है किन्तु पुरुष के वीर्य में 'y' और 'x' दोनों क्रोमोजोम होते हैं। यदि पुरुष 'x' क्रोमोजोम को निषिञ्चित करता है तो दोनों एक ही प्रकार के क्रोमोजोम मिलकर लड़की को जन्म देते हैं। यदि इसके प्रतिकूल पुरुष 'y' क्रोमोजोम को निषिञ्चित करता है तब दो विभिन्न क्रोमोजोम मिलकर पुत्र को जन्म दे देते हैं। ($x + x =$ लड़की और $x + y =$ लड़का)

(इस विषय में विस्तार के लिये देखिये परिशिष्ट ३)

तीर्थिको यदि पुत्रार्थी भूदेवान्भोजयेत्तदा।
दक्षिणां शक्तितो दत्वा विदध्याद्वरयाचनम् ॥१० ॥

१०—यदि पुत्र की इच्छा करने वाला ब्राह्मण हो तो ब्राह्मणों को भोजन कराये और शक्ति भर दक्षिणा देकर अभीष्ट की याजना करे।

फलमूलाशनो भूत्वा पार्वतीपरमेश्वरौ।
त्रिसंन्ध्यं पूजयित्वा तु मन्त्रमेतज्जपेत्तदा ॥११ ॥

फल और मूल का भोजन करे और तीनों सन्ध्याओं में पार्वती और परमेश्वर की पूजा करे तब इस मन्त्र का जप करे।

ॐ नमो भगवते महेश्वराय नमः प्रजननाय, स्वाहा।
परदाराभिगमनं मद्यमांसादिभोजनम्।
मिथ्याभिलपनं हास्यं मानं क्रोधं च वर्जयेत् ॥१२ ॥

मन्त्र यह है—

ओं नमो भगवते महेश्वराय प्रजाजननाय स्वाहा।

१२—परस्त्री गमन, मद्यमांस इत्यादि का भोजन, झूठ बोलना हंसी उड़ाना, अभिमान, क्रोध इन सब दुर्गुणों का परित्याग कर दे।

तदा स्नात्वा सचैलस्तु सुधौतवसनः कृती।
मन्त्रमेतं जपेन्नित्यं न निद्रां समुदाहरेत् ॥१३ ॥

१३—तब वस्त्रसहित स्नान करके, धुले हुये वस्त्रों को धारण कर कार्यकुशल सफल व्यक्ति इस मन्त्र को नित्य जपे किन्तु (मन्त्रजपकाल में) निद्रित कभी न हो।

हेमतारकताम्राणि ह्येकीकृत्य सुसर्पिषा।
दातव्यं लेहनं स्त्रीणां क्षेत्रशुद्धिस्तथा भवेत् ॥१४॥

१४—स्वर्ण, चांदी, तांबा इन सबकी भस्मों को अच्छे घी में मिलाकर स्त्रियों को चाटने के लिये प्रदान करे। इससे क्षेत्र (गर्भाशय) की शुद्धि हो जाती है।

शेषन्तु पूर्ववत्कुर्वन् कृतार्थो नियतं भवेत्।
सत्पुत्राऽऽलोकनात्यन्तप्रीतस्तिमितलोचनः ॥१५॥

१५—शेष विधि पहले के समान करके निश्चित रूप से सफल हो जाता है। उस समय अच्छे पुत्र को देखने के प्रेम में उसकी आंखें पलक झपकना छोड़ देती हैं।

विविधविधिविधानं देवतामन्त्रपूजादयितयुवतिशिक्षा सत्प्रतिग्राहकाणाम्।
प्रथममुदितमस्मिन् वीक्ष्य सिद्धैकवीरं परमरतिरहस्यं शाङ्करं कामतन्त्रम् ॥१६॥

१६—इस काम तन्त्र में अनेक प्रकार के विधि विधानों का वर्णन किया गया है; देवताओं के मन्त्र और पूजा का उपदेश है; जो सदुपदेश ग्रहण करना चाहते हैं उन सब प्रियों (पतिओं) और युवतियों को शिक्षा देने वाला है; यह शंकर का दिया हुआ कामतन्त्र है। इसमें पहले बतलाये हुये एक सिद्ध वीर को देखकर इस परम रति रहस्य की रचना की गई है।

आसीद्ब्रह्मकुले कलाग्रनिलयो यो वासुदेवः कृती,
तस्य स्नेहवशाच्चिरं प्रति मुहुः सम्प्रेरणात् साम्प्रतम्।
दीप्तेयं रतिशास्त्रदीपकलिका पद्मश्रिया, धीमते
हृद्यार्थान्प्रकटीकरोतु जगतां संहृत्य हार्दं तमः ॥१७॥

१७—ब्राह्मणवंश में कलाओं के अग्रगण्य निवास (परिज्ञाता) सफल वासुदेव हुये थे। उन्हीं की स्नेहवश वार वार बहुत समय तक प्रेरणा से इस समय यह रति शास्त्र की दीपकला पद्मश्री द्वारा बुद्धिमान व्यक्तियों के लिये प्रज्ज्वलित की गई। यह संसार के हृदय में विराजमान अन्धकार का अपहरण कर हृदय के प्रिय अर्थों को प्रकट करे।

राजा धर्मरतोऽस्तु निर्जितरिपुः षड्वर्गवश्यो वशी
निःक्लेशाः कृतिनो भवन्तु मुदिताः सत्कारलाभान्विताः।

अन्योन्यप्रियताप्रसन्नमनसः सर्वत्र सन्तु प्रजा,
नित्यं तिष्ठतु सर्वसत्वनिचयैः सम्पूरिता मेदिनी ॥१८॥

१८—राजा धर्म में लगा रहे, जितेन्द्रिय हो, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे (बाह्य शत्रु तो विरोधी राजा होते हैं—आन्तरिक शत्रु छः बतलाये गये हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन सब शत्रुओं पर राजा को विजय प्राप्त करनी चाहिये।) वह छः वर्गों के आधीन रहे। (राजनीति के षड्वर्ग है सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय) कुशल व्यक्ति क्लेश रहित हों, उनको सत्कार का लाभ मिलता रहे और वे प्रसन्न रहें। समस्त प्रजा वर्ग सर्वत्र एक दूसरे का अभीष्ट सिद्ध करने में प्रसन्नता का अनुभव करें; पृथ्वी नित्य सभी प्राणियों के समूह से परिपूरित रहे।

पण्डित पद्मश्री विरचित नागरसर्वस्व में सुतोदय नामक
अड़तीसवाँ परिच्छेद समाप्त

शुभम्

नागर-सर्वस्व

परिशिष्ट-प्रथम-रत्नों का उपयोग

नागर सर्वस्व का तीसरा परिच्छेद रत्नोंपयोगपरक है। यह एक स्वतन्त्र शास्त्र है और कामशास्त्र के अधिकांश आचार्यों ने इस विषय को अपने विवेचन में सन्निविष्ट नहीं किया है। वैसे तो प्रस्तुत रचना का दूसरा परिच्छेद पुरुषशृङ्गार परक है और उसमें यह विवेचन किया गया है कि पुरुषों का किस प्रकार का शृङ्गार स्त्रियों को आकृष्ट करता है। उस परिच्छेद के समन्वय से साधारणतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रत्नधारण करना भी एक विशिष्ट प्रकार का सौन्दर्य वर्धक उपक्रम ही है। शृङ्गार और सौन्दर्य के लिये भी सोने की अंगूठियों में रत्न जड़े ही जाते हैं जिन्हें सभी स्त्री-पुरुष साभिमान धारण करते हैं। किन्तु पद्मश्री ने प्रस्तुत परिच्छेद में उक्त विषय से हटकर रत्न धारण करने से मानव सुख सौभाग्य पर क्या प्रभाव पड़ता है इस विषय में विचार किया है जो कि एक दिग्दर्शन मात्र कहा जा सकता है। इसमें केवल इस बात का उल्लेख किया गया है और सदोष रत्न धारण में क्या क्या बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। साथ ही हीरा, पद्मराग, नीलम, पन्ना, वैदूर्य, मुक्तामणि का संक्षिप्त उल्लेख भी किया गया है और लेखक ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि वह इस विषय के विस्तार में नहीं गया है। यह एक आवश्यक विषय है और प्रायः प्रयोग में आता हुआ भी दिखलाई पड़ता है। अतः इस विषय पर संक्षिप्त प्रकाश डालना प्रकरणानुकूल प्रतीत होता है।

रत्नों के विषय में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उनका पहिचानना बहुत कठिन है। आकर ग्रन्थों में उनकी विशेषताएं दी होती हैं। किन्तु उनके आधार पर रत्नो की शुद्धता की पहिचान अच्छे जौहरियों के भी वश की बात नहीं है। उनसे भी गलती हो जाती है। सच्चे और निर्दोष रत्नों को धारण करने से सम्पन्नता और सुख सौभाग्य प्राप्त होता है जबकि बनावटी और सदोष रत्नों को धारण करने से अनेक विपत्तियों और हानियों का भी सामना करना पड़ता है। अतः प्रयत्न पूर्वक किसी अच्छे जौहरी से परीक्षा कराकर धारण करने के बाद भी उसके प्रभाव का अनुभव चार छः दिन में कर लेना चाहिये। कहा जाता है सच्चे रत्न धारण करने से चार छः दिन में ही कोई न कोई लाभ प्राप्त हो जाता है। इसके प्रतिकूल सदोष या बनावटी रत्न चार छः दिन में ही हानि पहुंचा देता है। रत्न की शुद्धता की यह सबसे बड़ी परीक्षा मानी जाती है। यदि उस परीक्षा में रत्न सही सिद्ध हो तो धारण किये रहना चाहिये; नहीं तो उसे उतार देना ही कल्याणकारक होता है।

रत्नों की संख्या बहुत लम्बी है और उनके अनेक उपरत्न भी बतलाये जाते हैं। इनमें प्रधानता ९ रत्नों की ही है जिनका विभिन्न ग्रहों पर प्रभाव बतलाया जाता है। जब कोई

ग्रह विपरीत स्थिति में आकर कष्ट दायक बन जाता है तब उसकी शान्ति के लिये पूजा-पाठ, जप-तप, दान-दक्षिणा, उपवास, यज्ञ इत्यादि अनेक उपायों का आश्रय लिया जाता है। उन उपायों में ही एक महत्त्वपूर्ण उपाय रत्न धारण करना भी है। समझा जाता है कि उस विपरीत ग्रह से सम्बन्धित रत्न यदि शरीर का स्पर्श करता रहे तो वह ग्रह शान्त हो जाता है और अपना विपरीत प्रभाव नहीं दिखलाता प्रत्युत उस रत्न के प्रभाव से उच्चकोटि के शुभ फल भी प्राप्त होते हैं। औषधि धातु, रत्न इत्यादि का प्रभाव स्पर्श से भी देखा जाता है। अनेक प्रलेप, तैल इत्यादि ऊपर से लगाने से भी लाभदायक एवं रोग-शान्ति कारक होते ही हैं। कहा जाता है रुद्राक्ष की माला धारण करना हृदय रोग में लाभ दायक होता है और इससे रक्तचाप ठीक हो जाता है। यही बात रत्नधराण के विषय में भी कही जा सकती है। ग्रहों से सम्बन्धित रत्न निम्नलिखित हैं—

ग्रह	रत्न (संस्कृत नाम)	हिन्दी नाम	अंग्रेजी नाम
१—सूर्य	माणिक्य, माणिक पद्म राग	माणिक या जमुनिया	रूवी (Ruby)
२—चन्द्र	मोती, मुक्ता, मौक्तिक	मोती	पर्ल (Pearl)
३—मंगल	प्रवाल या विद्रुम	मूंगा	कोरल (Coral)
४—बुध	मरकत	पन्ना	एमराल्ड (Emerald)
५—बृहस्पति	पुष्पराग	पुखराज	टोपाज (Topaz)
६—शुक्र	वज्र	हीरा	एलोसेफायर (Yellow sapphire) डाइमण्ड (Dimond)
७—शनि	नीलमणि	नीलम	ब्लू सेफायर (Blue sapphire)
८—राहु	गोमेदक या पिंगलामणि	गोमेद	जरकोन (jircone)
१०—केतु	वैदूर्य	लहसुनियाँ	कैट्स आई (Cat's eye)

ग्रहों का सञ्चार मान एवं ग्रहदशा

पृथ्वी जिस वृत्त में सूर्य की परिक्रमा करती है उसके १२ विभाग विभाग किये गये हैं जो १२ राशियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह परिक्रमा एक वर्ष में पूरी होती है। १२ राशियाँ ही १२ मासों के नामान्तर से भी पुकारी जाती है। जब एक राशि से पृथ्वी या सूर्य का संक्रमण दूसरी राशि में होता है तब उस संक्रमण को संक्रान्ति की संज्ञा दी जाती है जोकि संक्रमण शब्द का पर्यायवाचक है। संक्रान्ति से ही दूसरी राशि या मास का प्रारम्भ होता है। १२ राशियों या मासों के वर्ष उपविभाजन की समय-रेखा इस प्रकार है—

मास	राशि	परिव्याप्ति समय	राशि की संक्रान्ति
१—वैशाख	मेष	१४ अप्रैल से १२ मई तक	१३ अप्रैल
२—ज्येष्ठ	वृष	१४ मई से १४ जून तक	१४ मई
३—आषाढ	मिथुन	१४ जून से १६ जुलाई तक	१४ जून

४—श्रावण	कर्क	१६ जुलाई से १६ अगस्त तक	१६ जुलाई
५—भाद्रपद	सिंह	१६ अगस्त से १६ सितम्बर तक	१६ अगस्त
६—आश्विन	कन्या	१६ सितम्बर से १७ अक्टूबर तक	१६ सितम्बर
७—कार्तिक	तुला	१७ अक्टूबर से १६ नवम्बर तक	१७ अक्टूबर
८—आग्रहायण	वृश्चिक	१६ नवम्बर से १५ दिसम्बर तक	१६ नवम्बर
९—पौष	धनुष्	१५ दिसम्बर से १४ जनवरी तक	१५ दिसम्बर
१०—माघ	मकर	१४ जनवरी से १२ फरवरी तक	१४ जनवरी
११—फाल्गुन	कुम्भ	१२ फरवरी से १४ मार्च तक	१२ फरवरी
१२—चैत्र	मीन	१४ मार्च से १४ अप्रैल तक	१४ मार्च

मासों की यह कालावधि सूर्य संक्रमण के अनुसार है जिसका उपयोग विश्व के अनेक भागों में किया जाता है। चन्द्रमा का सञ्चरण भिन्न प्रकार से होता है। चन्द्रमा एक राशि पर ढाई दिन रहता है और संचरण वृत्त की पूरी परिक्रमा एक महीने (३० दिन) में पूरी कर लेता है। इस ३० दिन की कालावधि को दो बराबर भागों में विभाजित किया जाता है—शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष। अमावास्या के दिन सूर्य और चन्द्र एक राशि पर रहते हैं। फिर शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से दूसरा महीना प्रारम्भ हो जाता है। सूर्य के आवरण से जितना अंश मुक्त हो जाता है चन्द्र का उतना अंश दिखलाई पड़ता जाता है। इस प्रकार वृद्धिक्रम से पूर्णमासी को पूरा चन्द्रमा दिखलाई पड़ता है। फिर उसी क्रम से चन्द्रमासी की कलायें सूर्य से आवृत्त होकर दृष्टिपथ से ओझल होती जाती हैं और अन्त में सूर्य से पूर्णरूप से आवृत्त होकर क्षीण होते होते अमावास्या में पुनः पूर्णरूप से चन्द्रदृष्टि से ओझल हो जाता है। यही क्रम निरन्तर चलता रहता है। मुसल्मानों के देशों में कालगणना का यही क्रम चलता रहता है। इस कालगणना में एक बहुत बड़ी कमी यह है कि इसमें ऋतुओं की व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। एक ही त्यौहार कभी वर्षा में, कभी जाड़ों में और कभी गरमी की ऋतु में पड़ता है। भारत के अनेक प्रदेशों में सूर्य से काल गणना को स्वीकार किया जाता है। किन्तु अनेक भागों में विशेषकर हिन्दी क्षेत्र में चन्द्रगणना को वरीयता प्रदान की जाती है। उन प्रदेशों में भी सूर्य और चन्द्र दोनों की गणना को एक सिद्धान्त के आधार पर इस प्रकार संयोजित कर लिया गया है कि चन्द्रगणना में भी ऋतुओं की परम्परा का पूरा सामञ्जस्य बना रहता है। सिद्धान्त यह है कि चान्द्रमास (शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से अमावास्या तक) की कालावधि में सौरमास की प्रवर्तक एक संक्रान्ति अवश्य पड़नी चाहिये। जिस मास में कोई संक्रान्ति नहीं पड़ती उस महीने को पृथक् महीना माना ही नहीं जाता और वह लौंदकामहीना (Leap Month) मान लिया जाता है। इस प्रकार दोनों का समन्वय चलता रहता है और कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

जिस प्रकार सूर्य के एक वृत्त की परिक्रमा एक वर्ष में पूरी कर पृथ्वी ऋतुओं के निर्माण में कारण होती है उसी प्रकार एक वृत्त में कीली पर घूमती हुई २४ घण्टे में गति पूरी

कर रात दिन के निर्माण में कारण होती है। इस वृत्त के मेषादि नाम से प्रसिद्ध खण्ड लगभग दो दो घण्टे के होते हैं। जिस राशि का महीना होता है प्रतिदिन सूर्य उसी राशि में उदित होता है और विभिन्न राशियों में अपनी निर्धारित अवधि पूरी कर दूसरे दिन भी अपनी महीने की राशि में ही सूर्योदय का कारण बनता है। संक्रान्ति बदल जाने पर उत्तरवर्ती राशि में सूर्योदय होने लगता है। इस प्रक्रिया से दिन की विभिन्न घड़ियों में विभिन्न राशियों की लग्नें होती हैं। अतः जातक का जन्म जितने बजकर जितने मिनट पर होता है उसकी जन्म लग्न उसी राशि की मानी ज़ाती है जो व्यक्ति के जन्मपत्र बनाने का मूल आधार होती है।

ऊपर सूर्य और चन्द्रमा के सञ्चारमान पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया। उन्हीं राशियों में अन्य ग्रहों का भी सञ्चार होता है। किन्तु प्रत्येक ग्रह की संचार कालावधि भिन्न होती है जो इस प्रकार है—

१–मंगल एक राशि पर डेढ महीने रहता है और पूरे वृत्त को डेढ वर्ष में पूरा करता है।

२–बुध सूर्य के समान एक राशि पर एक महीने रहता है और पूरे वृत्त को एक वर्ष में पूरा करता है।

३–बृहस्पति एक राशि पर १३ महीने रहता है और पूरे वृत्त को १३ वर्ष में पूरा करता है।

४–शुक्र सूर्य के समान एक राशि पर १ महीने रहता है और पूरे वृत्त को एक वर्ष में पूरा करता है।

५–शनि एक राशि पर ढाई वर्ष रहता है और ३० वर्ष में पूरे वृत्त का चंक्रमण पूरा करता है।

६–राहु एक राशि पर डेढ वर्ष रहता है और वृत्त का पूरा चंक्रमण १८ वर्ष में पूरा करता है।

७–केतु की गति भी राहु जैसी ही होती है।

ज्योतिर्विद्या विशारदों ने सुविधा के लिये १२ राशियों को विशिष्ट प्रकार के चक्रों में समाहित करने की चेष्टा की है। ये चक्र विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न प्रकार के होते हैं; उनमें हिन्दी क्षेत्र का निम्नलिखित चक्र सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं प्रचलित है—

पहला स्थान जन्मलग्न स्थान है। जातक के जन्मपत्र में इस स्थान पर उसी राशि की संख्या डाली जाती है जिस राशि में उसका जन्म हुआ होता है। उदाहरण के लिये १५ अगस्त १९४७ को रात्रि के १२ बजे भारतीय स्वतन्त्र भारत का जन्म हुआ था। वह अगस्त का महीना था जबकि कर्क (चतुर्थ राशि) में सूर्योदय हुआ करता था। सञ्चारमान से उस दिन रात के १२ बजे वृषलग्न थी। अतः जन्मलग्न में वृष सूचक २ लिखा जायेगा और उसी के अनुसार समस्त संख्यायें बदल जायेंगी। उस समय जो ग्रह जिस राशि में होगा
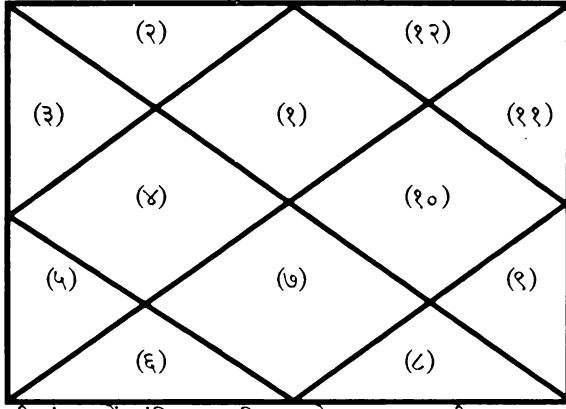
उस ग्रह को उसी संख्या में अंकित कर दिया जायेगा। जातक की जन्मपत्र की यह रूपरेखा इतनी परिपूर्ण रूप में तैयार हो जाती है कि केवल चक्र का ही गहराई से अध्ययन कर जातक के जन्म समय (वर्ष, मास, पक्ष, दिन, जन्मसमय) इत्यादि का पूरा ज्ञान हो जाता है।

यह तो हुई जन्मपत्र रचना की बात। फलित ज्योतिष के अनुसार यह जन्म पत्र जातक की समस्त भाग्य रेखा का चिट्ठा भी है जिसे देखकर जातक की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थिति इत्यादि का अध्ययन किया जा सकता है। किन्तु यह अध्ययन अत्यन्त दुरूह है। ठीक ठीक फलादेश जानने के लिये ग्रहों की वास्तविक स्थिति, उनका प्रभावी क्षेत्र और काल, एक दूसरे से मित्रता शत्रुता इत्यादि की स्थिति, स्वामित्व, उच्चता नीचता इत्यादि ऐसे अनेक क्षेत्र एवं विषय हैं जिनमें एक से भी चूक जाने पर फलादेश ठीक नहीं निकलता। ग्रहों का चक्रभ्रमण काल एक नहीं है; अतः परिभ्रमण में अनेकशः अनेक ग्रह एक ही राशि में स्थित होकर निर्णय को और जटिल बना देते हैं। अतएव किसी सुयोग्य, अनुभवी विद्वान से निर्णय कराकर ही अपने ग्रहों की अच्छाई बुराई पर विश्वास कर उसके उपचार की चेष्टा करनी चाहिये। निम्न पङ्क्तियों में ग्रहों की सामान्य स्थिति के अनुसार फलादेश का सामान्य परिचय देते हुये रत्न धारण की उपयोगिता पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा। किन्तु इसका ठीक निर्णय किसी योग्य ज्योतिषी के परामर्श से ही करना चाहिये। इस विषय में एक और तत्त्व का उल्लेख आवश्यक है। उक्त चक्र में जो १२ प्रकोष्ठ दिये गये हैं उनमें प्रत्येक प्रकोष्ठ का विचारणीय प्रभावी विषय निश्चित है। उदाहरण के लिये प्रथम लग्न स्थान से शारीरिक स्थिति और स्वास्थ्य पर विचार किया जाता है। प्रत्येक कोष्ठक के प्रमुख विचारणीय विषय इस प्रकार हैं—

१–तनु या शरीर; २–धन, ३–सहज (भाई बहन इत्यादि), ४–सुहृत् (मित्र वर्ग); ५–पुत्र (और विद्या); ६–शत्रु (एवं रोग); ७–कलत्र (पति पत्नी); ८–मृत्यु; ९–धर्म (और भाग्य); १०–कर्म (एवं राज्य); ११–आय (आमदनी) और १२–व्यय।

ये विचारणीय विषय नामकरण जैसे बन गये हैं। उदाहरण के लिये कर्मस्थान का अर्थ होता है १०वां स्थान; ७वां स्थान कहने के स्थान पर कलत्र स्थान शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है अर्थात् कलत्र स्थान का अर्थ ही होता है सातवाँ स्थान।

ज्योतिष के आकर ग्रन्थों में विभिन्न योगों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है। उन योगों में निपुणता प्राप्त करना प्रत्येक ज्योतिषी का स्पृहणीय तत्त्व होता है। ग्रह की सामान्य स्थिति पूर्ण निर्णायक भले ही न हो किन्तु उससे सामान्य परिचय प्राप्त ही हो जाता है। इसलिये ज्योतिष ग्रन्थों में ग्रहों की स्थिति का फल सामान्यतः उल्लिखित रहता है।

सूर्य की स्थिति और माणिक्यधारण

सूर्य ३, ६, ९, १० और ११ स्थानों पर शुभ होता है, शेष स्थानों पर उसका फल इस प्रकार होता है—प्रथम स्थान में क्लेश और चिन्ता देने वाला होता है, द्वितीय स्थान—शोक और राज्य से भय प्रदान करता है।, चतुर्थ स्थान में हानि पीड़ा और भय प्रदान करता है, पाँचवें स्थान में—रोग और भय देता है तथा पुत्र विनाशक होता है; सातवें स्थान पर स्त्री को कष्ट एवं स्वयं को पीडा और भय देता है; आठवें स्थान में भी शोक कष्ट और भय देता है और १२ वें स्थान में उद्वेगजनक एवं पीड़ादायक होता है।

जिन स्थानों पर सूर्य हानिकारक होता है उन स्थानों पर यदि अंशों के अनुसार वह सवल रूप में पड़ा है तो अधिक हानिकारक हो जाता है। उसके उपशम के लिये जहाँ पूजापाठ, जप-तप इत्यादि विधियाँ अपनाई जाती हैं वहाँ माणिक्य रत्न धारण करना भी एक उपाय है। यह लाल रंग का एक विशेष प्रकार का पाषाण खण्ड होता है जिसे अंग्रेजी में रूवी (Ruby) कहा जाता है जो रवि से मिलता जुलता शब्द है; यह सूर्य का रत्न है; इसकी लाली अरुणोदयकाल में पूर्व दिशा में फैली हुई लाली का प्रतिरूप है। इसे माणिक्य, माणिक, पद्मराग, शोणरत्न, रक्तमणि, लोहितक इत्यादि लाली वाचक अनेक नामों से पुकारा जाता है। इसका सम्बन्ध विशिष्ट प्रकार के पाषाण खण्डों और जलधारा से है। पर्वत की जिन शिलाओं में यह रत्न उत्पन्न होता है वहाँ से वहकर जो नदियाँ अपने वेग से उनको तोड़कर वहाकर लाती हैं उन धाराओं में या उन धाराओं से छोड़ी हुई भूमि में या भूमि के पर्तों में ढकी हुई भूमि में इस रत्न के टुकड़े पाये जाते हैं। यह पाषाण खण्ड बहुत कड़ा होता है; कहा जाता है कि हीरे के बाद यह सर्वाधिक कड़ा पत्थर होता है। इसकी दूसरी विशेषता है इसकी विशदता और इसका पारदर्शी (transparent) होना। यह सूर्य का रत्न है; अतः रविवार के दिन श्रद्धापूर्वक सूर्य का व्रत धारण कर धूप, दीप, नैवेद्य इत्यादि से सूर्य की पूजा कर तथा आदित्य हृदय का पाठकर सूर्य को समर्पित कर उसके प्रसाद रूप में इसे धारण करना चाहिये। इस रत्न को सोने, तांबे या अष्ट धातु की अंगूठी में सवाचार रत्ती की मात्रा में अनामिका में धारण करने का विधान है। सूर्य सिंह राशि का स्वामी है और मेष राशि का सूर्य उच्च का होता है। अतः इन दोनों राशि वालों को यह विशेष लाभदायक होता है। सूर्य के दोषों को तो यह दूर करता ही है इसके अतिरिक्त यह भाग्य को उन्नत करता

है; तेज, प्रताप और प्रभाव का विस्तार करता है। मन की अस्थिरता को दूर कर अस्थिर जीवन में स्थायित्व लाता है। जिस प्रकार ग्रहों में सूर्य महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार यह रत्न भी रत्नों में उच्चकोटि का अधिकारी है।

जैसा कि बतलाया जा चुका है यह रत्न होता तो नदियों द्वारा तोड़ा हुआ और वहाकर लाया गया पर्वतीय पाषाण खण्ड ही है, किन्तु अनेक शताब्दियों तक राशि राशि में दवे पड़े रहने के कारण इसकी खाने बन जाती हैं। कहा जाता है ये खाने दक्षिण भारत में भी पाई जाती हैं किन्तु इनका प्रशस्त उद्गम दक्षिण एशिया के देश विशेष रूप से लंका और वर्मा माने जाते हैं। वहीं से इस रत्न का आयात किया जाता है। बहुत से लोग सच्चे रत्न से मिलता जुलता जाली पद्मराग भी बनाकर बेचते हैं। अतः इसके धारण करने में सावधानी की आवश्यकता है।

चन्द्रग्रह एवं मुक्ता

जीवन पद्धति एवं सफलता असफलता पर प्रभाव डालने वाला दूसरा ग्रह है चन्द्रमा। यह १, ६, ७, ८ और १२ स्थानों पर स्थित होकर अशुभफल देता है और कष्टकारक होता है। दूसरे स्थान पर इसका प्रभाव मिलाजुला होता है। इस स्थान पर स्थित होकर धन को बढ़ाता है किन्तु नेत्र पीड़ा में कारण बनता है। अन्य स्थानों पर यह शुभफल प्रदान करता है। प्रथम शरीर स्थान है जिसमें स्थित होकर चन्द्रमा ज्वर और तन्सम्बन्धी पीड़ा देने वाला हो जाता है। षष्ठ स्थान में भी चन्द्रमा शारीरिक पीड़ा देता है, साथ ही व्यय भी बहुत कराता है; सप्तम स्थान पत्नी या पति का है; इसमें अपने सहयोगी को और स्वयं को भी ज्वर जन्य पीड़ा देने वाला बनता है और स्वास्थ्य एवं जीवन के विषय में भय भी उत्पन्न करता है। आठवें स्थान पर यह अनेक प्रकार के रोगों को देने वाला तथा दूसरी प्रकार की हानियाँ पहुंचाने वाला बनता है। १२वें स्थान पर भी स्थित होकर यह नेत्र पीड़ा देता है और अधिक व्यय भी कराता है। वैसे तो चन्द्रमा एक सौम्य ग्रह माना जाता है; किन्तु उक्त स्थानों पर यह विपरीत फल देता है।

पौराणिक विवरण के अनुसार चन्द्रमा का जन्म समुद्रमन्थन में समुद्र से हुआ था। अतः तज्जन्य पीड़ा से छुटकारा पाने के लिये समुद्र से ही उत्पन्न होने वाले मुक्ताफल (मोतियों) का ही उपचार लाभदायक होता है। इसे अंग्रेजी में पर्ल (Pearl) की संज्ञा दी जाती है जिसे संस्कृत में मुक्ता, मुक्ताफल, मौक्तिक, शुक्तिज चन्द्ररत्न इत्यादि भी कहा जाता है। इसका जन्म समुद्र की शुक्ति से होता है। भारतीय परम्परा में प्रसिद्ध है कि जब स्वाति नक्षत्र में वर्षा का जल समुद्र की शुक्ति में पड़ता है तब वह मोती बन जाता है।

कविवर रहीम ने कहा है—

मुक्ता करै कपूर करि चातक जीवन देय।
एतो बड़ो रहीम जल व्याल वदन विष होय॥

मोती की उत्पत्ति विशिष्ट जलवायु और ताप वाली समुद्र की तलहटी में होती है। इस स्थान पर समुद्र के एक कीड़े (Shellfish) से होता है जिसे अंग्रेजी में नेकर (Nacre) की संज्ञा दी जाती है; हिन्दी में इसे घोंघा कहते हैं। यह घोंघा मांस के दो पर्तों के मध्य में रहता है जो दोनों पर्त एक ओर जुड़े और दूसरी ओर खुले रहते हैं। इन पर्तों से एक लसीदार द्रव निकलता है जो एक साथ एकत्र होकर और जमकर सुक्ति का रूप धारण कर लेता है। इन सुक्तियों से ही मोती का जन्म होता है। विशिष्ट प्रकार के अभ्यास से सम्पन्न गोताखोर जिन्हें अंग्रेजी में पर्ल डाइवर की संज्ञा दी जाती है इन मोतियों का संकलन करते हैं। ये ही सच्चे मोती होते हैं; मोती उत्पन्न करने वाले घोंघा के आवरण एवं चर्म इत्यादि से भी नकली मोती बनाये जाते हैं जिन्हें मुक्ताशुक्ति की सज्ञा दी जाती है।

चन्द्रदोषनिवारण के लिये मोतियों की माला पहनी जाती है, उसके वजूले भी धारण किये जाते हैं और चांदी या पञ्चधातु की अँगूठी में भी कम से कम सवाचार रत्ती का मोती जड़वाकर धारण किया जाता है। चन्द्रमा शिव के मस्तक का आभरण है। चन्द्रवार को शिव का विशेष दिन माना जाता है। उस दिन शंकरजी का व्रत रखकर विधि विधान से पूजा करनी चाहिये। पूजन सामग्री में मोतियों की माला और अंगूठी इत्यादि उपकरणों को भी शामिल करना चाहिये शंकर जी की पूजा विशेष रूप से प्रदोष वेला में (सूर्यास्त के समय) की जाती है। शिवजी पर दूध चढ़ाने की विशेष परम्परा है। अतः लोटे में दूध लेकर उसमें पूजन सामग्री के साथ माला या अंगूठी डाल देनी चाहिये; फिर पूजन के उपरान्त दूध शिवमूर्ति पर चढ़ा देना चाहिये और माला या अंगूठी शिवजी पर चढ़ाकर (उसका शिवमूर्ति से स्पर्श कराकर) धारण कर लेना चाहिये। इस क्रिया से चन्द्रदोष जन्य क्लेश दूर हो जाते हैं; मन की चञ्चलता, निराशा, अनवस्था दूर होती है और सुख सुविधा एवं सम्पत्ति की वृद्धि होती है। मोती अनेक प्रकार के होते हैं—काले, सफेद, मटमैले, नीले, गुलाबी इत्यादि अनेक रंग के होते हैं। पद्मश्री ने खान और योनि भेद से रत्नों की अनेक रूपता का उल्लेख किया है। सब प्रकार के मोती चन्द्रदोष निवारण में एक समान सक्षम होते हैं। अपनी रूचि और पसन्दगी के अनुसार उनका चुनाव कर लेना चाहिये।

मंगलग्रह एवं मूंगा

मंगल लाल रंग का ग्रह है, पूजा पद्धति में नवग्रह बनाने में मंगल की रचना मसूर की दाल से की जाती है जो लाल होती है। मंगल मेष और वृश्चिक राशियों का अधिपति माना जाता है। यह मकर के २८ अंश पर उच्च का और उतने ही अंशों पर कर्क में नीच का होता है। स्वयं से ४, ७ और ८ पर इसकी पूर्ण दृष्टि रहती है। अपने मंगल नाम से विपरीत यह पाप ग्रह है और बहुत शक्तिशाली माना जाता है। इसके मित्र ग्रह हैं—सूर्य, चन्द्र और बृहस्पति तथा शत्रु ग्रह हैं बुध और राहु। शुक्र और शनि समग्रह हैं।

मंगल ३,६,९,१० और ११ पर शुभ होता है। शेष स्थानों पर हानिकारक बतलाया जाता है। प्रथम स्थान पर वायु पीड़ा और व्रण या घाव देता है; दूसरे स्थान पर धन का नाश करता है और आँखों का पीड़ा कारक हो जाता है; चौथे स्थान पर बुरी आदतें, व्यसन, रोग और भय देता है पाँचवें स्थान पर पुत्र का दुःख दिखलाता है और बुद्धि को बुराइयों की ओर झुकाता है। सातवें स्थान का मंगल सर्वाधिक बुरा होता है—स्त्री की जन्मपत्र में ७वां मंगल पति को मार डालता है और पुरुष जन्मपत्र में ७वें स्थान का मंगल स्त्री नाशक होता है। इसे समाज में मंगली योग नाम से जाना जाता है और ऐसे लड़के लड़कियों की शादी तलाश करने में परेशानी होती है। देखना यह पड़ता है कि दोनों का मंगल समान शक्तिवाला हो। केवल इतना ही नहीं ७वां मंगल अन्य अनेक प्रकार की पीड़ायें देने में कारण होता है। ८वें स्थान का मंगल बीमारी, ज्वर की पीड़ा, दुर्घटना, फोड़ा-फुंसी इत्यादि कष्टों को देने वाला होता है। व्ययस्थान (१२वें स्थान) का मंगल विरोध बढ़ाता है तथा कर्णपीड़ा देता है।

मंगल के प्रकोप को शान्त करने के लिये ज्योतिषी एवं कर्मकाण्डी विद्वान मंगल के जप और रुद्राष्टाध्यायी के पाठ का प्रतिपादन करते हैं। इसके साथ ही इसके उपशम के लिये मूंगा धारण करने का भी प्रतिपादन किया जाता है। मोती के समान मूंगा भी एक समुद्री रत्न है। इसके लिये विशिष्टतापमान और समुद्र की विशिष्ट गहराई अपेक्षित होती है। अनुकूल तापमान और गहराई में समुद्र के अन्तराल में विद्यमान किसी चट्टान पर मूंगा का एक वृक्ष उगता है जो अधिक नहीं बढ़ता। इस वृक्ष की डालियों को काट काटकर उपयोग योग्य मूंगा तैयार किया जाता है। मूंगा का रंग हल्का लाल और कभी कभी गहरा लाल होता है। मंगल हनुमानजी का दिन है। इसदिन हनुमान का व्रत और पूजन किया जाता है। हनुमान शंकरजी के अवतार माने जाते हैं, अतः उनका पूजन भी शंकर जी के पूजन के समान प्रदोष बेला में ही करना चाहिये। इसी दिन मूंगा को भी हनुमान जी को समर्पित कर प्रसाद रूप में उसे धारण करना चाहिये। मूंगा ५ रत्ती के परिमाण में सोने की अंगूठी में पहनना चाहिये। इसके लिये तांबे या अष्ट धातु की अंगूठी भी चल सकती है। मूंगा को कुछ लोग हार के रूप में पहिनना भी पसन्द करते हैं। इससे मंगल के प्रकोप जन्य दोष तो दूर होते ही हैं धारण करने वाले को अनेक अन्य प्रकार की सुविधायें और सफलतायें भी प्राप्त होती हैं। इसे केयूर के रूप में भुजा में भी धारण किया जा सकता है। साथ ही हनुमान जी का पूजन भी चलता रहे तो अधिक अच्छा है।

बुध ग्रह एवं पन्ना

बुध सौम्य ग्रह है; यह कन्या और मिथुन राशियों का स्वामी है; इसके मित्र ग्रह हैं रवि, राहु और शुक्र, शत्रु ग्रह हैं चन्द्रमा और समग्रह हैं—मंगल, शनि और बृहस्पति। बुध कन्याराशि के १५ अंशों में उच्च का माना जाता है और मीन राशि के १५ अंशों तक नीच का होता है। यह अपने स्थिति काल में सर्वदाफलदायक होता है। सौम्य ग्रह होने के कारण

बुध ६,८ और १२ को छोड़कर प्रत्येक स्थान पर शुभ फल देने वाला होता है। कन्या और मिथुन राशि वालों को विशेष अनुकूल पड़ता है। सूर्य के साथ सभी ग्रह अस्त हो जाते हैं; केवल बुध अस्त नहीं होता। सूर्य और बुध का योग उत्तम माना जाता है। छठे स्थान का बुध रोग भय और कलह देने वाला होता है—क्योंकि छठा स्थान शत्रु और रोग का स्थान माना जाता है। ८वें स्थान का बुध कफ जन्य रोगों को देने वाला होता है और व्यग्रता प्रदान करता है। १२वें स्थान का बुध भी शत्रु और रोग इत्यादि का भय देने वाला होता है।

बुध ग्रह की शान्ति के लिये पन्ना धारण करने की सामान्य परम्परा है। संस्कृत में पन्ना को मरकत मणि और अंग्रेजी में एमराल्ड (Emerald) कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति समतल में स्थित खानों से होती है। पद्मश्री ने कहा है कि मरकत मणियाँ खानों की विशेषता से अनेक प्रकार की होती हैं। वस्तुतः इस रत्न के अनेक रंग होते हैं—जौहरियों का कहना है कि यह जिस धातु के साथ निकलती हैं उसका रंग इसमें आ जाता है। ये काली, पीली सुनहले रंग की इत्यादि अनेक रूपों वाली होती है। कहा जाता है कि रूखापन और जाली इनकी विशेषता है। मरकतमणियाँ बनावटी भी मिलती हैं। बनावट करने वाले भी इसकी रुक्षता बनाये रखते हैं और उसमें जाली का भी समावेश कर देते हैं। अफ्रीका, रूस और यूरोप के देशों की मरकत मणियाँ अच्छी मानी जाती हैं। भारत और पाकिस्तान की भी मरकतमणियाँ पाई जाती हैं।

बुधवार के दिन शुद्ध शरीर और मन से रत्न की विधिवत पूजा कर इष्टदेव का स्मरण करते हुये इस रत्न को धारण करना बुध दोष का निवारण तो करता ही है अन्य अनेक शुभफलों का दाता भी हो जाता है। यह रत्न कम से कम सवाचार रत्ती का पहना जाता है जिसे चाँदी या सप्तधातु की अंगूठी में जड़कर अंगूठी को इष्टदेव के चरणों में समर्पित कर किसी देवस्थान में धारण करना अधिक उत्तम रहता है। इसे माला रूप में भी धारण किया जा सकता है।

बृहस्पति और पुखराज

बृहस्पति सौम्य ग्रह है, यह मीन और धनुष् का स्वामी है तथा अपने से पाँचवें, सातवें और नवें स्थानों को पूर्ण दृष्टि से देखता है इसके मित्र ग्रह हैं रवि, चन्द्र और मंगल; समग्रह हैं शनैश्चर और राहु तथा शत्रु ग्रह हैं बुध और शुक्र; कर्क के ५ अंश पर यह उच्च का एवं मकर के ५ अंश पर नीच का होता है। यह पीत रंग का ग्रह माना जाता है और नवग्रह पूजन में उसी रंग से इसकी स्थापना की जाती है। छठे, आठवें और १२ वें स्थानों को छोड़कर अन्य सभी स्थानों पर यह शुभफलदायक होता है। छठा शत्रु और रोग का स्थान है उसमें स्थित होकर शत्रु और रोग के भय का देने वाला होता है। आठवां मृत्यु का स्थान है उसमें स्थित होकर यह भयानक रोगों का कारण बनता है। बारहवाँ व्यय स्थान है जिसमें इसकी स्थिति शोक रोगादि भय की सूचक हो जाती है।

बृहस्पति को देवगुरु या केवल गुरु की संज्ञा दी जाती है। सामान्य रूप से कहा जाता है कि यह ग्रह अनिष्ट किसी का नहीं करता किन्तु छठे, आठवें और बारहवें स्थानों पर इसकी स्थिति कष्टकारक अवश्य हो जाती है। पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा के अतिरिक्त इसके उपशम के लिये पुखराज धारण करने की परम्परा है जोकि बृहस्पति का रत्न माना जाता है। आजकल पुखराज धारण करने का जितना प्रचलन है उतना किसी अन्य रत्न धारण करने का नहीं। मध्य एवं उच्च वित्त लोगों में जिसे देखो प्रायः पुखराज धारण करने वाले लोग मिल जायेंगे। इसके अधिक प्रचलन का कारण यह है कि यह बृहस्पति के प्रकोप दूर करने वाला और रोगादिनाशक तो है ही सौभाग्य और सम्पत्ति को बढ़ाने वाला, सांसारिक सुखों का दाता भी है, दीर्घायु भी प्रदान करता है; मनचाही सहधर्मिणी से मेल कराता है, गृहस्थ जीवन को सुखी बनाता है, यह बुद्धिजीवियों का भी सहायक है, समस्याओं से छुटकारा दिलाता है और रूके काम भी बनाता है। इसलिये जो लोग बृहस्पति के ग्रहदोष का निवारण करना चाहते हैं उनके अतिरिक्त सुख समृद्धि चाहने वाले भी इसे धारण करते हैं।

पुखराज हिमालय की खानों से प्राप्त होता है। पर्वत की बर्फीली परतों के नीचे असीमित काल तक पड़े रहने और अनुकूल ताप एवं विशिष्ट रासायनिक द्रव्यों के संयोग से शिलायें पुखराज के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। रासायनिक द्रव्यों के मिश्रण के अनुसार उसमें अनेक विभिन्न रंग उत्पन्न हो जाते हैं। उन सबमें पीले रंग का पुखराज सर्वोत्तम माना जाता है क्योंकि नवग्रहों में बृहस्पति का रंग पीला ही है। हीरा के बाद यह सर्वाधिक कड़ा रत्न माना जाता है।

५ रत्ती से कम का पुखराज धारण नहीं किया जाता। उसे प्रायः सोने की अंगूठी में जड़वा कर पहिना जाता है। बृहस्पति का रत्न है अतः बृहस्पति के दिन ही इसे धारण करने का विधान है। प्रातः नित्यकर्म से निवृत्त होकर शारीरिक और मानसिक शुद्धता के साथ देवताओं का पूजन कर इसे धारण करना चाहिये। इससे मनःकामना की पूर्ति होती है। सीधे हाथ की तर्जनी में पहनने का इसका विधान है।

शुक्रग्रह और हीरा

जिस प्रकार बृहस्पति देवताओं का गुरु है उसी प्रकार शुक्र दैत्यों का गुरु माना जाता है। यह शुभ एवं सभ्य ग्रह माना जाता है। यह वृष और तुला का स्वामी है; अपने से सातवें स्थान को पूर्ण दृष्टि से देखता है। इसके मित्र ग्रह हैं राहु और शनि; शत्रु ग्रह हैं रवि और चन्द्र तथा सम ग्रह हैं—मंगल और गुरु। मीन के २७ अंश का शुक्र उच्च का माना जाता है और कन्या के २७ अंश पर नीच का होता है। सूर्य के समान राशिगत संचरण काल एक महीना और समस्त चक्र परिभ्रमण काल १ वर्ष माना जाता है। ६, ८ और १२ को छोड़कर यह प्रत्येक राशि में शुभ फलदायक ही होता है। यह छठे स्थान पर शत्रु और रोग का भय उत्पन्न करता है। आठवें स्थान पर स्थित होकर ज्वर इत्यादि और रोग का भय उत्पन्न करता है। आठवें स्थान पर स्थित होकर ज्वर इत्यादि रोगों की पीड़ा देने वाला

हो जाता है। १२वें स्थान का शुक्र आमदनी का नाशक होता है और व्यय बहुत अधिक कराता है।

शुक्र का रत्न है हीरा जो सब रत्नों का सरमौर है। यह शुक्र ग्रह के दोष को दूर करता ही है साथ ही उत्तम बाजीकरण है। हीरा को धारण करने वाले स्त्री पुरुषों की संभोग शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है और सम्भोग में उन्हें आनन्द भी अत्यधिक रूप में प्राप्त होता है। गृहस्थ जीवन सुख शान्तिमय बन जाता है और स्त्री पुरुष एक दूसरे से पूर्ण सन्तुष्ट भी रहते हैं, स्वभाव में कोमलता आ जाती है; परेशानियाँ दूर हो जाती हैं, नवीन उत्साह और जोश का सञ्चार होता है; काम में मन खूब लगता है; प्रत्येक यत्न में सफलता प्राप्त होती है, व्यक्ति प्रभावशाली बन जाता है जड़वाकर पहनने की प्रथा है। इसकी मालायें भी बनती हैं जिन्हें धारण भी किया जाता हैं और उनसे जप भी किया जाता हैं। स्फटिक की मालायें जौहरियों के यहाँ बनी बनाई मिलती हैं। स्फटिक का शिव लिंग भी बनाया जाता है और विश्वास किया जाता है कि उस शिवलिंग का पूजन अपेक्षाकृत अधिक फलदायक होता है।

शनिग्रह और नीलम

यह पापग्रह है; मकर और कुम्भ इन दो राशियों का स्वामी है। इसके मित्र ग्रह हैं बुध, राहु और शुक्र; बृहस्पति सम ग्रह हैं और सूर्य, चन्द्र एवं मंगल इसके शत्रुग्रह हैं। तुला राशि के २० अंश पर उच्च का और मेष के २० अंश पर नीच का माना जाता है। यह ३, ६, ९ और ११ स्थानों पर शुभफल देता है; शेष स्थानों पर अनिष्ट कारक होता है। प्रथम स्थान पर शत्रुभय एवं वायुपीड़ा, दूसरे स्थान पर शारीरिक पीड़ा और वर्ग विरोध, चतुर्थ स्थान पर सुख और धन का नाश एवं कष्ट, पाँचवें स्थान पर पुत्र की हानि एवं पीड़ा, ७वें स्थान पर स्त्री कष्ट एवं नाश और कलह, आठवें स्थान पर दुःख और रोग इत्यादि का भय, १०वें स्थान पर धन की हानि पीड़ा और भय तथा १२वें स्थान पर क्लेश और चिन्ता इसके अनिष्ट कारक फल बतलाये जाते हैं।

शनि के अनिष्ट कारक होने पर ज्योतिषी लोग महामृत्युञ्जय का उपचार बतलाते हैं। साथ ही इसका रत्न है नीलम जोकि गहरे नीले रंग का होता है; यह लंका, वर्मा इत्यादि विदेशों से भी आता है और जम्मू की ऊँची पहाड़ियों पर भी इसकी खानें हैं। पुखराज के समान इसकी भी उत्पत्ति बर्फीले पहाड़ों में दबी बर्फ की नीची परतों में ही होती है। यह पुखराज का उपरत्न तो नहीं, उसी के समकक्ष बदले रंग का दूसरा रत्न है। कुछ लोग तो मानते हैं कि नीलम भी पुखराज का ही एक दूसरा रूप है जिसका रासायनिक द्रव्यों और ताप के भेद से रंग बदल जाता है। जिन लोगों को शनैश्चर अरिष्ट हो उन्हें नीलम धारण करना चाहिये, किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि यदि नीलम शुद्ध नहीं है या अनावश्यक है तो उसे धारण करने में हानि भी बहुत अधिक होती है। कहा जाता है कि नीलम पहनते ही हानि का कुछ दिनों में ही पता चल जाता है। वैसे कहा तो यह जाता है कि नीलम एक सात्त्विक रत्न है और धारण करने पर दुर्विचार पलायन कर जाते हैं और सद्विचार स्वतः

उद्‌भूत होने लगते हैं; है भी तो यह पुखराज का प्रतिरूप जो गुरु का रत्न है और किसी को हानि नहीं पहुंचाता। फिर भी रत्न का सच्चा और शुद्ध होना तथा उसके प्रति श्रद्धा होना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि ही होती है।

नीलम पंचधातु या चाँदी की अंगूठी में पहना जाता है। यह लोहे की अंगूठी में भी पहना जा सकता है। इसे कम से कम ५ रत्ती का होना चाहिये।

राहु और गोभेद

राहु और केतु शनैश्चर और मंगल की छाया माने जाते हैं। इनका स्वरूप छाया रूप ही है। अतः इनका प्रभाव भी उन्हीं के समान होता है। अतएव शनैश्चर के समान राहु भी क्रूर ग्रह है; यह तीसरे, छठे, नवें और ग्यारहवें स्थानों पर शुभफल देता है; अन्यत्र कष्टदायक माना जाता है। प्रथम स्थान पर मस्तक पीड़ा और कलह, दूसरे पर राजकीय भय और पीड़ा, चौथे स्थान पर बात व्याधि और दुःख, पांचवें पर बुद्धिनाश और धन हीनता; सातवें पर पीड़ाभय और धनक्षय, आठवें पर धनहानि और रोग, दसवें पर वाहननाश, और बारहवें पर रोग का भय प्राप्त होता है। इसके मित्र ग्रह हैं—बुध, शुक्र और शनैश्चर; समग्रह हैं—बृहस्पति तथा शत्रु ग्रह हैं सूर्य, चन्द्र और मंगल। यह सातवें स्थान को पूर्ण दृष्टि से देखता है जहाँ केतु की स्थिति होती है। राहु मिथुन में १५ अंश पर उच्च राशि का और धन में १५ अंश पर नीच राशि का होता है। कन्याराशि इसका अपना घर माना जाता है।

राहु के अनिष्टकारक स्थानों में होने पर चाँदी या सोने का सर्प बनाकर दान करने का विधान है। रत्नों में गोमेद को चाँदी या पञ्चधातु की अंगूठी में जड़वाकर पहनना चाहिये। इसका परिमाण कम से कम सात रत्ती का होना चाहिये। शनैश्चर को इसका धारण करना विशेष शुभ माना जाता है। कहा जाता है शनैश्चर की साढ़ साती में इसका विशेष फल होता है।

केतु और लहसुनियाँ (वैदूर्य)

केतुग्रह भी छाया रूप ही है। स्वभावतः यह राहु से सर्वदा विपरीत दिशा में अर्थात् सातवें स्थान पर रहता है। यह भी पाप ग्रह ही है। छाया रूप होने से यह भी मंगल के समान ३, ६, ९, १० और ११ पर शुभफल देता है तथा शेष राशियों पर अनिष्ट कारक होता है। प्रथम पर पीड़ा, भय और चिन्ता; दूसरे पर क्लेश और धनक्षय; चौथे पर कष्ट और राजकीय भय; पांचवें पर पीड़ा, भय और दुर्बुद्धि; सातवें पर क्लेश और रोग; आठवें पर ज्वरादि रोग की पीड़ा और भय और बारहवें पर शोक, भय और दीनता प्रदान करता है। इसका अपना घर है मीन; यह धन के १५ अंश पर उच्च का और मिथुन के १५ अंश पर नीच का होता है; क्योंकि इन्हीं राशियों पर इससे विपरीत राहु इसकी मित्र राशि पर शत्रु और इसकी शत्रु राशि पर मित्र होता है। इसके मित्र ग्रह हैं—बुध, शुक्र और शनैश्चर; समग्रह है बृहस्पति और शत्रु ग्रह हैं सूर्य, चन्द्र और मंगल।

इस ग्रह के कुटिल होने पर ध्वजादान इसका प्रतिकार माना गया है। रत्नों में लहसुनियाँ (वैदूर्य) धारण करने का विधान है शनिवार के दिन सूर्योदय से पहले इसे गंगाजल में धोकर अपने इष्टदेव को समर्पित कर इसे धारण करना चाहिये। इसको भी पञ्चधातु की अंगूठी में जड़वाकर हाथ की अंगुली में धारण करना शुभ माना जाता है। यह भी कम से कम ७ रत्ती की धारण की जानी चाहिये।

आयुर्वेद में रत्नों का प्रयोग

आयुर्वेद की बहुप्रचलित औषधियाँ सामान्यतः दो रूपों में प्राप्त होती हैं—काष्ठादि औषधि और रस। काष्ठादि औषधियाँ अति सामान्य और बहुत सस्ती होती हैं। इनका प्रभाव सीमित होता है और रोग निवारण एवं शक्ति प्रदान में अधिक समय लेती हैं। यदि रोगी शीघ्र लाभकारक तथा अधिक प्रभावशाली औषधियाँ चाहता है तो खनिज द्रव्यों (मिनरल्स) की औषधियाँ काम में लाई जाती हैं। काष्ठादि औषधियों की खूराक तोलों या मासों में होती है जबकि खनिज द्रव्यों से बनी औषधियाँ रत्तियों में ली जाती हैं और उतने से ही अधिक लाभ प्रदान करती हैं। केवल आयुर्वेद में ही नहीं एलोपैथी, होमियोपैथी या यूनानी चिकित्सा पद्धति में भी खनिज द्रव्यों से बनी औषधियों का उतना ही महत्त्व है।

आजकल बाजार में रसों (धातुओं और उपधातुओं) से बनी अनेक औषधियाँ प्राप्त होती हैं—स्वर्ण, रौप्य (चाँदी) तांबा, लोहा इत्यादि की एकाकी भस्में भी मिलती हैं और रोग निवारण एवं स्वास्थ्य वर्धन के लिये प्रायः प्रयुक्त भी की जाती हैं। स्वर्णभस्म शारीरिक और मानसिक शक्ति तो बढ़ाती ही है, पुराने रोगों में लाभ करती है और अनुपान भेद से प्रायः सभी रोगों में हितकर सिद्ध होती है। चाँदी की भस्म शारीरिक दुर्बलता और वात पित्तादि के विभिन्न विकारों को दूर करती है और उदर रोगों में लाभकर सिद्ध होती है। ताम्रभस्म कफ विकार की अक्सीर दवा मानी जाती है; लौह भस्म अभ्रक, फौलाद, मण्डूर इत्यादि अनेक रूपों में वाजार में मिलती है और सामान्य लौह भस्म भी अत्यधिक प्रचलन में है। लोहे की भस्में रक्त विकार और रक्ताल्पता की प्रतिष्ठित औषधियाँ हैं और चूंकि रक्त शरीर का राजा है अतः रक्त संवर्धन और रक्त परिशोधन द्वारा शरीर के अनेक विकारों को दूर करती है साथ ही दिल और दिमाग के लिये भी हितकर है। इन भस्मों का प्रयोग विभिन्न काष्ठादि औषधियों के नुश्खों में भी किया जाता है जिससे उनकी शक्ति और मूल्य भी बढ जाता है। अनेक कीमती औषधियों के प्रचार में भी 'स्वर्ण युक्त' शब्द का प्रयोग किया जाता है तथा औषधियों के निर्माण द्रव्यों में विभिन्न भस्मों का समावेश किया जाता है। सारांश यह है कि खनिज पदार्थ सामान्य औषधियों का काम ही नहीं देते उच्चकोटि की प्रथम श्रेणी की औषधियों की मान्यता उन्हें प्राप्त है।

खनिज पदार्थों को दो रूपों में औषधि के रूप में प्रयुक्त किया जाता है भस्म रूप में और पिष्टि रूप में। पुराने वैद्य पुट पाक पद्धति से स्वर्णादि को फूंककर उसकी भस्में

तैयार करते थे; किन्तु अब कहा जाता है इन्हें कारखानों में बिजली से फूंककर भी भस्में तैयार कर ली जाती हैं। इन द्रव्यों को छोटे छोटे टुकड़ों में तोड़कर गुलाब जल या केवड़े के जल में घोट कर और पीसकर पिष्टि बनाई जाती है।

रत्न भी खनिज पदार्थ का ही रूप है। इनमें अनेक की भस्में और पिष्टियाँ बाजार में उपलब्ध होती हैं जिनमें भस्मरूप में प्रवाल, पन्ना, मुक्ता, माणिक्य, अकीक, स्फटिक, कहरवा (तृण कान्तमणि) इत्यादि अनेक प्रकार के रत्न व्यापारिक क्षेत्र में प्रचलित हैं और व्यवसाय की दृष्टि के बाजार में खरीदे बेचे जाते हैं।

रत्नों की उत्पत्ति या तो स्थलीय खनिजों से होती है या समुद्र से होती है। समुद्र की तलहटी में उत्पन्न होने के कारण इन्हें भी खनिजों के समकक्ष माना जा सकता है। स्थलीय खानें भी दो प्रकार की होती हैं—या तो सामान्य धरातल पर स्थित खानें या पर्वत पर प्राप्त होने वाली खानें। प्रचलित रत्नों में पन्ना, गोमेद, हीरा समतल भूमि की खदानों से प्राप्त होते हैं। पुखराज और नीलम की उत्पत्ति हिमालय की बर्फीली शृङ्खलाओं में होती है। माणिक्य और लहसुनियाँ भी उत्पन्न तो पर्वत पर ही होते हैं और वहीं प्राप्त होते हैं किन्तु कभी कभी नदियों की वेगपूर्ण धाराओं के वेग से टूट कर प्रवाहित होकर नदियों के किनारे की भूमियों में मिल जाते हैं। मूंगा और मोती की उत्पत्ति समुद्र से होती है। मूंगा समुद्र के अन्दर विद्यमान शिलाओं पर उगे हुये एक विशिष्ट वृक्ष से प्राप्त होता है जबकि मोती का जनक समुद्र का सजीव तत्त्व (घोंघा) होता है। स्फटिक एक उपरत्न है उसकी उत्पत्ति भी हिमालय से ही होती है।

हीरा

आयुर्वेद का सामान्य सूत्र है—'स्वस्थातुरपरायणम्' अर्थात् आयुर्वेद का उद्देश्य है स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी लोगों के रोग का प्रतीकार करना। स्वस्थ परायणता की दृष्टि से ही हीरा रत्न परक सर्वोत्तम औषधि है। इसकी भस्म तो बनाई जाती है यह इतना कड़ा रत्न है कि इसकी पिष्टि बनाना सम्भव नहीं है। यह स्त्री पुरुष दोनों के लिये उपयोगी है; दोनों की सहवास शक्ति में वृद्धि करता है; गृहस्थ जीवन को अधिक सुखमय तथा आनन्दमय बना देता है। स्त्री पुरुषों के लिये अलग अलग हीरे की किस्म काम में लाई जाती है। यह शरीर का पोषक है, आयु को बढ़ाने वाला है; शरीर को सुन्दर बनाता है। केवल स्वस्थों का ही उपकारक नहीं है अपितु अनुपान के भेद से सभी रोगों का नाशक भी होता है। यह सर्वसिद्धियों का दाता उच्चकोटि का रसायन माना जाता है। अंगूठी में पहनने या बाजूबन्द के रूप में पहनने से जो लाभ होते हैं वे ही इसकी भस्म सेवन करने से भी बतलाये जाते हैं।

माणिक्य

सूर्य रत्न माणिक या माणिक्य की भस्म और यिष्टि दोनों का सेवन किया जाता है। माणिक्य का सीधा सम्बन्ध त्वचा के रोगों से है। इसका रस और पिष्टि दोनों त्वचा के

रोगों की उच्चकोटि की औषधि है। इसका सेवन घी और शहद के साथ करने का विधान है जिससे गलित कुष्ठ, वातरक्त, भगन्दर, नाडीव्रण दूषित घाव, उपदंश, विचर्चिका (खुजली) नासारोग, मुखरोग, क्षत, पुण्डरीककुष्ठ, चर्माख्यकुष्ठ, विस्फोटक, मण्डलकुष्ठ, क्षत, दाद, एग्जिमा इत्यादि चर्म रोगों में लाभ तो होता ही है, माणिक अग्नि दीपक, त्रिदोषनाशक और क्षय रोग में लाभ करता है। यह नेत्रों के विकारों को भी ठीक करता है। भैषज्य रत्नावली में रसमाणिक्य नामक एक औषधि दी हुई है जो कुष्ठरोग को दूर करती है। उसमें यद्यपि माणिक्य पड़ता नहीं फिर भी ग्रन्थकार का कहना है कि उक्त औषधि चर्म रोगों को उसी प्रकार दूर करती है मानो साक्षात् माणिक्य हो। यह माणिक्य का प्रशंसा परक नाम करण है; दूसरे उक्त औषधि का रंग साक्षात् माणिक्य जैसा हो जाता है इसीलिये यह नामकरण किया गया है। नेत्र रोगों में भी माणिक्य का प्रयोग लाभदायक होता है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में जो उच्चकोटि के अञ्जन बतलाये गये हैं उनमें माणिक्य का भी उपादान करने का निर्देश है।

मुक्ता

यह जलीय रत्न है; चन्द्रमा की उत्पत्ति भी जल से ही हुई है अतः यह चन्द्र रत्न माना जाता है। आयुर्वेद में चिकित्सा की दृष्टि से इसका सर्वाधिक प्रचलन है। जो उच्चकोटि की बहुमूल्य औषधियाँ औषधि विक्रेताओं के यहाँ मिलती हैं उनमें प्रशंसापरक शब्द 'स्वर्ण मोती युक्त' भी लिखा रहता है। किसी प्रतिष्ठित औषधि में मुक्ता का समावेश उसकी शक्ति और उपादेयता को बढ़ा देता है। खरल में डालकर केवड़ा या गुलाब जल में घोटकर इसकी पिष्टि बनाई जाती है और अग्नि या बिजली से फूंककर इसकी भस्म बनाई जाती है। यह सर्वोत्तम कैल्सियम होता है और कैल्सियम की कमी से जो रोग उत्पन्न होते हैं उनके ठीक करने में यह सबसे अच्छा साधन माना जाता है। कैल्सियम की कमी से हड्डियाँ कमजोर हो जाती हैं, पेशियाँ (museles) ढीली पड़ जाती हैं; दाँत कमजोर हो जाते हैं; हड्डियों के कमजोर पड़ जाने से अनेक शारीरिक विकार उत्पन्न होने लगते हैं; दुर्बलता अपना घर कर लेती है। इन सब विकारों में सच्चे मोती की भस्म आश्चर्यजनक लाभ करती है। प्रमेह और प्रदर रोग की यह उत्तम दवा मानी जाती है। यह स्वभाव से शीतल और मधुर होती है, नेत्रों की ज्योति बढ़ाती है वीर्यवर्धक होती है; विष के प्रभाव को नष्ट करती है, हृदय को शक्ति प्रदान करती है; श्वास रोग में लाभदायक है। मुक्ता में योगवाही होने का भी गुण है अर्थात् जिस औषधि में इसे मिला दिया जाता है उसकी शक्ति को यह बढ़ा देता है। केवल सच्चे मोती ही नहीं उनको पैदा करने वाली शुक्ति की भस्म भी एक अच्छे कैल्सियम का काम देती है जोकि बाजारों में मुक्ताशुक्ति के नाम से प्राप्त होती है। यह सच्चे मोतियों से घटकर कैल्सियम है। साधारण सस्ती कैल्सियम का काम तो साधारण सीपी की भस्म भी देती है। जलीय विकारों में भी मुक्ता लाभकर सिद्ध होता है। इसका किसी रूप में धारण करना अन्य चन्द्र दोषों के निवारण के अतिरिक्त रोगों में भी लाभकर सिद्ध होता

है। भैषज्यरत्नवली में राजयक्ष्मरोगाधिकरण में मुक्तापञ्चामृत रस नामक एक औषधि का वर्णन किया गया है कि यह शारीरिक दुर्बलता, ज्वर युक्त खांसी, पित्तदाह, श्वास, पित्तज, परिणामशूल, यकृत शूल, अम्लपित्त, रक्तस्राव आदि में लाभदायक है।

मूंगा (प्रवाल या विद्रुम)

मूंगा जल से उत्पन्न होने वाला रत्न है। प्रधान रूप से मूंगा लाल रंग का होता है। हल्के लाल या गहरे लाल का भेद हो सकता है। यह मंगल ग्रह का रत्न है जिसे पूजा के अवसर पर नवग्रह में लालरंग का ही दिखलाया जाता है। मंगल हनुमान का दिन है। मूंगा और मंगल का रंग भी हनुमान से मिलता जुलता है। मूंगा की भस्म भी बनाई जाती है और गुलाब जल में घिसकर इसकी पिष्टि भी तैयार की जाती है। भस्म की अपेक्षा पिष्टि अधिक लाभदायक मानी जाती है। मूंगा का प्रबल सम्बन्ध रक्त विकार और कफ विकार के साथ है। कफ विकार और खांसी की उच्चकोटि की औषधि ताम्रभस्म है। इसीलिये मूंगा को तांबे की अंगूठी में जड़कर धारण किया जाता है। आयुर्वेद में कई औषधियों में प्रवालभस्म डाली जाती है। प्रवाल भस्म का स्वतन्त्र पृथक् प्रयोग भी आयुर्वेद में बतलाया गया है। प्रवाल भस्म से पुराना बुखार, खाँसी, रक्त पित्त, अम्ल पित्त, तृषा, बालरोग में लाभ होता है। यह एक अच्छा कैल्सियम भी है। अतः मुक्ता के समान इससे कैल्सियम की कमी के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों में भी लाभ होता है। इसकी पिष्टि विशेष रूप से पित्त शामक है; पिष्टि से भी पित्त, जुकाम, रक्त पित्त, अम्ल पित्त आँखों की जलन, मूत्र कृच्छ्र, मूत्राघात तथा हृदय रोग में लाभ प्राप्त होता है। कारखानों में चन्द्र पुटित प्रवाल भस्म भी तैयार की जाती है जो अपेक्षाकृत अधिक शीतल होती है। एक मित्र ने किसी जौहरी का हेवाला देते हुये बतलाया कि यदि मूंगा को गुलाब जल में घिस कर उसका गर्भिणी के पेट पर लेप कर दिया जाय तो गिरता हुआ गर्भ रुक जाता है। भैषज्य रत्नावली में गुल्माधिकार में प्रवाल पञ्चामृत नामक औषधि दी गई है जिससे कफ वातज आनाह, गुल्म, उदररोग प्लीहा, कास, श्वास तथा मन्दाग्नि, अजीर्ण, डकार आना, हृद्रोग, ग्रहणी, अतीसार, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी प्रभृति रोगों का ठीक हो जाना बतलाया गया है।

पन्ना (मरकत मणि)

यह एक खनिज रत्न है जो अधिकतर विदेशों से आता है। भारतीय उपमहाद्वीप में यह पाकिस्तान में भी प्राप्त होता है। इसकी भस्म और पिष्टि दोनों बनाई जाती हैं। विषनाशकता इसका विशेष गुण है तथा यह बल वीर्य वर्धक होता है। भस्म रुचिकारक, भूख बढ़ाने वाली अम्ल पित्त और दाह को शान्त करने वाली होती है। एक जौहरी का कहना है इसका प्रयोग तभी करना चाहिये जब हल्का बुखार हो, उल्टी की शिकायत मालूम पड़ रही हो एवं अजीर्ण हो। इसके प्रयोग में सावधान रहने की आवश्यकता है। नहीं तो कभी कभी लाभ के स्थान पर हानि भी हो जाती है। कारखानों में पन्ना भस्म तैयार की जाती है जिसके गुण बतलाये जाते हैं—विषदोष, श्वास,

खाँसी में लाभदायक, हृदय को पुष्ट करना और ओज बढ़ाना इसकी विशेषताओं में सम्मिलित हैं।

पुखराज

यह हिमालयीय खनिजों से निकलने वाला एक रत्न है। इसका रंग पीलिमा लिये हुए होता है जो बृहस्पति का रंग है। इसीलिये यह बृहस्पति का रत्न माना जाता है। अन्य रत्नों की भाँति इसकी भी भस्म तैयार की जाती है और पिष्टि भी बनाई जाती है। इसका जितना प्रचलन ज्योतिष की दृष्टि से है उतना आयुर्वेद की दृष्टि से नहीं। यह पीलिया की मुख्य औषधि है और कास, श्वास, नक्सीर आदि रोगों में इसका प्रयोग किया जाता है।

नीलम

यह भी एक प्रकार का पुखराज ही है। इसकी भी उत्पत्ति बर्फीले पहाड़ों की तलहटी में होती है और खान खोद कर इसे निकाला जाता है। कतिपय रासायनिक क्रियाओं के प्रभाव से पुखराज के पीले रंग के स्थान पर इसका रंग भी नीला हो जाता है जो शनैश्चर से मेल खाता है; अतः यह शनैश्चर का रत्न माना जाता है। नीलम को औषधि के रूप में परिणत करने की विधि वही है अर्थात् उसके चूरे को खरल में डालकर और गुलाब जल मिलाकर घोटकर इसकी पिष्टि बनाई जाती है और अग्नि या बिजली की गर्मी देकर फूंककर इसकी भस्म बनाई जाती है। इसकी भस्म या पिष्टि को पान में रखकर या पान के रस में मिलाकर खाया जाता है। इसके दूसरे अनुपान हैं—अदरखका रस, मक्खन, मलाई शहद इत्यादि योगवाही द्रव्य। यह ध्यान रखना चाहिये यह शनैश्वर जैसे कुटिल ग्रह का रत्न है। यह हानि भी पहुंचा सकता है। अतः किसी योग्य वैद्य से परामर्श कर इसका सेवन करना चाहिये। यह मिर्गी और मस्तिष्क की कमजोरी या मस्तिष्क विकार में लाभ कर मानी जाती है हिचकी उन्माद और पागलपन में भी इसका प्रयोग लाभदायक होता है। विषमज्वर में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

गोमेद

यह भूमितल का एक खनिज रत्न है जो विदेशों से भी आता है और उत्तर तथा दक्षिण में अनेक भागों में उपलब्ध होता है। आयुर्वेद की दृष्टि से गोमेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रत्न है। प्रयोग विधि तो वही है कि इसकी पिष्टि या भस्म बनाकर रोगानुसार अनुपान के साथ देना। यह अनेक रोगों में लाभकर सिद्ध होता है। यह कफ और पित्त रोगों को नष्ट करता है; पाण्डु रोग में हितकर है। उचित योगों में मिलाकर देने से क्षयरोग भी समाप्त हो जाता है। यह चर्म रोगों में भी हितकर है—इससे दाद, खुजली, एक्जिमा ठीक हो जाते हैं। यदि शुद्ध गोमेद मिल जाय तो उससे चिकित्सा करने में आश्चर्यजनक लाभ होता है; चमक, तोल और आकार से इसकी शुद्धता की परीक्षा की जाती है। किन्तु सामान्य कुशल पारखी भी इसकी निर्दोषता और शुद्धता को ठीक रूप में निश्चित नहीं कर सकता। इस विषय में

किसी अच्छे जौहरी का परामर्श उपयोगी होता है। अकीक (या हकीक) भी गोमेद का या तो उपरत्न है या उसी का नामान्तर है। अकीक भस्म आयुर्वेदिक कारखानों में तैयार की जाती है जो हृदय और मस्तिष्क के रोगों में दी जाती है बलवर्द्धक दीपक एवं पाचक होती है तथा उदर रोगों में भी लाभ पहुंचाती है।

लहसुनियाँ (वैदूर्य)

यह पर्वतों पर तैयार होने वाला रत्न है और नदियों द्वारा तोड़कर लाया जाता है तथा खेतों या नदी की रेत में पाया जाता है। वर्मा और लंका में तो यह मिलता ही है। दक्षिण भारत की नदियों के किनारे विशेष कर केरल में पाया जाता है। मध्य प्रदेश में इसकी खाने पाई जाती हैं जिनसे उत्तम कोटि का लहसुनिया मिल जाता है। इसका भी आयुर्वेद में प्रयोग सामान्य विधि-भस्म और पिष्टि के रूप में होता है। इसके प्रयोग से वायुशूल नष्ट होता है, कृमिरोग एवं बवासीर में लाभ होता है, कफ ज्वर शान्त होता है; मुख रोगों में इससे लाभ होता है और इसके प्रयोग से मुख की दुर्गन्ध दूर होती है।

ऊपर प्रमुख रत्नों के चिकित्सा शास्त्र में उपयोग पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया। रत्नों की संख्या बहुत अधिक है; कुछ रत्न हैं कुछ उपरत्न। उक्त रत्नों के भी उपरत्न पाये जाते हैं जिनसे मूलरत्न के समान ही या उससे कुछ घटकर लाभ होता है। उदाहरण के लिये हीरे का उपरत्न स्फटिक है। उसके धारण करने और चिकित्सा में प्रयोग करने से भी हीरा के समान ही उससे कुछ घटकर शक्ति प्राप्त होती है। यह हिमालय की खदानों से मिलता है; रति क्रिया में प्रबलता प्रदान करता है तथा ज्योतिष दृष्टि से इसके धारण करने की परिपाटी है। इसके माला भी पहने जाते हैं तथा उनसे जप भी किया जाता है। स्फटिक के शिवलिंग भी बनते हैं जिनकी पूजा की जाती है।

परिशिष्ट २

नायिकाओं के अलङ्कार

नागर सर्वस्व के १३वें परिच्छेद में भाव विवेचन किया गया है। यह विषय सीधे कामशास्त्र से सम्बन्ध नहीं रखता; यह काव्य शास्त्र और नाट्य शास्त्र का विषय है। फिर भी अप्रत्यक्ष रूप में भावनाओं का कामशास्त्र से सम्बन्ध है अवश्य क्योंकि भावनाओं का प्रभाव बाह्य चेष्टाओं पर पड़ता ही है। अतः भाव विवेचन कामशास्त्र से किसी रूप में संबद्ध हो जाता है।

चेष्टाओं को प्रभावित करने वाले भाव दो प्रकार के होते हैं—एक तो उत्पादक या प्रेरकभाव, और दूसरे अभिव्यञ्जक भाव। प्रथम प्रकार के नायिका के भावों में आकर्षकता का तत्त्व प्रधान होता है जिन्हें देखकर पुरुषवर्ग रीझता है और आत्म समर्पण के लिये विवश हो जाता है। ये चेष्टायें उसी प्रकार पुरुष वर्ग को प्रभावित करती हैं जिस प्रकार नायिकाओं के वस्त्राभरण नायिकाओं की सौन्दर्य बृद्धि में कारण बनकर पुरुषजाति को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस प्रकार आकर्षकता में कारण होने से प्रथम प्रकार की चेष्टाओं को भी नायिकाओं के अलंकार की संज्ञा दी जाती है। दूसरे प्रकार की चेष्टाओं में दृष्टि इस बात पर रहती है कि अमुक व्यक्ति किस भाव से भरा हुआ है। उदाहरण के लिये बिहारी का निम्न लिखित दोहा लीजिये—

ढीठ्यो दै बोलति वचन प्रौढ विलास अप्रौढ।
त्यों त्यों चलत न पिय नैन छकये छकी नवोढ॥

नायिका नवोढा है; अभी उसकी उमर अधिक नहीं है; उसे शराब पिला दी गई है जिसके नशे में वह कुछ ऐसी ढिठाई भरी बातें कर रही है जो प्रौढाओं के विलास को प्रकट करती हैं। उन बातों ने प्रियतम के अन्दर नशा भर दिया है और उसके नेत्र नायिका के मुख की ओर से हट नहीं रहे हैं। यहाँ पर नायिका नशा के प्रभाव से अनाप सनाप बोल रही है। नायिका प्रेम से प्रभावित नहीं है फिर भी उसकी बातों ने उसकी सुन्दरता बढ़ा दी है। अतः नायक उस पर रीझ गया है और टकटकी पूरकर नायिका को देख रहा है। नायिका की बातों से प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती किन्तु उनसे उसका सौन्दर्य बढ़ गया है। अतः नायिका का उस प्रकार की बातें करना उसका अलंकार है जबकि नायक उन बातों और सौन्दर्य से इतना रीझ गया है कि उस ओर से उसकी दृष्टि हटती नहीं। नायक का इस प्रकार घूर कर देखना उसके आकर्षित होने और प्रेम से भर जाने को अभिव्यक्त करता है। इस

प्रकार नायक की चेष्टा उसके भाव को अभिव्यक्त करने के कारण अनुभाव के अन्तर्गत आती है।

शास्त्रकारों ने दूसरे प्रकार की चेष्टायें ४९ मानी हैं—३३ संचारी, ८ सात्त्विक और ८ स्थायी भाव। यह संख्या परिनिष्ठित है और इसको मुनि वचन मान कर श्रद्धा के साथ लगभग सभी आचार्य स्वीकार कते हैं। किन्तु इनका सम्बन्ध केवल प्रेमपरक भावों से ही नहीं अन्य अनेक कोमल और कठोर भावों से भी है। अतः उन पर विचार करना कामशास्त्र का क्षेत्र नहीं है। इसके प्रतिकूल प्रथम प्रकार की चेष्टायें एकमात्र शृङ्गाररस में ही आती हैं; अतः कामशास्त्र से संबद्ध कही जा सकती हैं। इनकी संख्या भी घटती बढ़ती रही है। सामान्यतः विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित अलंकारों की २८ संख्या साहित्य समाज में परिनिष्ठित रूप में स्वीकार की जाती है। (इस विषय में देखिये—समीक्षात्मक वस्तुपरिचय में १३वें परिच्छेद का परिचय) विषय की समग्रता के लिये यहाँ पर उन अलंकारों का परिचय दिया जा रहा है जिनका विश्वनाथ ने अपने विवेचन में समावेश किया है; पद्मश्री ने अपनी रचना में स्थान नहीं दिया है।

विश्वनाथ ने भाव को पृथक् अंगज अलंकार के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु पद्मश्री ने भाव को सामान्य तत्त्व मानकर सभी अलंकारों को भाव का ही भेद माना है और दो अंगज अलंकारों हाव और हेला को भी सामान्य अलंकारों में शामिल किया है। जब शैशव समाप्ति की ओर अग्रसर होता है और यौवन अपना पैर जमाने लगता है; नायिका का अंग भी परिवर्तन की सूचना देने लगते हैं उस समय शैशव के निर्विकार चित्त में काम का कुछ उद्‌भेद होता है जो उत्कण्ठा, जिज्ञासा और संकोच तक सीमित रहता है। इस अवस्था को आचार्यों ने भाव की संज्ञा दी है। उदाहरण—

दृष्टिः सालसतां विभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा।
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि॥
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा।
बालानूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः॥(दशरुपककम्)

उसकी दृष्टि में आलस्य आ गया है : अब वह बचपन की क्रीडाओं में विशेष मन नहीं लगाती और न उनका आदर करती है। जब स्वयं से बड़ी सहेलियाँ संभोग की बाते करने लगती हैं तब वह उस ओर को अपने कान दौड़ाती है। अब वह पुरुषों की गोद में उस प्रकार निश्शङ्क होकर नहीं बैठती है जैसे पहले बैठा करती थी। अब वह वाला शैशव और यौवन के मेल से धीरे धीरे घिरतीचली जा रही है।

अयत्नज ७ अलंकार

नायिका के सौन्दर्य को बढाने वाले कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो आयु के साथ स्वतः उद्‌भूत होते हैं, जिनके लिये नायिका को कोई यत्न नहीं करना पड़ता। ये अयत्नज अलंकार होते

हैं आचार्यों ने इनकी संख्या ७ निश्चित की है। वस्तुतः ये स्वाभाविक गुण है जो समयानुसार अवस्था के साथ स्वतः उद्भूत एवं विकसित होते हैं।

(१) **शोभा**—यौवनागम के साथ शरीर में चमक आ जाती है, लावण्य से सारा शरीर ओतप्रोत हो जाता है, स्तन नितम्ब इत्यादि विभिन्न शरीराङ्गों में निखार आ जाता है; यह चेहरे की चमक इत्यादि विशेषतायें सौन्दर्य को बढ़ाने में अलंकार का स्थान ले लेती हैं। इन सबको समग्ररूप में शोभा कहा जाता है। उदाहरण—

असंम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यातिरिस्त्रं वाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे॥

(यह पद्य कुमार सम्भव से लिया गया है। कालिदास ने पार्वती के यौवनागम का वर्णन इन शब्दों में किया है—'पार्वती ने बचपन के बाद की यौवन की अवस्था प्राप्त की जो यौवन शरीर यष्टि का सजाने वाला था किन्तु उसके लिये सजावट की सामग्री अपेक्षित नहीं थी, वह नशा पैदा करने वाला था किन्तु उसका नाम शराब नहीं था, वह कामदेव का एक अस्त्र था किन्तु कामदेव के अन्य अस्त्रों के प्रतिकूल वह पुष्पों का अस्त्र नहीं था।)

एक दूसरा उदाहरण—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥

(यह पद्य अभिज्ञान शाकुन्तल से लिया गया है। कालिदास शकुन्तला की यौवनागमजन्य शोभा का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—शकुन्तला एक ऐसा पुष्प है जो अभी तक सूंघा नहीं गया; यह एक ऐसा किसलय (नवीन पल्लव) है जिसे नाखूनों से तोड़ा नहीं गया; यह एक ऐसा रत्न है जिसे अभी तक छेदा नहीं गया; यह एक ऐसी मदिरा है जिसके रस का अभी तक स्वाद नहीं लिया गया। उसका रूप पाप और दोष से रहित है जो अखण्ड पुण्यों के फल के समान है; पता नहीं परमात्मा किस सौभाग्य शाली को इसके भोग करने वाले के रूप मे प्रस्तुत करेगा।)

(२) **कान्ति**—शोभा तो यौवन में शरीर के सौन्दर्य विकास को कहते हैं। जब उसी शोभा में काम विकार का सञ्चार हो जाता है तब वह शोभा अधिक बढ़ जाती है। तब उस शोभा को कान्ति की संज्ञा प्राप्त होती है। कामवासना का सञ्चार होने से शरीरिक चेष्टाओं का रंग ढंग कुछ बदल जाता है। काम वासना का बाह्य सौन्दर्य पर भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण—

अरते टरत न वर परे दई मरक मनुमैन।
होड़ा होड़ी बढ़ि चले चितु चतुराई नैन॥

(यह बिहारी का दोहा है—नायिका का चित्त, उसकी चतुरता और उसके नेत्र मानों एक दूसरे से होड़ लगाकर बढ़ते चले जा रहे हैं कि देखें बढ़ने में कौन पहला नम्बर ले लेता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि कामदेव ने उनकी पीठ थपथपा दी है कि डटे रहो; बढ़ते जाओ। कामदेव के प्रोत्साहन दे देने से वे डट गये हैं और अड़ से हट नहीं रहे हैं।)

दूसरा उदाहरण—

नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थिपाणिद्वयम्,
वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः।
कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधाष्यन्दिनी,
स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटाः॥

(नायिका के नेत्रों में ऐसी सुन्दरता और चञ्चलता आ गई है कि वे खञ्जन पक्षी के सौन्दर्य को भी दबाने वाले हैं। उसके दोनों हाथों की लाली कमल की कान्ति से होड़ ले रही है। उसके स्तन इतने अधिक उन्नति (उठाव) को प्राप्त हो गये हैं कि धोखा हो जाता है कि यह हाथी के मस्तक का विस्तार तो नहीं है। उसके शरीर की कान्ति सोने और चम्पा के फूल का प्रतिनिधित्व करती है; उसकी सौन्दर्य पूर्ण टेढी चित्तवन से नेत्र की जो किरणें निकलती हैं वे ऐसी मालूम पड़ती हैं मानो खिले हुये नीलकमलों की माला निकलती चली आ रही हो; मानो कटाक्षों की वह शोभा नीलकमलों के सगी बहन हो।)

(३) **दीप्ति**—जब कान्ति ही अत्यधिक बढ़ जाती है और कामोपभोग की प्रवृत्ति सीमातीत हो जाती है तब उसे दीप्ति अलंकार कहा जाता है। उदाहरण—

अपने अंग के जानिकै यौवन नृपति प्रवीण।
स्तन मन नैन नितम्ब को बड़ौ इतजाफा कीन॥

(यह बिहारी का दोहा है। यौवन एक निपुण राजा है जिसका राज्य स्त्री के शरीर परहै। जिस प्रकार एक कुशल राजा सेना इत्यादि अपने अंगों को खूब बढ़ा देता है उसी प्रकार यौवन रूपी राजा ने स्त्री के स्तन, मन, नेत्र और नितम्बों को अपने अंग का समझकर इन सबको बहुत अधिक बढ़ा दिया।)

दूसरा उदाहरण—

जोग जुगति सिखये सवै मनौ महामुनिमैन।
चाहत पिय अद्वैतता कानन सेवत नैन॥

(यह भी बिहारी का दोहा है। योग साधना के इच्छुक किसी व्यक्ति को कोई महामुनि योग साधना की सारी क्रियायें सिखा देता है फिर वह शिक्षित व्यक्ति कानन (जंगल) का सेवन करते हुये अर्थात् जंगल में रहकर योग साधना कर प्रिय परमात्मा के साथ एक रूप हो जाना चाहता है। यहाँ पर सुन्दरी के नेत्र शिष्य हैं जिन्हें महामुनि कामदेव ने योग साधना (मिलने की क्रिया) अर्थात् आँखों से आँखें मिलाने की सारी विधि सिखा दी है। अब सुन्दरी के साधक नेत्र कानन (कानों) तक फैलकर अपने प्रियतम के साथ एक रूप हो जाना चाहते

हैं। सारांश यह है कि सुन्दरी की कामवासना अत्यधिक बढ़ गई है और अपने चाहे प्रेमी के साथ आँखें मिलाने में उसके नेत्र इतने चंचल और विशाल हो जाते हैं कि वे फैलकर कानों तक पहुंच जाते हैं और इस प्रकार प्रियतम को प्रभावित कर वे उससे अद्वैत (एकरूप) हो जाना चाहते हैं।

(४) **माधुर्य**—सभी अवस्थाओं में रमणीय रहना माधुर्य कहलाता है। उदाहरण—

सरसिजमनुबिद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।

(यह पद्य अभिज्ञान शाकुन्तल से लिया गया है। शकुन्तला वनवासिनी है, उसके पास पहनने के लिये शहराती वस्त्र नहीं हैं; वनवास की प्रथा के अनुसार उसने वल्कल (पेड़ों की छाल के) वस्त्र पहन रक्खे हैं; फिर भी सुन्दर मालूम पड़ती है। उसकी वल्कल वस्त्रों में सुन्दरता देखकर दुष्यन्त विचार कर रहे हैं—सिवार में फंसा हुआ भी कमल सुन्दर ही मालूम पड़ता है; चन्द्रमा का मलिन धब्बा भी उसकी सुन्दरता को ही बढ़ाता है। यह दुबले पतले शरीर वाली शकुन्तला वल्कलों में भी अधिक सुन्दर प्रतीत हो रही है। वस्तुतः मधुर आकृतियों के लिये ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उसे आभूषित नहीं करती।)

भरत ने माधुर्य की यह परिभाषा दी है—सभी प्रकार की विशिष्ट अवस्थाओं में चाहे वे ललित हों चाहे क्रोधपरक प्रदीप्त हों 'अनुल्वण' रहना माधुर्य कहलाता है। दशरूपक मे यही परीभाषा की गई है कि अनुल्वणत्व ही माधुर्य कहलाता है। अनुल्वणत्व का अर्थ है अत्यधिक न होना, सीमा का अतिक्रमण न करना, स्पष्ट न होना, नियमित व्यवहार में सीमित रहना। कुछ स्त्रियों का स्वभाव होता है—बढ़ बढ़ कर बातें मारना, हर बात में अपनी योग्यता दिखलाना, हर वहस में पड़ना और हर एक को दबाने की चेष्टा करना। इस प्रकार का स्वभाव सौन्दर्य को बिगाड़ देता है और ऐसे स्वभाव वाली स्त्री से लोग धीरे धीरे द्वेष करने लगते हैं। जो स्त्रियाँ मर्यादा में रहती हैं, सभी व्यवहारों में सभी विवादों में दूसरों का खयाल करके चलती हैं, समझौता करने का स्वभाव बना लेती हैं वे सबकी प्यारी हो जाती हैं। मधुर व्यवहार का आशय ही यह है कि सभी को सम्मान देकर सभी का प्यार प्राप्त कर लेना। निस्सन्देह शारीरिक सौन्दर्य भी बिना प्रयत्न के स्वतः प्राप्त होता है; साथ ही अच्छे व्यवहार की आदत भी बिना प्रयत्न के भाग्य से ही मिलती है जो सभी का प्रेम प्रदान करने में कारण बन जाती है। आशय यह है कि मधुरता बाह्य शारीरिक सौन्दर्य में तो होती ही है आन्तरिक स्वभावगत मधुरता कम आकर्षक नहीं होती।

(५) **प्रगल्मता**—नायिकाओं का भोलापन तो आकर्षित करता ही है उनकी प्रगल्मता भी कम मनमोहक नहीं होती। वह प्रगल्मता भी बाह्य लक्षण नहीं आन्तरिक मन का एक

प्रतिबिम्ब मात्र है और वह बिना प्रयत्न के स्वतः उद्भूत हो जाती है और नायिकाओं को अलंकृत करती है। उदाहरण—

समाश्लिष्टाः समाश्लेषैः चुम्बिताश्चुम्बनैरपि।
दंष्टाश्च दंशनैः कान्तं दासीकुर्वन्ति योषितः॥

(जो स्त्रियाँ आलिंगन करने पर बढ़ चढ़ कर आलिंगन करने लगती हैं जब चुम्बन किया जाता है तब स्वयं चुम्बनों द्वारा भागीदारी करती हैं। जब उन्हें दाँतों से काटा जाता है तब वे उस क्रिया में भी पीछे नहीं रहतीं। इस प्रकार की प्रगल्भता से स्त्रियाँ अपने प्रियतमों को दास बना लेती हैं।)

भरत ने नाट्यशास्त्र में परिभाषा इस प्रकार दी है—प्रयोग में अर्थात् कामकला में निर्भीक एवं निस्सङ्कोच व्यवहार करना प्रगल्भता कहलाता है। निस्सन्देह मधुरता और प्रगल्भता का अपना अपना महत्त्व है जिसके लिये अवसर का औचित्य अत्यन्त महत्त्व रखता है। माघ कवि का कथन है—

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः।
पराक्रमः परिभवे प्रागल्भ्यम् सुरतेष्विव॥

(अन्य अवसरों पर पुरुष का आभूषण सहनशीलता है और स्त्री का आभूषण लज्जा है। किन्तु पराभव और अपमान के अवसर पर पुरुष का आभूषण पराक्रम है जिस प्रकार सम्भोग काल में स्त्री का आभूषण प्रगल्भता (बढ़ चढ़ कर निर्लज्ज होकर संभोग में सहयोग देना) है।

(६) **औदार्य**—नायिकाओं का रूठना और इठलाना ही आकर्षक नहीं होता उनकी सरलता और उदारता भी जादू का प्रभाव उत्पन्न करने वाली होती है। यह भी कुलवती ललनाओं का एक आभूषण ही है। इस अलंकार को औदार्य कहते हैं। उदाहरण—

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते।
मानं धत्स्व धृतिं वधान ऋजुतां दूरीकुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना,
नीचैः शंस हृदि स्थितोहि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति।

(यह पद्य अमरुशतक से लिया गया है। नायिका कभी रूठती नहीं; वह निरन्तर प्रियतम के अनुकूल ही बनी रहती है। तब उसे एक सहेली समझाती है—'अरी भोली भोली; क्या इस भोलेपन में ही सारा समय बिता देने की ठान रखी है? कभी कभी रूठ जाया करो; धैर्य धारण कर देर तक रूठी रहो। हे प्यारी; इस अपनी सरलता को दूर कर दो।' सखी द्वारा ऐसा समझाने पर वह भयभीत मुख से उससे उत्तर में कहने लगी—'देखो धीरे बोलो—मेरे हृदय में विराजमान मेरा प्राण प्यारा निस्सन्देह तुम्हारी बात सुन लेगा।'

केवल सामान्य अवस्था में ही नहीं पति के अपराध करने पर भी उदारता के दर्शन होते हैं। साहित्य दर्पण का उदाहरण इसी स्थिति को प्रकट करता है—

न ब्रूते परुषां गिरं वितनुते न भ्रूयुगं भंगुरम्।
नोत्तंसं क्षिपति क्षितौ भ्रवणतः सा मे स्फुटे प्यागसि।
कान्ता गर्भगृहे गवाक्षविवरव्यापारिताक्ष्या बहिः
सख्या वक्त्रमभिप्रयच्छति परं पर्यश्रुणीलोचने॥

(नायक ने अपराध किया है; उस समय नायिका की जो चेष्टायें हुई हैं उनका वह अपने मित्र या पत्नी की सखी से वर्णन कर रहा है—'मेरे अपराध के प्रकट हो जाने पर भी न तो वह कठोर वचन बोलती है, न अपनी दोनों भौंहों को टेढ़ा करती है न भौंहों को तोड़कर क्रोध से मेरी ओर देखती है; न वह अपने जेवर उतार कर पृथ्वी पर फेंकने लगती है। उसकी एक सहेली को मेरे अपराध और उसके क्रोध का पता था। अतः वह बाहर देखने आ गई और गर्भगृह के झरोखे की सूराखों की ओर निगाह लगाये खड़ी थी। मेरी प्रियतमा ने केवल इतना किया कि अपनी आँसुओं से भरी आँखों से अपनी सखी के मुख की ओर देखा।')

(७) **धृति**—नायिकाओं की चञ्चलता, सटपटाना इत्यादि चेष्टायें तो आनन्ददायक होती ही हैं उनकी दृढ़ता और स्थिरता भी आनन्ददायक होती है। यह धृति नामक अलंकार कहा जाता है। भरत ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

चापलेनानुपहता सर्वार्थेष्वविकत्थना।
स्वाभाविकी चित्रवृत्तिर्धैर्यमित्यभिधीयते॥

(ऐसी चित्तवृत्ति को धैर्य कहा जाता है जिसका उपघात चञ्चलता के द्वारा न किया गया हो, जो प्रत्येक विषय में डींग हाँकने वाली न हो तथा सर्वथा स्वाभाविक हो।) उदाहरण—

ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी,
दहतु मदनः किंवा मृत्योः परेण विधास्यति।
मम तु दयितः श्लाध्यस्तातो जनन्यमलान्वया,
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम्॥

(यह पद्य मालतीमाधव से लिया गया है। मालती को माधव से मिलने देने में राजा की ओर से विघ्न आ रहा है। मालती प्राणपण से माधव को चाहती है। यह वियोग व्यथा से पीड़ित होकर कहती है—प्रत्येक रात में अखण्ड कलाओं वाला चन्द्रमा आकाश में जला करे, कामदेव मुझे जला डाले; वह मृत्यु के आगे और कर ही क्या लेगा? मुझे तो मेरा प्रतिष्ठित एवं प्रशंसित पिता प्यारा है, मेरी माता शुद्धवंश की है, हमारा वंश मलिनता रहित है; मुझे इस सबके मुकाबले में न तो यह व्यक्ति (माधव) प्यारा है और न अपना जीवन प्यारा है।)

यह धैर्य विस्तृत क्षेत्र में नहीं सामान्य प्रेम व्यवहार में भी देखा जाता है। बिहारी का निम्नलिखित दोहा लीजिये—

प्रियतम दृग मिहिचत प्रिया पाणि परस सुखु पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नैंकु न होति लखाइ॥

(प्रियतम ने पीछे से आकर धोखे से प्रियतमा की आँखें हाथों से भींच ली हैं। वह जान भी गई है और उसने पहिंचान भी लिया है। उसे प्रियतम के हाथों के स्पर्श का परम सुख प्राप्त हो रहा है; अतः वह जरा भी प्रकट नहीं होने देती कि वह जान गई है और न वह बचने की चेष्टा कर रही है।)

चार यत्नज अलंकार

जैसा कि बतलाया जा चुका है पद्मश्री ने १८ में केवल चौदह यत्नज अलंकारों का परिचय दिया है। शेष चार यत्नज अलंकार बाद की कल्पना हैं; उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दिया जा रहा है—

(१) **कुतूहल**—किसी रमणीय वस्तु के देखने के लिये जो उत्कण्ठा होती है उसे कुतूहल कहा जाता है। किसी सुन्दरी का सीमातीत कुतूहल पुरुषों में उसके प्रति प्रेम जागृत करने में कारण होता है। उदाहरण—

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥

(यह पद्य रघुवंश से लिया गया है। इन्दुमती के स्वयंवर में विजय प्राप्त कर जब अज ने प्रथम वार नगर में प्रवेश किया उस समय उनको देखने की उत्कण्ठा में नगर की स्त्रियों में जो हड़बड़ी मच गई उसी का वर्णन करते हुये कालिदास कह रहे हैं—'कोई सुन्दरी किसी शृङ्गार करने वाली से पैरों में महावर लगवा रही थी। जैसे ही उसने सुना कि अज की सवारी आ रही है, देखने की उत्कण्ठा में पैर झिटक कर एकदम दौड़ पड़ी; उसे अपनी वैयात्य पूर्ण चाल का भी ध्यान नहीं रहा। वह झरोखे तक दौड़ी हुई गई और गीले महावर के चिह्न झरोखे तक बनते चले गये।')

(२) **हसित**—प्रेमी को दिखलाकर प्रसन्नता सूचक हंसी भी नायिकाओं के आकर्षण को बढ़ाती है। उदाहरण—

मुहुं धोवति एंडी घिसति हंसति अनवति तीर।
धंसति न इन्दीवरनयनि कालिन्दी के नीर॥

(कोई रमणी यमुना के स्नान करने आई है; प्रेमी कहीं पड़ोस में ही है। वह मुंह धोने एंडी रगड़ने इत्यादि कार्यों का बहाना करके स्नान करने जल में नहीं घुस रही है और वार वार प्रियतम को देख और दिखाकर प्रेमजन्य प्रसन्नता की हंसी हंस देती है।

(३) **चकित**—जब प्रियतम अकस्मात् कहीं से आ जाय तब भय और सम्भ्रम के कारण नायिका में हड़बड़ी उत्पन्न हो जाय उसे चकित की संज्ञा दी जाती है। उदाहरण—

हेरि हिंडोले गगन ते परी परी सी टूटि।
धाइधरी प्रिय बीच ही करी खरी रस लूटि॥

(नायिका हिंडोला झूल रही थी, नायक अकस्मात् आ गया। नायिका हड़बड़ा कर हिंडोले से कूद पड़ी। नायक ने दौड़ कर उसे गोद में ले लिया और भली भाँति आनन्द रस को लूटने लगा।)

(४) **केलि**—प्रियतम के साथ हंसी मजाक करना भी नायिकाओं का एक अलंकार है। उदाहरण—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौहनु हंसै देन कहे नटि जाय॥

(राधा ने बातों के रस के लालच में कृष्ण की बंशी चुरा कर रख ली। जब कृष्ण मांगने आये तब कसम खा जाती है कि मेरे पास नहीं है। जब कृष्ण निराश होकर चल देते हैं तब भौहों में हंस देती है; तब कृष्ण लौट कर पुनः माँगते हैं तब इन्कार कर देती है कि मेरे पास है ही नहीं तो दे कहाँ से?)

इन अलंकारों में कतिपय पुरुषों में भी होते हैं। इनमें कतिपय ऐसे भी हैं जो नायिका की भावना को भी प्रकट करते हैं. नायिका की भावना भी पुरुष में प्रेम जागृत करती है अतः वह भी अलंकार कहे जाने का अधिकारी है।

परिशिष्ट ३

गर्भज्ञान एवं पुत्रजन्म

रतिक्रिया का सबसे बड़ा फल सन्तानोत्पत्ति और विशेष रूप से पुत्रप्राप्ति माना जाता है। किन्तु कामशास्त्रकारों ने अधिकतर रतिक्रिया के विवेचन तक ही स्वयं को सीमित रखा है; गर्भज्ञान और पुत्रोत्पत्ति का विषय अपने ग्रन्थों में प्रायः नहीं उठाया है। किन्तु पद्मश्री ने प्रथम अध्याय में भी कामशास्त्र के महत्त्व कथन में पुत्रोत्पत्ति रूप फल का निर्देश किया है और अच्छे पुत्रोत्पादन के लिये एक पूरा अध्याय रखा है। वस्तुतः पुत्रोत्पत्ति पर विचार करना कामशास्त्र के क्षेत्र के बाहर आयुर्वेद का विषय है; किन्तु कामशास्त्र के निकट अवश्य है। पद्मश्री ने इस विषय में दो एक औषधियों का निर्देश किया अवश्य है किन्तु उनका विशेष बल तारादेवी के पूजन पर है। उनका विश्वास है कि बौद्धों की देवी तारा देवी की कृपा अच्छे पुत्र को प्राप्त करने के लिये पर्याप्त है। किन्तु यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और चरक इत्यादि आयुर्वेदिक ग्रन्थों में इसका विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। भैषज्य शास्त्र के वर्तमान अनुसन्धाताओं ने इस विषय को प्रमुखता दी है जिससे कई विषयों में प्राचीन मान्यताओं का विरोध हुआ है अथवा यों कहिये कि वर्तमान वैज्ञानिक खोजों ने जिन सत्यों का उद्घाटन किया है उनसे प्राचीन कुछ मान्यतायें असत्य सिद्ध हुई हैं। विषय की महत्ता और पद्मश्री के विवेचन के प्रति न्याय की दृष्टि से इस विषय में कुछ विस्तार के साथ विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है।

जननाङ्गों का परिचय

स्त्रियों के प्रजनन अंग

स्त्रियों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रजनन अंग गर्भाशय (Womb या uterus) है। यह गुलाबी रंग की मांस की एक थैली है जो उदर गर्त के निचले भाग पेडू के पास सम्भोगाङ्ग योनि से जुड़ी हुई है। इसका आन्तरिक फैलाव बहुत कम है; कहने को यह एक तंग थैली है किन्तु इसमें इतनी अधिक लचक एवं प्रसरण शीलता है इसमें एक पूरा बालक और कभी कभी एक से अधिक बालक ९ महीने आराम से रह लेते हैं।

स्त्रियों के प्रजनन एवं सम्भोगाङ्ग के अंग पुरुषों के इन अंगों से बहुत कुछ मेल खाते हैं। इनमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि पुरुषों के ये अंग बाहर होते हैं और दृष्टिगोचर होते रहते हैं जबकि स्त्रियों के ये अंग शरीर के अन्दर छिपे रहते हैं। स्त्री के प्रजनन अंगों को

तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) गर्भाशय (२) ओवरी (ovaries) और (३) योनि—जिस प्रकार पुरुषों के दो अण्डकोष्ठ होते हैं उसी प्रकार स्त्रियों की दो ओवरी होती हैं। ओवरी को स्त्रियों के अण्डकोष्ठ की संज्ञा दी जा सकती है। यह कितना आश्चर्यजनक है कि पुरुष के अण्डकोष्ठ प्रजननोपयोगी बीज का निर्माण करते हैं जबकि ओवरी में उस बीज को बढ़ाने और नरनारीरूप में परिणत करने के उपयोगी तत्त्वों का निर्माण होता है। इससे भी बड़ी आश्चर्य की बात यह है कि स्त्री पुरुष दोनों भावना में वहकर अनेक कष्ट सहकर भी संयोग करने में स्वयं को कृतार्थ मानते हैं। निस्सन्देह प्रकृति के नियन्ता की यह लीला आश्चर्य जनक है। ओवरी में जो तत्त्व तैयार होता है उसकी आकृति गोल 'O' जैसी अण्डाकार होती है। इसीलिये इस अंग को ओवरी की संज्ञा दी गई है। ये दो ओवरी गर्भाशय के दोनों ओर होती हैं। ओवरी में तैयार होने वाले उपकरण को खाद और पानी का स्थानीय माना जा सकता है। जिस प्रकार बीज के उगाने और पौधा रूप में परिणत करने में खाद और पानी की अपेक्षा होती है उसी प्रकार पुरुष के बीज को सुरक्षित रखने और बढ़ाने में अण्डों का योग होता है जिनका निर्माण स्त्रियों की ओवरी में हुआ करता है। इन्हें पाश्चात्त्य भाषा में ओवा (ova) कहा जाता है; भारतीय भाषा में इन्हें 'डिम्ब' की संज्ञा दी जाती है जिसका पर्यायवाची अण्डाणु भी हो सकता है। ओवरी के लिये भारतीय शब्द है डिम्बकोश। इसे यह नाम इसलिये दिया जाता है क्योंकि यह डिम्बों का खजाना है। इसमें डिम्ब अपुष्ट रूप में भरे रहते हैं और समयानुसार पुष्ट होकर गर्भाशय में जाकर गर्भाधान में तथा गर्भ पोषण में कारण बनते हैं। दोनों डिम्ब कोशों से दो ट्यूब निकलते हैं जो गर्भाशय में खुलते हैं। गर्भाशय में तीन सूराख होते हैं दो ऊपर की ओर और एक नीचे की ओर। ऊपर के सूराखों मे दोनों ट्यूब जाकर मिलते हैं जिनका काम ओवरी में तैयार हुये गर्भोपयोगी ओवा (डिम्ब) को गर्भाशय में पहुंचाना है। इन ट्यूबों को फैलोपियन ट्यूब या डिम्बवाहनी नलिका की संज्ञा दी जाती है। (डिम्बों के गर्भोपयोगी बनने, गर्भाशय में पहुंचने और गर्भ धारण की प्रक्रिया में सहायक होने का विवरण यथास्थान आगले अनुच्छेदों में दिया जायेगा।)

प्रजनन का तीसरा अंग स्त्री की योनि है। यह प्रजननाङ्ग तो है ही संभोगाङ्ग भी है। यह वही मार्ग है जिसमें होकर पुरुष शुक्रकीट का निक्षेप करता है जो गर्भाधान में कारण होता है और इसी मार्ग से होकर बच्चा अवतीर्ण होता है। (योनि की बनावट इत्यादि का परिचय यथा स्थान अगले अनुच्छेदों (गर्भाधान प्रकरण में) में दिया जायेगा।)

पुरुष के जननाङ्ग—स्त्री जननाङ्गों के प्रतिकूल पुरुषजननाङ्ग आंशिक रूप में बाह्य हैं और साधारण व्यक्ति भी उन्हें खुली आँखों से देख सकता है। स्त्रीजननाङ्गों से पुरुषजननाङ्ग में एक दूसरा भेद यह है कि पुरुष का मुख्य प्रजननाङ्ग मिले जुले दो कार्य करता है—वह पेशाब भी बाहर निकालता है और स्त्री की योनि में शुक्राणु (spermatozoa) भी स्थापित

करता है। अतः पुरुष जननाङ्ग की बनावट और उसके क्रिया कलाप को ठीक रूप में समझने के लिये मूत्राङ्गों और उसकी क्रिया पद्धति को समझना भी आवश्यक है।

मूत्र और उसके अंग—हम जो भोजन करते हैं उसमें जल का भी पुष्कल अंश होता है। भोजन के साथ तो हम जल पीते ही हैं; भोज्य पदार्थों में भी जलीय अंश होता है और पृथक् भी जल पीते रहते हैं। समस्त भोज्य पदार्थ और जल एक थैली में एकत्र होता है जिसे आमाशय या जठर (stomach) की संज्ञा दी जाती है इसे आमाशय इसलिये कहा जाता है क्योंकि इसमें परिणामोन्मुख कच्चा तत्त्व एकत्र किया जाता है। पाच्यतत्त्व के आमाशय में पहुंचते ही उसमें पाचक रस मिल जाता है। (प्राचीन भारतीय परम्परा में जठराग्नि से पाचन का सिद्धान्त माना जाता था। आधुनिक वैज्ञानिक मान्यता यह है कि पेट में पाच्य तत्त्व के पहुंचते ही पेट की अनेक ग्रन्थियों एवं कोशिकाओं से उच्चकोटि के प्रोटीन तत्त्व (enzymes और coenzymes) स्वतः उद्भूत होकर उस पाच्य (भुक्त) तत्त्व में मिल जाते हैं जो भुक्त पदार्थों को पचाने का काम करते हैं। जठराग्नि से प्राचीन ऋषियों का क्या आशय था इसकी पूर्ण व्याख्या नहीं मिलती। किन्तु प्लीहा (spleen) और पित्ताशय (pancreas) इत्यादि की मान्यता इस बात को सिद्ध अवश्य करती है कि उन आचार्यों की दृष्टि में इस प्रकार के पाचक रसों की कल्पना अवश्य विद्यमान थी; भले ही वर्तमान वैज्ञानिक साधनों के अभाव में वे ग्रन्थियों से स्वतः उद्भूत पाचक रस तक न पहुंच सके हों। जिस रूप में उन ऋषियों ने शरीर रचना का विवेचन किया है और जितना अधिक वे वैज्ञानिक अनुसन्धानों के निकट तक पहुंचे थे उससे इतना तो प्रकट ही है कि वे प्रबुद्ध चिन्तक यह नहीं मान सकते थे कि पेट में कोई आग भरी है जो भोज्य द्रव्य को पचाया करती है। निस्सन्देह उन्हें किसी प्रकार के पाचक रस का ज्ञान अवश्य था जिसे वे पित्त नामक सामान्य अभिधान से अभिहित करते थे।

जो भोजन हम करते हैं ग्रन्थियों के पाचक रस से पच या पक जाता है क्योंकि इन पाचक रसों में क्षारीय तत्त्व अधिक होता है जो तेजाबों के जैसा किसी तत्त्व को गला देने वाला होता है। पचे हुये भोजन के तीन भाग हो जाते हैं—(१) शरीर पोषणोपयोगी तत्त्व जो पक्वाशय में चला जाता है और रक्तादि धातुओं का उत्पादक होता है; (२) उसका स्थूल मल जो आँतों के माध्यम से गुदा (anus) के मार्ग से बाहर निकल जाता है और (३) उसका जलीय मल वृक्क (kidney) में चला जाता है।

गुर्दे संख्या में दो होते हैं; इनका स्थान पेट के पिछले भाग में नीचे की ओर कमर के साथ होता है। एक गुर्दा जिगर के दाहिनी ओर और एक बाई ओर होता है। आमाशय भी बाई ओर होता है; उससे संबद्ध बायाँ गुर्दा कुछ ऊँचा होता है और जिगर की ओर वाला दाहिना गुर्दा कुछ नीचा होता है। इन गुर्दों में सूक्ष्म नालियाँ तथा छिद्र होते हैं। इनसे लगी हुई दो नालियाँ होती हैं। खून का गाढ़ा भाग जो इन गुर्दों में गिरता है उसका शोधन इन गुर्दों में हो जाता है। गुर्दों काम रक्त से मैलको हटा कर खून को शुद्ध करना है।

साधारण भाषा में हम कह सकते हैं कि गुर्दे खून को छानने की चालनी है जिनमें छनकर खून का मल भाग गुर्दे के छिद्रों एवं नालियों से टपक कर बड़ी नालियों में आ जाता है जिनका काम उस जलीय मल को मूत्राशय (bladder) तक पहुंचाना होता है। इस मल को मूत्र संज्ञा, दी जाती है। इसका संचय मूत्राशय में होता है। मूत्राशय अनेक तत्त्वों से बनी हुई एक लचकीली त्रिभुजाकार थैली है। जब यह खाली होती है तब इसमें सिकुड़ने पड़ जाती हैं। फिर जब गुर्दों से निकली हुई मूत्र नालियों से रिस रिस कर मूत्र एकत्र हो जाता है तब यह गोल हो जाती हैं और फिर जब पूरी तौर से भर जाती है तब यह अण्डाकार हो जाती है। मूत्राशय में तीन सूराख होते हैं दो ऊपर और एक नीचे। ऊपर के दोनों सूराख मूत्र नालियों के मुख कहे जा सकते। जब मूत्राशय मूत्र से भर जाता है तब उसमें स्वाभाविक दवाव बन जाता है। ऊपर की दोनों मूत्र नालियाँ मूत्राशय को मूत्र से भरने वाली होती हैं तथा मूत्राशय त्रिभुज (trigone) के नीचे कोण में जो सूराख होता है उससे एक प्रणाली निकलती है जिसे मूत्र प्रणाली (urethra) की संज्ञा दी जाती है। यह प्रणाली पुरुष लिंग का एक भाग बनाती है। मूत्राशय के मूत्र से भर जाने पर उसमें स्वाभाविक संकोचन से मूत्र उक्त प्रणाली से प्रवाहित होकर बाहर निकल जाता है।

जैसाकि बतलाया जा चुका है भुक्त पदार्थ को पचाने के लिये ग्रन्थियों से जो अनेक प्रकार के द्रव प्रवाहित होते हैं वे क्षार रूप होते हैं और उनकी प्रकृति तेजाब जैसी होती है। वे तेजाब विषैले होते हैं और पेशाब के साथ निकल जाते हैं। गुर्दों से मूत्र को लाने वाली नलियाँ कुछ तिरछी होकर मूत्राशय से लगभग पौन इंच की दूरी पर मूत्राशय की दीवाल के साथ साथ आती हैं। वे नालियाँ इस प्रकार बनी होती हैं कि मूत्राशय में निरन्तर मूत्र आता रहता है; किन्तु जब मूत्राशय पूर्ण रूप से भर जाता है तब मूत्र लौट कर दूसरी ओर नहीं जा सकता। क्योंकि ऐसी अवस्था में मूत्र का विषैला भाग रक्त में मिलकर तथा शरीर के विभिन्न अंगों में फैलकर शरीर को नष्ट कर सकता है। अतः प्रकृति ने मूत्र नालियों की रचना में ही निपुणता दिखलाकर शरीर को विनाश से बचाने का बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध कर रक्खा है। मूत्र के वे तत्त्व अन्दर ही लौटकर विनाशक प्रभाव दिखला सकते हैं; किन्तु जब मूत्र बाहर आ जाता है तब मानव ने उसके लाभकारी स्वरूप का भी अनुसन्धान कर लिया है। मूत्र चिकित्सा (urine therapy) के विषय में कहा जाता है कि उदरविकारों को ठीक करने के लिये इससे अच्छी चिकित्सा नहीं। गोमूत्र का तो चिकित्सा में प्रयोग किया ही जाता है; इसे धार्मिक लोग भी पञ्चगव्य के साथ या स्वतन्त्र रूप में पीते हैं; कुछ लोगों ने मानव मूत्र को और विशेष रूप से स्वयं अपने मूत्र को चिकित्सा का उपयोगी तत्त्व माना है। कहा जाता है मोरारजी देसाई के दीर्घ जीवन का रहस्य ही यह है कि उन्होंने मूत्र चिकित्सा को कस कर अपनाया है। यह प्रकृति का विचित्र रहस्य है कि जो मूत्र शरीर मेंही रुककर अनेक रोगों, कष्टों एवं शरीर के विनाश में कारण बनता वही बाहर निकलकर औषधि का रूप धारण कर लेता है और जीवन रक्षा में कारण बनता है।

पुरुषलिंग की रचना और कार्य पद्धति—जैसाकि बतलाया जा चुका है स्त्री जननेन्द्रियाँ पेट के निचले भाग में पेंडू पर या उससे संबद्ध भाग में छिपी रहती हैं; किन्तु इसके प्रतिकूल पुरुष जननेन्द्रिय लिंग आंशिक रूप में बाहर दिखलाई देता है और आंशिक रूप में उदर गर्त में छिपा रहता है। बाहर से हमें लिंग एकक अंग के रूप में दिकलाई देता है किन्तु यह सिलेण्डर रूप तीन दण्डिकाओं से बना है। दो दण्डिकायें रक्ताधार दण्डिकायें हैं और तीसरी दण्डिका मूत्राधार दण्डिका होती है। रक्ताधार दण्डिकायें ऊपर की ओर होती हैं। रक्ताधार दण्डिकायें घनी एवं लिंग के शरीर में साथ साथ चलती हुई एक में मिल जाती हैं। लिंग के तीन खण्ड होते हैं—एक तो अगला उभरा हुआ भाग, मध्य का दण्ड रूप भाग और तीसरा उदर गुहा में विलीन अदृश्य मूल स्थानीय भाग। बाहर हमें दिखलाई पड़ता है कि लिंग एक संघटित इकाई है तथा तीनों दण्डिकायें एक में गूंथी हुई अपृथक् प्रतीत होती हैं किन्तु उदर गुफा में वे तीनों अलग अलग हैं तथा तीनों के कार्य भी अलग अलग हैं। ये दण्डिकायें अन्दर की ओर ठोस होती हैं और सारी लिंग की शक्ति अन्दर फंसे हुये उक्त भाग में ही अन्तर्निहित रहती है। बाहर दिखलाई पड़ने वाला मध्यदण्ड ऐसे रेशों, तन्तुओं और कोशिकाओं से बने होते हैं जो स्पञ्ज जैसे खोखले लचकीले होने के कारण नीचे को झुकेरहते हैं। इसीलिये सामान्य स्थिति में शिश्न (लिंग) अशक्त निर्जीव जैसा लटकता रहता है। ऊपर की रक्ताधार दण्डिकाओं में तथा उसके इधर उधर बहुत सी छोटी छोटी खाली टंकियाँ भरी रहती हैं। जब पुरुष सहवास की इच्छा करता है तब मस्तिष्क की प्रेरणा से उन टंकियों में रक्त दौड़ जाता है; वे टंकियाँ रक्त से भर कर फूल जाती हैं जिससे शिश्न स्तब्ध कठोर स्थूल और लम्बा हो जाता है। उसमें दृढ़ता और मजबूती आ जाती है। सहवास के बाद वह रक्त लौट जाता है और टंकियाँ खाली हो जाती हैं तब शिश्न पुनः स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है।

शिश्न की तीसरी दण्डिका वही मूत्र प्रणाली है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह प्रणाली (uresthra) सबसे लम्बी मूत्राशय से शिश्नमुण्ड तक विस्तृत रहती है। यह तीन भागों में विभाजित की जा सकती है। मूत्राशय के नीचे की ओर के छिद्र से प्रारम्भ होकर इसका पहला भाग शिश्न बल्व पर्यन्त माना जाता है। यह भाग प्रोष्टेट ग्रन्थि के मध्य में दबा रहता है और रक्त वाहिनियों के सम्पर्क में आने पर इसका कुछ भाग थोड़ा सा फूल जाता है जिसे शिश्न बल्ब कहा जाता है। यह दण्डिका रक्ताधार दण्डिकाओं के नीचे उनसे पतली होती है। जहाँ मूत्राशय से इसका प्रारम्भ होता है वहाँ अर्धचन्द्र की आकृति में एक चीरा लगा होता है जिसका मध्य भाग पौरुष ग्रन्थि से कुछ भर जाता है तब इसकी आकृति 'Y' जैसी हो जाती है। शिश्न बल्ब से आगे शिश्नमुण्ड तंक मूत्र प्रणाली का मध्यभाग होता है। तीसरे अन्तिम भाग में यह मूत्र प्रणाली फूल जाती है जिसे शिश्नमुण्ड (glans penis) या सामान्य भाषा में सुपाड़ी कहा जाता है। इस सुपाड़ी में चीरानुमा एक दरार होती है जिससे मूत्र भी निकलता है और वीर्य का स्खलन भी इसी से होता है।

रक्ताधार दण्डिकायें इसी में समा जाती हैं और इसी में स्वयं को खो देती हैं। ये दण्डिकायें सफेद जाली में बंधी रहती हैं जिससे इनके पृथक् होने का पता नहीं चलता। इनके ऊपर ढीली ढाली पतली खिचने वाली खाल चढ़ी रहती है। जब शिश्न रक्त संचार से संयोग योग्य होकर कड़ा और कुछ बड़ा हो जाता है तब यह खाल दण्डिकायों के साथ तन जाती है तथा कार्य समाप्ति के बाद पुनः अपने स्वाभाविक रूप में आ जाती है।

शिश्न का कार्य मूत्र के प्रवाह के अतिरिक्त स्त्री योनि में शुक्रकीट (वीर्यबिन्दु) का स्थापित करना भी है। अतः यहाँ पर शुक्र के निर्माण पर कुछ प्रकाश डालना प्रासङ्गिक भी है और उपयोगी भी। शरीर की क्रियाविधि सञ्चालन के लिये जिन तत्त्वों की जिन अंगों में आवश्यकता होती है उनकी पूर्ति शरीर भर में विखरी ग्रन्थियों या गोलियों (glands) के माध्यम से होती है। प्रजनन के लिये शुक्र कीट की आवश्यकता होती है। अतः उसकी पूर्ति के लिये भी ग्रन्थियाँ आवश्यक हैं। ये दो ग्रन्थियाँ होती हैं जो अण्डकोष्ठ की थैली में बन्द रहती हैं। ये ग्रन्थियाँ या गोलियाँ शुक्र जनन की मशीन कही जा सकती हैं। प्रत्येक गोली में छोटी छोटी एवं मोटी नालियाँ भरी रहती हैं यदि इन एक हजार नालियों को जोड़ दिया जाय तो कहा जाता है कि इनसे १ किलोमीटर लम्बी नाली बन सकती है। ये नलिकायें एक ओर से बन्द होती हैं; इनका कार्य वीर्य बनाना है। इन नलिकाओं को मिलाकर मोटी लम्बी नलिकायें बन जाती हैं जो नलिकाओं में तैयार हुये वीर्य बिन्दुओं को लेकर उपाण्ड में खुलती हैं। उपाण्ड की समाप्ति पर एक वीर्य वाहिनी नलिका प्रारम्भ होती है जो उदर गुहा का भ्रमण करती हुई शुक्राशय तक पहुंच जाती है। शुक्राशय में शुक्र एकत्र हो जाता है जिससे एक पतली सी नली निकल कर प्रोष्टेट ग्रन्थि के अन्दर जाकर मूत्र प्रणली (यूरेथ्रा) से मिल जाती है और समय तथा आवश्यकता के अनुसार शुक्र शिश्न के एक अनुभाग यूरेथ्रा के माध्यम से शिश्न से निकलकर स्त्री की योनि में पहुंच जाता है तथा उसी का शुक्राणु स्त्री के गर्भाशय में डिम्ब से मिलकर गर्भाधान में कारण बनता है।

भारतीय परम्परा वीर्य की उत्पत्ति भोजन के सारतत्त्व से स्वीकार करती है। इस मान्यता के अनुसार भोजन के सारतत्त्व के रूप में ७ धातुओं का निर्माण होता है—भोजन से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदा, मेदा से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र—

रसोसृङ्मास मेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः।

रसाद्रक्तं ततो मासं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोस्थि ततोमज्जा मज्जातः शुक्रसंभवः॥

इस परम्परा के अनुसार लगभग एक मास में खाये हुए अन्न का वीर्य बनता है। पुष्टिकारक सेरों पदार्थों के खाने से वीर्य की कुछ बूंदे तैयार होती हैं। वस्तुतः इस परम्परा से नवीन मान्यता का कोई विरोध नहीं। वास्तविकता यह है कि नवीन विचारधारा में इस

बात की व्याख्या नहीं की गई है कि वीर्य किन वस्तुओं से बनता है तथा उसके उपादान क्या हैं। बिना उपादान के किसी वस्तु का बनना सम्भव ही नहीं। उसको स्वतः सिद्ध मान कर चलना युक्ति युक्त नहीं कहा जा सकता। भारतीय मान्यता नवीन विचारधारा की पूरक ही है विरोधी नहीं।

पौरुष ग्रन्थि (prostate gland) ऊपर कई स्थानों पर पौरुष ग्रन्थि का उल्लेख किया गया है। अतः यहाँ पर उसका संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह ग्रन्थि मूत्राशय के बिलकुल नीचे की ओर रहती है जिसकी आकृति अखरोट के समान होती है। यह केवल पुरुषों में होती है; स्त्रियों में नहीं होती। यह ठीक भी है—स्त्रियों की मूत्र प्रणाली उनकी जननेन्द्रिय से पृथक् होती है जबकि पुरुषों में मूत्र और वीर्य दोनों का निकास एक ही इन्द्रिय से होता है। अतः पुरुषों को मूत्र और वीर्य दोनों के पृथक् निकास की व्यवस्था आवश्यक हो जाती है जिस कार्य में पौरुष ग्रन्थि का उपयोग होता है।

चैम्बर्स डिक्शनरी के अनुसार यह एक अन्वर्थ संज्ञा है। ग्रीक भाषा में यह दो शब्दों से बना है 'प्रो' अर्थात् सामने और 'ष्टेट' अर्थात् स्थित किया हुआ या नियुक्त किया हुआ (ग्रीक भाषा की 'ष्टा' धातु से स्थित किये जाने के अर्थ में यह शब्द बना है।) वस्तुतः प्रोष्टेट नामक ग्रन्थि मूत्राशय के दरवाजे पर खड़ी होकर पहरेदारी का काम करती है तथा मिथ्या अभिक्रमण से रक्षा भी करती है।

अंग्रेजी भाषा के अनुसार 'prostay' या protector के अर्थ में इसे लिया जा सकता है। यह एक अत्यन्त दृढ़ एवं निरन्तर ड्यूटी देने वाला अनुचर है जो न कभी विराम लेता है न इसकी कामना करता है। यह एक उल्टे लटके एवं तंग स्थान पर जुड़े हुये शंकु के सामन स्थित रहता है। यह अपने मुख्य कर्तव्य स्थल से सवा इंच पहले और डेढ इंच बाद तक स्थित रहता है। इसके ऊपर मांस की कुछ तहें जमी रहती हैं। जैसे ही सहवास काल में वीर्य स्खलित होने के लिये शिश्न की ओर जाने को होता है यह प्रोटेष्टेट ग्रन्थि अपने ऊपर पड़े मांस खण्डों को मूत्राशय के निकास द्वार पर अड़ा देता है जिससे वीर्यपात के अवसर पर मूत्र बिन्दु मूत्राशय से निकलकर वीर्य में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर पाता। वीर्य मार्ग को मूत्र से साफ रखना इस ग्रन्थि का मुख्य कार्य है। यद्यपि डाक्टरों की सम्मति में इस ग्रन्थि के पूर्ण उपयोग का अनुसन्धान अभी बाकी है फिर भी इसका एक महत्त्वपूर्ण उपयोग यह है कि जब मूत्राशय से कुछ हटकर मूत्र प्रणाली में शुक्राशय की पतली प्रणाली आकर जुड़ती है तब इस ग्रन्थि से उद्भूत एक ऐसा द्रव वीर्य में मिल जाता है जो वीर्य को खराब होने से बचाता है। यह सच है कि वीर्य की उत्पत्ति अण्डकोष्ठों में होती है किन्तु उदर गर्त में होते हुए जब शिश्न के मार्ग से गर्भाशय में प्रवेश पर्यन्त वीर्य यात्रा करता है तब उसे सुरक्षित रखने तथा उपयोग में आने के लिये अनेक ग्रन्थियों के तत्त्व इसमें मिलते जाते हैं जिनमें अंडकोष्ठ का ऊपरी सिरा विभिन्न वाहिनियाँ, शुक्राशय, पौरुष ग्रन्थि और मूत्र प्रणाली का अग्रिम फुलाव (सुपाड़ी) ये सब अपना रस मिला देते हैं जिनमें इस पौरुष

ग्रन्थि का प्रवाहित रस वीर्य को सुरक्षित रखने और उसे बिगड़ने से बचाने के लिये महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है जिससे शुक्रकीट सुरक्षित एवं जीवित अवस्था में स्त्री योनि में पहुंचकर गर्भाशय में प्रवेश कर गर्भाधान में कारण बन जाता है। वीर्य के गर्भाशय में पहुंचने का यही संक्षिप्त इतिहास है।

गर्भाधान—शारीरिक ग्रन्थियों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इन ग्रन्थियों के स्राव से सारी शारीरिक प्रक्रिया सञ्चालित होती है। कुछ ग्रन्थियाँ ऐसी भी है जो जन्म के साथ ही अपना कार्य प्रारम्भ नहीं कर देतीं। ये उत्प्रेरक तथा शक्तिवर्धक ग्रन्थियाँ होती हैं जो बाल्यकाल की समाप्ति और यौवन के प्रारम्भ में अपना कार्य प्रारम्भ करती हैं। इनके स्राव को हार्मोंस की संज्ञा दी जाती है। स्त्रियों में हार्मोंस का कार्य कुछ शीघ्र प्रारम्भ होता है। उनके हारमोंस स्रवित होकर डिम्बों में मिलने लगते हैं जिससे स्त्रियों के शरीर पर निखार आ जाता है; लावण्य बढ़ जाता है, स्तन बढ़ने लगते हैं और नितम्बों एवं कूल्हों पर निखार आ जाता है; आँखों में तरलता लिये एक चमक उत्पन्न हो जाती है। धीरे धीरे हार्मोंस के संयोग से रक्त द्वारा स्त्री के डिम्ब पकने लगते हैं। यह क्रिया एक एक डिम्ब में अलग अलग प्रारम्भ होती है। जब कोई डिम्ब पक जाता है तब फेलोपियन ट्यूबों में होकर वह डिम्ब अपने पोषक रक्त के साथ गर्भाशय में आ जाता है तथा रक्त गर्भाशय का परिमार्जन करते हुये योनि मार्ग से निकल जाता है। जो रक्त योनि मार्ग से निकलता है उसमें ५० प्रतिशत रक्त होता है और शेष ओवरी एवं गर्भाशय का मल होता है। इसे रक्त न कहकर रज की संज्ञा दी जाती है। इसके निकल जाने से स्त्री का स्वास्थ्य बढ़ जाताहै और न निकलने से अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं, स्त्री रोगिणी रहती है और उसका स्वास्थ्य गिर जाता है। यह क्रिया ११वें वर्ष से लेकर १६, १७ वर्ष की आयु तक कभी भी प्रारम्भ हो जाती है। जिन परिवारों की लड़कियों का खान पान अमीराना होता है, घर का वातावरण शृङ्गारमय होता है उस घर की लड़कियों की यह क्रिया कुछ शीघ्र ११, १२ वर्ष की आयु में ही प्रारम्भ हो जाती है। इससे भिन्न परिवारों में यह क्रिया कुछ देर में प्रारम्भ होती है। यह क्रिया ४५, ५० या कुछ अधिक आयु तक प्रति मास होती रहती है; अतः इसे रजोदर्शन या मासिक धर्म भी कहा जाता है। इसके लिये महीना २८ दिन का माना जाता है जो १४, १४ दिनों के दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

मासिक धर्म के प्रथम भाग (पहले १४ दिनों) में डिम्ब गर्भाशय में स्थित होकर पुरुष शुक्राणु की प्रतीक्षा करता है और उसके शुक्राणु से मिल जाने पर गर्भ स्थित हो जाता है। यदि शुक्राणु नहीं मिलता तो वह धीरे धीरे गर्भ के मल में सम्मिलित हो जाता है। ये चौदह दिन ही गर्भाधान का उचित अवसर हैं। कभी कभी डिम्ब में कुछ शक्ति शेष रह जाती है और १५वें १६वें दिन भो गर्भ स्थिति सम्भव हो जाती है। मासिक धर्म का दूसरा भाग (१५वें से २७वें दिन) अगले मास के डिम्ब को पुष्ट करने में लग जाता है और यही क्रिया निरन्तर चालू रहती है।

मासिक धर्म का प्रारम्भ इस बात का सूचक अवश्य है कि प्रकृति ने लड़की को माँ बनने की आज्ञा दे दी है। किन्तु यह आज्ञा उसी प्रकार की है जैसे किसी विद्यालय में नियम बनाया जाय कि प्रवेश का न्यूनतम प्राप्ताङ्क ४० प्रतिशत है। न तो इस नियम के अनुसार छात्रों का प्रवेश हो जाता है और यदि हो जाता है तो वे अपनी कक्षा में चल नहीं पाते तथा उनका जीवन ही वरवाद हो जाता है। भविष्य में सफल होने के लिये कम से कम ६०,७० प्रतिशत अंक तो चाहिये ही। यही दशा गर्भाधान के विषय में है। इस विषय में आयुर्वेद के आचार्यों का निम्नलिखित वक्तव्य ध्यान देने योग्य हैं :—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातोन वा चिरंजीवेत जीवेद्वा दुर्वलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तवालायां गर्भाधानं नकारयेत्॥

यदि २५ वर्ष की आयु को न पहुंचा हुआ पुरुष १६ वर्ष से कम की लड़की में गर्भाधान करता है तो कोख में स्थित ही गर्भ नष्ट हो जाता है। यदि उत्पन्न भी हो जाय तो बहुत समय तक जीवित नहीं रहता। यदि जीवित भी रहता है तो उसकी इन्द्रियाँ शिथिल रहती हैं। इसलिये अत्यन्त कम आयु वाली स्त्री में गर्भ का आधान नहीं करना चाहिये।

यदि पुरुष भी कच्ची आयु में गर्भाधान करता है तो उसे भी गर्भनाश, पुत्रनाश या पुत्र की रुग्णावस्था का कष्ट झेलना ही पड़ता है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया कि प्रतीक्षा निरत डिम्ब को जब पुरुष का शुक्रकीट मिल जाता है तब गर्भ की स्थापना हो जाती है और गर्भ धीरे धीरे पलने लगता है। अब प्रकृति को गर्भस्थ शिशु के आहार की चिन्ता हो जाती हैं। जब तक शिशु के अंग स्पष्ट नहीं होते तब तक तो वह मां के अंग का एक भाग रहता ही है और इस बात की आवश्यकता नहीं पड़ती कि उसके लिये पृथक् आहार का प्रबन्ध किया जाय। किन्तु प्रकृति चुप नहीं बैठती। वह डिम्ब का पोषण बन्द कर देती है जिसमें स्त्री का मासिक धर्म भी बन्द हो जाता है। तब वह मासिक धर्म का रक्त हृदय की ओर प्रेरित कर देती है जहाँ दुग्धोत्पादक ग्रन्थियाँ उसमें रक्तगत प्रोटीन इत्यादि तत्त्वों को मिलाकर पोषक दुग्ध उत्पादन की योजना प्रारम्भ कर देती है। जब तीसरे महीने में बच्चे के अंग विकसित हो जाते हैं तब बच्चे की नाभि की नाल को हृदय से संयोजित कर बच्चे के आहार का प्रबन्ध किया जाता है।

गर्भगत बच्चे के अंगों का विकास एवं पोषण

इस विषय में चरक का शारीर स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और अत्यन्त उपयोगी जानकारी देता है। भारतीय दृष्टिकोण से लिखा गया यह एक महत्त्वपूर्ण खण्ड है। इसके रचनाकाल में चिकित्सा क्षेत्र में वैज्ञानिक अनुसन्धान नहीं हुये थे, अतएव कहीं कहीं मान्यता अश्रद्धेय हो जाती है फिर भी आश्चर्य जनक रूप में वे प्रस्थापनायें आजकल की वैज्ञानिक मान्यताओं से मेल खाती हैं या उनका समन्वय स्थापित किया जा सकता है। उदाहरण के

लिये रज और वीर्य के संयोग से गर्भ प्रवृत्ति मानी गई है। क्या स्थूल रज वीर्य मिलकर बच्चे की शरीर रचना में कारण होते हैं? इस प्रश्न के विषय में कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। चरक की विचारधारा में डिम्ब और शुक्रकीट के मिलने की बात कही गई है। यद्यपि यह प्रश्न उन प्रबुद्ध आचार्यों के सामने आया अवश्य होगा कि जब मासिक में रज बाहर निकल जाता है और सम्भोग में वीर्य का भी पुष्कल भाग बाहर ही हो जाता है तब उनका संयोग होकर मनुष्य का इतना बड़ा शरीर बन कैसे जाता है। किन्तु आचार्य इस प्रश्न की उपेक्षा कर गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि डिम्ब और शुक्रकीट का संयोजन इस मान्यता का सही उत्तर प्रतीत होता है और इसमें दोनों सिद्धान्तों का समन्वय भी है। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में मुनियों की मान्यता पर प्रकाश डाला जा रहा है जो इस विषय से संबद्ध भी है और उपयोगी भी।

चरक के अनुसार वायु अग्नि, जल और पृथ्वी ये चार तत्व माता पिता के संयोग से उत्पन्न होकर गर्भ रूप में माता की कोख में स्थित होते हैं जिनके साथ रस, आत्मा, दस इन्द्रियाँ और छः धातुयें ये सब गर्भ के रूप में प्रकट होते हैं। मन के वेग से एवं मन के साथ आत्मा गर्भ में प्रविष्ट होता है, सभी सूक्ष्म भूत उस आत्मा के आधीन रहते हैं और आत्मा प्राक्तन कर्म बन्धन से बंधा उन महाभूतों के आधीन रहता है। इस विषय में भगवान चरक ने विस्तार पूर्वक खण्डन मण्डन के साथ मातृज, पितृज, रसज, सात्म्यज, आत्मज एवं सत्त्वज (मन से उद्‌भूत) अंगों का पृथक् पृथक् परिचय दिया है। इसी प्रसंग में यह भी बतलाया गया है कि माता पिता के गुणों के अनुसार ही बालक क्यों उत्पन्न होता है; कभी कभी माता पिता से बालक की असमानता क्यों देखी जाती है। इसके साथ भी आचार्य ने, गर्भ के हेतु, उत्पति, गर्भ संज्ञा का हेतु, गर्भ के विकार, कोख में आनुपूर्वी के साथ वृद्धि एवं अवृद्धि, प्रकृति विकृति, सबअंगों के साथ जन्म, कुक्षि में ही विनाश इत्यादि तत्त्वों का कारण और परिहार के साथ विवेचन किया है।

यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो अधुनातम अनुसन्धान जींस का इस विवेचन से बहुत कुछ साम्य है जिसमें वंशानुगत एवं परम्परा प्राप्त त्वचा का वर्ण, लम्बाई चौड़ाई, आयु की सीमा, रोगों को सहने की शक्ति, हृदय की धड़कन का रेट, ब्लड प्रेशर, ब्लड ग्रुप, इत्यादि आते हैं। जींस का अर्थ है आनुवंशिकता। जब गर्भाधान के लिये शुक्र का सेचन किया जाता है और वह रज से संयुक्त हो भ्रूण (embryo) का रूप धारण कर लेता है तब रासायनिक प्रक्रिया के आधार पर वंश की एक परम्परा दूसरी परम्परा में गुणों का एवं विशेषताओं में संक्रमण हो जाता है। प्रायः किसी की बाह्य आकृति देखकर कह दिया जाता है कि यह अमुक का पुत्र है और गुणों तथा कर्मों को देखकर कहा जाता है 'क्यों न हो, आखिर यह है तो उन्हीं का पुत्र' जींस की स्थिति तथा प्रसरण का मार्ग स्त्री और पुरुष दोनों में सन्निहित रहता है। कभी बच्चा मां को पड़ता है, कभी बाप को। कभी किसी बात में मां को पड़ता है किसी बात में बाप को। कभी दोनों का सम्मिलित प्रभाव आता है; कभी

दोनों में किसी का प्रभाव नहीं आता। जींस सभी कार्यों को प्रभावित करते हैं चाहे वे साधारण हों असाधारण अच्छे हों या बुरे। आशय यह है कि प्राचीन आचार्यों का विवेचन वर्तमान जींस की विचारधारा से बहुत कुछ मेल खाता है।

भ्रूण (embryo)का अनुमास विकास

जब डिम्ब और शुक्र कीट का मेल हो जाता है तब उसकी विकास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और धीरे धीरे उसमें विकास की गति आ जाती है। उस अवस्था को भ्रूण की संज्ञा दी जाती है। चेतना धातु गुणों को ग्रहण कर गर्भ के रूप में परिणत हो जाती है और अपनी विकास यात्रा प्रारम्भ कर देती है। पहले महीने में कलल मात्र बनता है। चेतना का सामञ्जस्य होने के कारण सब धातुओं को समेटने और मिला देने से एक गाढ़ा गंदला कफ का जैसा तत्त्व बन जाता है। उस समय शरीर और शरीर के अवयव दृष्टिगत नहीं होते यद्यपि अंगावयवों की सूक्ष्म सत्ता उसमें बनी रहती है। दूसरे महीने में वह कलल कुछ गाढ़ा हो जाता है और यदि पुरुष बनने वाला हो तो गोल पिण्ड बन जाता है; यदि स्त्री बनने वाली हो तो लम्बी पेशी बन जाती है और यदि नपुंसक बनने वाला हो तो अर्बुद (बुलबुला) बन जाता है। शुक्र कीट के अवयव संस्थान में कोई अन्तर नहीं होता। स्त्री-पुरुष सभी का उस अवस्था में स्वरूप एक जैसा ही होता है। फिर यह समस्या सामने आ जाती है कि स्त्री पुरुष का गर्भ में विभाजन किस प्रकार होता है। प्राचीन आचार्यों के सामने कोई वैज्ञानिक प्रक्रिया विद्यमान नहीं थी; अतः उन्होंने साधारण कल्पना कर ली थी कि रज की अधिकता में स्त्री और वीर्य की अधिकता में पुरुष का जन्म होता है। किन्तु यह कथन स्वयं में तर्क संगत नहीं है। जैसा कि बतलाया जा चुका है वीर्य का एक बिन्दु (शुक्रकीट) गर्भाधान में कारण होता है। उसमें अधिकता या कमी का प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है। इस विषय में आधुनिक विज्ञान की दृष्टि भिन्न है। उनके अनुसार गर्भाधान करने वाली वस्तु में कोई अन्तर नहीं होता किन्तु उसके गुणों में अन्तर होता है। वे गुण ही स्त्री-पुरुष का भेद कर देते हैं। उन गुण सूत्रों को आधुनिक विज्ञान में क्रोमोसोम (chromosome) की संज्ञा दी जाती है जो अपने साथ परम्परा के भी वाहक होते हैं। क्रोमोसोम का हिन्दी पर्याय गुणसूत्र माना जा सकता है। ये गुण सूत्र दो प्रकार के होते हैं—पुरुषों को उत्पन्न करने वाले गुण सूत्र को 'Y' और स्त्री-जनक गुण सूत्र को 'X' की संज्ञा दी जाती है। नियम यह है कि पुरुष में 'Y' और 'X' ये दोनों गुणसूत्र रहते हैं जबकि स्त्री में केवल एक गुणसूत्र 'X' ही रहता है। प्रजनन में स्त्री तो प्रधान कारण है ही और उसमें 'X' विद्यमान रहता ही है। यदि पुरुष वीर्य में 'Y' गुण सूत्र है अर्थात् वह गर्भ के लिए 'Y' का सिंचन करता है तो स्त्री का 'X' और पुरुष का 'Y' मिलकर पुरुष को जन्म दे देते हैं क्योंकि पुरुष में दोनों गुण सूत्र रहते हैं। इसके प्रतिकूल यदि पुरुष भी 'X' गुण सूत्र को ही सिञ्चित करता है तब स्त्री और पुरुष दोनों का 'X' मिलकर स्त्री को जन्म देते हैं क्योंकि उसमें उस समय स्त्री का ही गुण सूत्र रह जाता है। 'Y' गुणसूत्र के अभाव में पुरुष जन्म नहीं ले सकता। इससे यह

स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री या पुरुष के जन्म में कारण पुरुष ही होता है—स्त्री का योगदान तो दोनों में एकसा ही रहता है। स्त्री में 'X''X' और पुरुष में 'X''Y' रहते हैं। चरक में सत्त्व भेद का विस्तार से वर्णन किया गया है किन्तु सर्वत्र उसमें गुणों को कारण माना गया है वीर्य के किन गुणों से स्त्री की उत्पत्ति और किन गुणों से पुरुष की उत्पत्ति होती है। क्रोमोसोम भी गुण रूप ही होते हैं। अतः चरक की मान्यता आधुनिक विज्ञान के निकट पहुंच जाती है।

गर्भ के विकास की दृष्टि से तीसरा महीना सर्वाधिक महत्त्व पूर्म होता है। इसमें शिशु के सभी अंग खुलते हैं और दाँत इत्यादि उन अंगों को छोड़कर जो जन्म लेने के बाद विकसित होते हैं अन्य सभी अंग प्रकट हो जाते हैं। इस विषय में चरककार ने अनेक मतों का उल्लेख किया है—कुछ लोग मानते हैं कि गर्भ में पहले सर बनता है; दूसरे लोग कहते हैं कि पहले हृदय बनता है। चरक का अपना मत है कि सभी अंग एक साथ बनते हैं। इनमें सबसे बाद जननेन्द्रियों की रचना होती है। जिस समय सारे अंग तैयार हो चुकते हैं उस समय जननेन्द्रिय के स्थान पर दो छोटे अंकुर, उनके बीच में एक झिरी और अंकुरों के दोनों ओर त्वचा की छोटी सी झालर बन जाती है। पुरुष गुणसूत्र (Chromosome) होने पर अंकुर बढकर लिंग की रक्त दण्डिका के रूप में परिणत हो जाते हैं। केवल स्त्री का गुणसूत्र 'X' होने पर वे अंकुर थोड़ा सा बढ़कर छोटी सी भग शिश्निका का रूप ले लेते हैं जो पुरुष के लिंग के समान होती है और योनि के अन्दर छिपी रहती है। झालर की कई तहें हो जाती हैं जो एक दूसरे से चिपकर एक रूप बन जाती हैं और उनका एक सिरा मांस में इस प्रकार विलीन हो जाता है मानो वह उसी का एक अंग हो। ये दायें बायें दोनों सिरे पुरुष के अंग में सिल जाते हैं जो सिलन दोनों अंड कोष्ठों के बीच स्पष्ट दिखलाई देती है। पुरुषों में इन दोनों भागों को बिल्कुल जोड़ दिया जाता है—केवल मूत्र एवं शुक्र प्रवाह के लिये प्रणाली का वह भाग छोड़ दिया जाता है। स्त्रियों की ये तह की हुई झालरें पेंडू से प्रारम्भ होती हैं जहाँ से ये नीचे की ओर चलती हैं तथा उसी प्रकार मुड़कर माँस में समा जाती हैं। इनका एक जोड़ पेंडू पर होता है और दूसरा गुदा से एक इन्च के अन्तर पर। दोनों भाग ऊपर और नीचे की ओर जुड़ जाते हैं। बीच में एक चीरा सा बना रहता है। इस पूरे भाग को भग (vulva या pudenda) की संज्ञा दी जाती है। इनमें कुछ चर्बी का योग रहता है जिससे उसमें कुछ चिकना पन आ जाता है। इसके एक ओर कुछ बाल भी उग आते हैं जो उस स्थान पर जड़े रहते हैं। इसकी खाल मुलायम होती है और कुछ गीली सी रहती है क्योंकि वसा ग्रन्थि अपने द्रव का दान कर इसे निरन्तर चिकनाती और आर्द्र बनाती रहती है। ये दोनों खण्ड बृहत् भगोष्ठ (labia majora) कहलाते हैं। ये भगोष्ठ मिलकर वृत्ताकार रूप में उस दरार को घेर लेते हैं जिसे भग का चीरा कहा जाता है। इसी घेरे के अन्दर मूत्र प्रणाली और योनिनली की दरारें तथा दूसरे प्रजननाङ्ग ढके रहते हैं। जैसाकि बतलाया जा चुका है मूत्र प्रणाली (urethra) पुरुष लिंग का एक भाग बनती

है और मूत्र तथा वीर्य के निष्काशन का काम करती है किन्तु स्त्री में भगशिश्निका (clitoris) का यह अंग नहीं होती। यह अलग से एक छोटी सी दरार होती है जोकि योनिनली (vagina) के खुलाव के सामने उसके निकट ही भगशिश्निका के एक इंच पीछे की ओर स्थित रहती है। इसके किनारे स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं जो कुछ उभरे हुये तथा कुछ निकले हुये से मालूम पड़ते हैं। हाथ फिराने से उनकी स्पष्ट प्रतीति होती है।

बृहत् भगोष्ठ के दोनों पर्दों को फाड़कर देखने से नीचे को झुके हुये दो तह किये हुये घुमावदार खालके पर्दे दिखलाई देते हैं जो बृहत् भगोष्ठ के मध्य में विद्यमान रहते हैं। इनको हम पुरुष लिंग के सुपाड़ी पर के चर्मावरण तथा कुछ पीछे की पतली खाल का स्थानीय मान सकते हैं। क्योंकि दोनों का निर्माण एक ही तत्त्व से होता है। इन पर्दों को लघु भगोष्ठ (labia minora) की संज्ञा दी जाती है। देखने से मालूम पड़ जाता है कि इसके दोनों पर्दे योनि छिद्र के दोनों ओर स्थित हैं। यदि इनके अगले भाग को देखा जाय तो ये अधिक स्पष्ट हो जाते हैं और आगे बढ़ कर ये एक दूसरे से मिल भी जाते हैं। जब वे भगशिश्निका के पास पहुंचते हैं तब टूट कर दोनों दो दो भागों में विभाजित हो जाते हैं। पीछे के छोटे पर्दे के दोनों खण्ड भगशिश्निका के धरातल में भगशिश्निका के दोनों ओर से आकर एक दूसरे से जुड़कर उसके बंधान का काम देते हैं तब इन्हें अंग्रेजी में 'फ्रीन्यूलम ऑफ क्लिटोरिस' की संज्ञा दी जाती है। बाहरी भाग के दोनों खण्ड क्लिटोरिस के ऊपर इस प्रकार छा जाते हैं मानो उसके ऊपर साँप के फन के आकार का कोई छत्र तना है। यह पुरुष लिंग की सुपाड़ी के चर्मावरण का स्थानीय माना जा सकता है।

योनि की दरार के पीछे की ओर लघु भगोष्ठों के पिछले छोर चर्म के एक तिरछे किनारे के माध्यम से जुड़ जाते हैं जिसे ओष्ठ बन्ध (frenulum labiorum) की संज्ञा दी जाती है। योनि के किनारे और दरार के मध्य भाग को प्रघाण परिखा (vestibule fossa) कहा जाता है। ओष्ठ बन्ध प्रायः प्रथम प्रसव के अवसर पर टूट जाते हैं। अतः परीक्षा के अवसर पर उनके दर्शन नहीं होते।

भगशिश्निका पुरुष लिंग की सह धर्मिणी है और अपने कलेवर में छोटे होते हुये भी देखने में और रचना में पुरुष की जननेन्द्रिय से अत्यधिक समानता रखती है। अन्तर यह है कि यह मूत्र प्रणाली द्वारा आक्रान्त नहीं होती; किन्तु यह एक बढ़ा हुआ प्रयोग है जिसे भग के चीरे के बाहरी भाग में स्थापित किया गया है और जिसे सुकोमल, सचेतन, लज्जाशील ऐसी ग्रन्थियों द्वारा घेरा गया है जिन्हें भगनासा (glans) की संज्ञा दी जाती है।

योनि का योजक देहरी प्रकोष्ठ (vestibule of vagina) दोनों लघु भगोष्ठों के बीच का अवकाश है। इसी अवकाश में मूत्र प्रणाली और योनि नली दोनों खुलते हैं। इसी में ग्रन्थियों के जोड़े की प्रवाहिनियाँ खुलती हैं जिन्हें योजक देहरी की प्रवाहिनी की संज्ञा दी जाती है। (जिस प्रकार पुरुष की संभोगेच्छा का प्रकाशन शिश्न की उत्तेजना से होता है उसी

प्रकार योनि का इस प्रकार प्रवाहिनियों के स्रवण से आर्द्र हो जाना संभोग के लिये उनके तैयार होने की सूचना देता है।)

प्रघाण के उत्तरवर्ती भाग के निकट योनि की दरार होती है। यह आंशिक रूप में योनि के आवरण (hymen) से ढकी रहती है। जोकि एक अर्धचन्द्राकार जाली होती है। यह योनि रन्ध्र को किनारों से चारो ओर से घेरे रहती है और सामने की अपेक्षा पीछे की ओर अधिक चौड़ी होती है। यह अस्थिर होती है और पुरुष के साथ प्रथम सहवास में टूट जाती है। (जन समाज में यह मिथ्या धारणा फैली है कि यदि प्रथम सहवास में यह टूटती नहीं और इससे खून नहीं निकलता तो इसका अर्थ होता है कि अमुक स्त्री दुराचारिणी है और पहले उससे किसी ने सहवास किया है। किन्तु यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। न तो जाली का टूटना स्त्री के सदाचार का परिचायक है और न उसके न टूटने और खून न निकलने का अर्थ यह होता है कि उससे सहवास किया जा चुका है। वास्तविकता यह है कि प्रकृति ने जाली के मध्य एक सूराख इसलिये रक्खा है कि उससे मासिक धर्म का रक्त निकल जाया करे। अब यदि संयोगवश वह सूराख बहुत बड़ा है और पुरुष यन्त्र पतला है तो वह यन्त्र जाली बिना तोड़े अन्दर प्रवेश कर जायेगा। दूसरी बात यह है कि जाली सहवास से ही नहीं दूसरे कारणों से भी टूट जाती है जैसे मासिक धर्म के रक्त का अधिक तीव्रता से निकलना, स्त्री का किसी कार्य में अधिक परिश्रम करना इससे भी जाली टूट जाती है। कभी कभी अधिक उमर पर जाली स्वतः टूट जाती है। इस प्रकार जाली टूटना, न टूटना और रक्त का बहना, न बहना कुछ भी सिद्ध नहीं करते। फिर भी विश्वास बना हुआ है जिससे अनेक घर कलह का कारण बन जाते हैं और अनेक स्त्रियों का जीवन बरबाद हो जाता है। कहा जाता है सम्भवतः फ्रांस में ऐसी जातियाँ रहती हैं जो प्रथम सम्भोग जन्य रक्त को कपड़े पर लेकर उत्सव मनाती हैं और भोज देती हैं। यदि रक्त नहीं भी निकलता तो भी किसी प्रकार का मिलता जुलता रक्त कपड़े पर लेकर उत्सव करके अपनी बहू को सदाचारिणी सिद्ध करते हैं।)

अपेक्षाकृत बड़े प्रघाण का अवकाश कुमारीच्छद और लघुभगोष्ठ के मध्य में जाली में खुलता है जो कि एक दरार होती है और खुली आँख से देखी जा सकती है।

स्त्रियों के प्रजननाङ्ग

संक्षेप में ये प्रजननाङ्ग ६ होते हैं—(१) पेंडू के नीचे उदर गर्त जो गद्दीनुमा गुदगुदा होता है और जिस पर बाल उग आते हैं। (२) वृहत् भगोष्ठ; (३) लघु भगोष्ठ; (४) भगशिश्निका; (५) मूत्र प्रणाली का उन्मीलन द्वार और (६) योनि नली। ये ६ अंग संभोगाङ्ग हैं जिनके निर्माण और कार्य पद्धति पर तीसरे महीने की भ्रूण रचना के प्रसंग में पिछले पृष्ठों पर परिचय दिया जा चुका है। इनके अतिरिक्त गर्भाशय, डिम्बकोश, डिम्बवाहक नलिका इत्यादि अनेक दूसरे अंग भी गर्भ धारण और पोषण में सहयोगी होते हैं। दुग्धोत्पादक ग्रन्थियाँ भी शिशु के पोषण में उपयोगी होकर प्रजननाङ्ग में सन्निविष्ट की जा सकती हैं।

(स्तनों के चूचुक छाती में छिपे रहते हैं और लड़कियों के स्तन लड़कों के स्तनों जैसे ही मालूम पड़ते हैं। जब पुरुष सहवास होता है और दुग्ध ग्रन्थियाँ दूध तैयार करने लगती हैं। तब वे चुचूक (स्तनों की घुण्डियाँ) बाहर आ जाती हैं। ये सभी अंग गर्भोत्पादक हैं या उनके सहयोगी हैं। उनका भी यथा स्थान परिचय दिया जा चुका है। यह सारा विवरण उन्हीं के उपयुक्त अनुच्छेदों में देखना चाहिये।

गर्भ का चौथा महीना

तीसरे महीने के अन्त तक शिशु के सभी अंग प्रकट हो जाते हैं; केवल दांत, दाढ़ी मूछ इत्यादि वे अंग रह जाते हैं जो समयानुसार जीवन के अन्य भागो में अद्भूत होते हैं। गर्भ के कुछ भाव नित्य होते हैं कुछ अनित्य। गर्भ पालन की दृष्टि से माता और पुत्र समान योगक्षेम वाले होते हैं अर्थात् खानपान इत्यादि में माता का हित होने से गर्भ का हित होता है और माता का अहित होने से गर्भ का अहित होता है। जो खान पान माता को लाभ पहुंचाता है उससे शिशु भी लाभान्वित होता है और जो कुछ माता को हानिकारक होता है उससे शिशु को भी हानि पहुंचती है।

दौर्हृद

शरीरावयवों के पूरा हो जाने पर मन का सञ्चार होता है। तब गर्भस्थ शिशु को पीड़ा आदि की प्रतीति होने लगती है और गर्भ फड़कने लगता है। उस समय वह शिशु जिस प्रकार की इच्छायें करता है वे इच्छायें माता के हृदय में पहुंच जाती है और माता भी उसी प्रकार की इच्छायें करने लगती है। आशय यह है कि शिशु माता के माध्यम से अपनी इच्छाओं को इतर विश्व पर प्रकट करता है। माता की इच्छायें पक्षान्तर में शिशु की ही इच्छायें होती हैं। गर्भ का हृदय रस वाहिनी नाडियों द्वारा माता के हृदय से सम्बन्ध रखता है। उन्हीं रस वाहिनी नाडियों के संयोग से गर्भ के हृदय की इच्छा माता के हृदय में पहुंचती है। उन भावों को देखकर ही गर्भवती स्त्री को दौर्हृद (दो हृदयों वाली) कहा जाता है। (यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये की प्रत्येक चेतन तत्त्व में दो शरीर होते हैं—एक स्थूल शरीर दूसरा सूक्ष्म शरीर। स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर की शक्ति अत्यधिक होती है। हम स्थूल आँखों से केवल अपने आस पास की चीजें देख सकते हैं; किन्तु सूक्ष्म आँखों से हमें भूत, वर्तमान, भविष्य सभी कुछ दिखलाई पड़ जाता है। हम अपने कमरे में बैठे सैंकड़ों किलोमीटर पर स्थित चार वाग रेलवे स्टेशन, हावड़ा ब्रिज, विक्टोरिया टर्मिनस आदि जोचाहें देख सकते हैं। जिन मित्रों के साथ हम खेलते रहे हैं जिन पूर्वजों की छत्रच्छाया में हम पले हैं आज वे अतीत के गर्त में विलीन हो गये, किन्तु हमारी सूक्ष्म आँखें आज भी उन्हें उसी रूप में देखती हैं। इसी प्रकार भविष्य में हमें जो कुछ प्राप्त होने वाला है; हमारे देश का जो रूप बनेगा वह सूक्ष्म शरीर की कल्पना की आँखें सभी कुछ देख सुन और समझ लेती हैं। हमारा सूक्ष्म शरीर पृथ्वी, जल, तेज वायु आकाश का नहीं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का बना होता है। मृत्यु हो जाने पर स्थूल शरीर यहीं पड़ा रह जाता है जबकि सूक्ष्म शरीर

आत्मा को अपने घेरे में लेकर गर्भाशय में प्रविष्ट होता है तब उसे अतीत की स्मृतियाँ सर्वथा विस्मृत नहीं हो जाती। वे तब तक विद्यमान रहती हैं जब तक कि गर्भाशय के कष्ट और वेदना उन्हें तिरोहित नहीं कर देते। जब अविकल शरीर गर्भाशय में बन जाता है और मन इत्यादि सूक्ष्म शरीर के आवरण में आत्मा में अतीत ज्ञान के प्रभाव में नवीन ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है तब गर्भस्थ जीव के संस्कार जागृत हो जाते हैं और वह इच्छायें करने लगता है। उसकी इच्छायें माता के हृदय में सञ्चरित हो जाती हैं। इस प्रकार वे इच्छायें दो हृदयों की होती हैं; अतः इन्हें दौर्हृद की संज्ञा प्रदान की जाती है। इन्हीं का सामान्य रूप दोहद अर्थात् गर्भ की इच्छा कहा जाता है।) शिशु की इच्छा समझ कर बुद्धिमान लोग उसका व्याघात नहीं करते अर्थात् गर्भिणी जो जो इच्छा करती है उसको पूरा करने में लापरवाही नहीं बरतते। दोहद के समय माता के इच्छित पदार्थ न मिलने से गर्भ में विकार उत्पन्न हो जाता है या गर्भपात भी हो जाता है। (कहा जाता है गर्भिणी की इच्छा के विघात से गर्भ से एक गैस उठती है; वह गर्भ के जिस अंग का स्पर्श कर लेती है उसका व्याघात हो जाता है—यदि वह आँख का स्पर्श करती है तो शिशु अन्धा हो जाता है; मस्तिष्क का स्पर्श करने से शिशु पागल हो जाता है। इसीलिये अन्धे, लंगड़े, लूले, पागल आदि अनेक दुर्गुण ग्रस्त वाला बालक जन्म लेते हैं। यह आधुनिक बुद्धिवादी लोगों के लिये व्याख्या है जो तर्क करते हैं कि शिशु की क्या इच्छा हो सकती है। यदि दोहद के प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्त पर विश्वास न भी किया जाय, केवल माँ की इच्छा मानी जाय तो भी गैस अनेक पदार्थ पैदा करती हुई देखी जाती है। इच्छापूर्ति न होने पर जो ग्लानि उत्पन्न होती है उससे गैस का उठना स्वाभाविक है। इससे स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता ही है। इच्छा पूरी होते रहने में जो प्रसन्नता होती है वह निस्सन्देह स्वास्थ्य वर्धक होती है। जब माता के शरीर से ही बालक का पालन पोषण होता है तब उसका हानि लाभ बालक को मिलना ही चाहिये। माँ प्रौढ़ होती है अतः अभाव जन्य हानि को सह लेती है; किन्तु गर्भस्थ शिशु बहुत कोमल होता है। अतः आघात को सह सकना उसके बूते की बात नहीं। गर्भोपघात हो जाना ऐसी दशा में स्वाभाविक ही है।) चरक में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि गर्भिणी कोई ऐसी इच्छा करती है जो उसको हानि पहुंचा सकती है या उसकी मृत्यु हो सकती है या गर्भपात की सम्भावना बन जाती है तो भी किसी योग्य चिकित्सक की राय से रासायनिक क्रिया द्वारा उस वस्तु को निर्दोष एवं निर्विष बनाकर दे अवश्य देना चाहिये। दोहद की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये। (कालिदास के रघुवंश में एक प्रसंग आता है कि सीता गर्भवती थीं। राम ने गोद में लेकर उनकी इच्छा के विषय में पूछा। सीता ने गोदावरी के किनारे जंगलों में घूमने की इच्छा प्रकट की। राम ने लोकापवाद से छुटकारा पाने के लिये सीता का परित्याग वाल्मीकि आश्रम के निकट जंगलों में करवा दिया। यह क्रिया प्रकट रूप में दोहद पूर्ति के लिये ही थी यद्यपि राम ने वाल्मीकि आश्रम के निकट परित्याग की बात कहकर उसकी रक्षा का उपाय पहले ही कर लिया था।

कविवर भवभूति ने भी कुछ इसी प्रकार की कल्पना अपने उत्तर रामचरित नाटक में की है।)

गर्भ का निश्चय हो जाने पर गर्भिणी की इच्छा का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। गर्भ का निश्चय मासिक बन्द हो जाने से ही हो जाता है। जो लक्षण प्रकट होते हैं उनका विशिष्ट रूप चौथे महीने में दिखलाई पड़ता है जैसे मुख से पानी गिरने लगना, अन्न अच्छा न लगना, वमन होना, अरुचि, खट्टे पदार्थों की इच्छा होना, ऊंच नीच भावों में श्रृद्धा होना या इच्छा करना, शरीर का भारी हो जाना, नेत्रों में ग्लानि होना, स्तनों में दूध की प्रवृत्ति, दोनों ओंठ और स्तनों के मुख काले हो जाना, पावों पर सूजन हो जाना, ये सब लक्षण पूर्ण गर्भवती के हैं। इन्हें देखकर और गर्भवती की इच्छा जान कर दोहद की पूर्ति अवश्य करनी चाहिये। किन्तु सामान्यतः शक्ति न होने पर ऐसी वस्तुओं को देने से विरत रहना चाहिये जिससे गर्भ का उपघात हो जाने की सम्भावना बनती हो। इस काल में खानपान या दोहद की उपेक्षा के अतिरिक्त गर्भोपघातक कुछ अन्य भाव भी होते हैं। चरक कार ने कहा है पुराने लोग (उनसे भी पुराने) मानते थे कि देवता और राक्षस तथा उनके अनुचर भी गर्भ को नष्ट कर देते हैं। अतः गर्भवती को लाल कपड़े नहीं पहिनना चाहिये तथा ऊँचे नीचे भूत प्रेतों एवं राक्षसों के आवास के लिये प्रसिद्ध स्थानों पर नहीं जाना चाहिये। (मन की दृढ़ता और गर्भिणी का इन बातों पर अविश्वास इन बाधाओं से रक्षा करता है ऐसा इस लेखक का विश्वास है। यदि भूतादि पर विश्वास किया जाता है तो गर्भिणी के मन से ही वह तत्त्व उत्पन्न हो जाता है जो गर्भ को नष्ट कर देता है। मानसिक विकृतियाँ रोगों का प्रत्यक्ष कारण हैं इसमें किसी को सन्देह करने का अवसर नहीं।) चौथे महीने में गर्भ में स्थिरता आ जाती है; इससे विशेष रूप से स्त्री शरीर भारी होने लगता है।

गर्भ का पाँचवां तथा उसके बाद के महीने

पाँचवें महीने में गर्भ के मांस और रक्त की वृद्धि अन्य महीनों की अपेक्षा अधिक होती है; इसीलिये गर्भवती का शरीर विशेष रूप से कृश होने लगता है। छठे महीने में गर्भ के बल और वर्ण की विशेष रूप से वृद्धि होती है। इसलिये गर्भवती के बल और वर्ण की हानि विशेष रूप से होनेलगती है। सातवें महीने में सम्पूर्ण भावों से गर्भ पुष्ट हो जाता है। इसलिये गर्भिणी सब प्रकार से क्लान्त एवं व्याकुल सी रहती है।

आठवें महीने में गर्भ माता से और माता गर्भ से रस वहन करने वाली नाडियों द्वारा परस्पर ओज को ग्रहण करते हैं और गर्भ सम्पूर्ण हो जाता है। इसलिये गर्भवती बारंबार आनन्दयुक्त और बारम्बार ग्लानि युक्त होती है। उस समय गर्भ में ओज स्थिर भाव से नहीं होता। इसलिये बुद्धिमानों ने अष्टम महीना बालक के उत्पन्न होने का नहीं माना है क्योंकि आठवें महीने में उत्पन्न हुआ बालक अधिकतर जीवित नहीं रहता। ओज की अव्यवस्था इस विनाश में सम्भवतः कारण होती है। (लोक प्रसिद्धि के अनुसार ७वां महीना भी प्रसव का होता है। उस महीने में पैदा हुआ बालक जीवित भी रहता है। किन्तु उसका

सारा जीवन कमजोरी लिये रहता है। लोक में भी यह विश्वास बद्धमूल देखा जाता है कि आठवें महीने का बालक जीवित नहीं रहता। फिर नवें महीने से प्रसव स्वाभाविक माना जाने लगता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार जिस दिन मासिक प्रवृत्ति होती है और उस मासिक से गर्भ रह जाता है तो उस दिन से ठीक २८० वें दिन प्रसव होता है। यह गणना गर्भावस्था के १० महीने मानकर निश्चित की गई है। महीने का चक्र मासिक के २८ दिन का होता है यह मान कर यह गणना (२८ x १० = २८०) की जाती है। यदि गर्भिणी का स्वास्थ्य ठीक हो तो यह गणना ठीक उतरती है। इस गणना में गर्भ का प्रारम्भ गर्भाधान के दिन से नहीं मासिक प्रारम्भ होने के दिन से माना जाता है।

आयुर्वेदिक ग्रन्थों में इस विषय में एक विशेषतत्त्व उपलब्ध होता है। वीर्योत्पादक ग्रन्थियाँ स्त्रियों में भी होती हैं और समागम के अवसर पर पुरुषों के समान वे भी क्षरित होती हैं। कामशास्त्रीय सिद्धान्तों में यह बतलाया गया है कि स्त्रियों का क्षरण पुरुषों के समान केवल अन्त में नहीं होता किन्तु सहवास काल में वह निरन्तर होता रहता है (दे. अनङ्गरंग की रञ्जिनी व्याख्या)। कभी कभी स्त्रियों का वह वीर्य गर्भाशय में जाकर डिम्ब से मिल जाता है और उससे एक निर्जीव गोला बन जाता है। उसमें वीर्य के दूसरे संयोजन तत्त्व तो होते नहीं। अत: उसमें हड्डी इत्यादि धातुयें नहीं बनती। किन्तु वह स्वाभाविक गति से बढ़ता रहता है और इधर उधर हिलडुल कर फड़कने का भी भ्रम पैदा करता है। समयानुसार उसका प्रसव नहीं होता और वह कभी कभी साल भर से भी अधिक समय तक कोख में पड़ा रहता है। यदि समय से पहले या बाद में वह गर्भ गिर जाता है तब कहा जाने लगता है कि उस गर्भ को भूतों और राक्षसों ने नष्ट कर दिया। यदि स्त्री के उस स्रवण को वीर्य कहा जाय तो उसकी व्यवस्था गर्भाधान के लिये नहीं स्त्रियों को प्रस्खलन का आनन्द देने के लिये हुई है। पुरुष को क्षरण में जो आनन्द अन्त में आता है वह स्त्री को सहवास काल में निरन्तर आता रहता है। दूसरा उसका उपयोग यह भी है कि उस प्रवाह से योनि की शुष्कता दूर हो जाती है और सहवास में पुरुष को कष्ट नहीं होता।

पुंसवन संस्कार

लड़के लड़की के प्रजनन के प्रसंग में बतलाया जा चुका है कि दोनों के उपकरण द्रव्यों और घटक कारणों में कोई अन्तर नहीं होता। आधान किये हुये एक ही तत्त्व से लड़का या लड़की कोई भी सन्तति पैदा हो सकती है; अन्तर केवल तत्त्वों की गुणवृत्ति (chromosomes) का रहता है। उस प्रसंग में बतलाया गया था कि स्त्री में केवल 'X' गुण वृत्ति होती है और पुरुष में 'Y' और 'X' ये दोनों गुणवृत्तियाँ होती हैं। स्त्री में 'Y' गुणवृत्ति नहीं होती। पुरुष दोनों वृत्तियों में किसी भी गुणवृत्ति का आधान कर सकता है। पुरुष जिस वीर्य का आधान करता है वह यदि 'X' गुण वृत्ति का है तो दोनों की 'X' गुणवृत्ति वाली सन्तान लड़की ही होगी क्योंकि लड़की में केवल 'X' गुणवृत्ति ही होती है। यदि पुरुष का आधान किया हुआ वीर्य 'Y' गुण वृत्ति वाला है तो लड़का होगा क्योंकि

उसमें दोनों गुणवृत्तियाँ मौजूद हैं। इसका स्पष्ट आशय यह हुआ कि लड़के लड़की के जन्म का श्रेय या उत्तरदायित्व केवल पुरुष को प्राप्त होता है। समाज अनजान में केवल लड़की पैदा करने वाली स्त्री को नीची दृष्टि से देखता है जबकि उसका उत्तरदायित्व पुरुष पर होता है। उससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि यदि ऐसा कोई उपाय मिल जाय कि पुरुष जिस वीर्य का आधान करता है उसमें 'Y' गुणवृत्ति विद्यमान हो तो लड़के के इच्छुक व्यक्तियों की आकांक्षा पूरी हो सकती है।

प्रश्न यह है कि क्या यह सम्भव है कि गुणवृत्ति में परिवर्तन कर दिया जाय और आहित की हुई 'X' गुणवृत्ति को 'Y' में बदल दिया जाय? इस विषय में अभी तक विज्ञान के क्षेत्र में सम्भवतः कोई अनुसन्धान नहीं किया गया। आम धारणा यह है कि लड़के लड़की का जन्म एक प्राकृतिक घटना है जिस पर मनुष्य का कोई वश नहीं। किन्तु प्राचीन आयुर्वेदज्ञ आचार्यों ने इसका एक समाधान निकाला था। गर्भ के तीसरे महीने में लिंग (पुल्लिग या स्त्रीलिङ्ग) की उत्पत्ति होती है। अतः उस समय यदि गर्भिणी को पुरुष गुणवृत्ति परक कुछ औषधियों का सेवन करा दिया जाय तो स्त्री गुणवृत्ति परक तत्त्व भी पुरुष गुणवृत्ति में बदल सकता है। इस क्रिया को वे आचार्य पुंसवन का नाम देते थे जिसका अर्थ होता है पुरुष सन्तान को उत्पन्न करना। यह क्रिया प्राचीन काल में इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी कि विवाह, जनेऊ, मुण्डन संस्कार इत्यादि के समान इसे भी १६ संस्कारों में स्थान दिया जाता था। जिस मासिक प्रवृत्ति के बाद गर्भाधान होता था उस मासिक प्रवृत्ति के ५२वें दिन से उस औषधि के सेवन का विधान है और तीसरे महीने के प्रारम्भ के १०, १५ दिन उसका सेवन कर लेने से आचार्यों के मत से पुत्रोत्पत्ति निश्चित हो जाती है। वैसे प्रकृति स्वयं इस बात को देखती है कि स्त्री पुरुष का संख्यानुपात बराबर बना रहे। प्रकृति की इस व्यवस्था में न तो हस्तक्षेप उचित है न उसमें शत प्रतिशत सफलता की आशा करनी चाहिये; फिर भी पीड़ित जनता के लिये एक आशा तो है ही।

पुंसवन की औषधियों में धर्मशास्त्र या आयुर्वेद की अधिकांश पुस्तकों में बटांकुर का उल्लेख किया गया है। बरगद का अंकुर तीसरे महीने गर्भवती स्त्रियों को खिला देने से स्त्री का वह गर्भ पुत्र देने वाला बन जाता है। चरक में इस चिकित्सा का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

(१) गौओं के विश्राम करने की जगह के वटवृक्षों का जो टहना पूर्व और उत्तर की ओर हो उसमें से निर्दोष दो शूंग (अंकुर या कली तोड़ लावे और दो स्वच्छ मोटे चावल तथा दो उड़द उन दोनों अंकुरों में मिलाकर अथवा दो सफेद सरसों के दाने मिलाकर तथा उस सबको दही में मिलाकर गर्भवती स्त्री पुष्य नक्षत्र में पी ले।

(२) जीवक, ऋषभक, सफेद अपामार्ग, सफेद सहचर इन सबका कल्क बनाकर अथवा इनमें से किसी एक का कल्क बनाकर गौ के दूध के साथ पुष्य नक्षत्र में पान करे।

(३) कुड्यकीट (दीवार में होने वाला धन्वी कीट विशेष) को एक अंजली जल के साथ पुष्य नक्षत्र के पी जाय।

(४) छोटी सी मछली को पुष्य नक्षत्र में एक अंजली जल के साथ पीवे।

(५) सोने, चाँदी अथवा लोहे की अग्नि के समान चमकने वाली भस्म लेकर उसे एक अंजली दूध या दही या जल में डालकर पीना चाहिए, किन्तु उसमें शेष बिल्कुल नहीं रखना चाहिये। (वाग्भट में लिखा है कि सोने चाँदी या लोहे का एक पुरुष बना ले उसे अग्नि में तपा कर एक अंजलि जल में बुझा कर उस जल को पुष्य नक्षत्र में पी जाय।)

(५) पुष्य नक्षत्र में लक्ष्मणा (सफेद फूलों वाली कटेरी) को जड़ को उखाड़ लाये उसका रस निचोड़ कर पुत्र की इच्छा से स्त्री की नाक के दाहिने नथुने में और कन्या की इच्छा से बायें, नथुने में डाले। (लक्ष्मणा एक ऐसी बूटी है जो पुत्र प्रदान के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसका एक पर्याय पुत्रकन्दा भी है।)

(६) रविवार को उखाड़ी हुई लक्ष्मणाकी जड़ का रस नथुने में डालने से भी पुत्र प्राप्ति होती है। (किन्तु आजकल पीले फूलों वाली कटेरी तो दिखलाई देती है, सफेद फूल वाली कटेरी मिलती नहीं।)

(७) पुष्य नक्षत्र में लक्ष्मणा की पुष्य में उखाड़ी हुई जड़ को दूध में पीस कर और दूध में पकाकर उसकी भाप को प्रातःकाल सूर्याभिमुख खड़े होकर सूंखे।

(८) लक्ष्मणा की जड़ को ही नहीं उसके पौदे को दूध में पीस कर और दूध में ही पकाकर अपने घर की देहली पर पूर्वाभिमुख खड़े होकर सूंघे।

ऊपर चरक के बतलाये हुए नुश्खों का उल्लेख किया गया। चरक ने यह भी लिखा है कि ब्राह्मणों में इस प्रकार के अन्य अनेक नुश्खे प्रसिद्ध हैं। अतः आप्त (विश्वासपात्र) पुरुषों के आदेश से पुंसवन के अन्य अनेक नुश्खों का प्रयोग किया जा सकता है।

सम्भवतः भाव प्रकाश में निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

पत्रमेकं पलाशस्य पीत्वा दुग्धेन गर्भिणी।
गुणवन्तं सुतं सूते वीर्यवन्तं न संशयः॥

अर्थात् ढाक के एक कोमल पत्ते को दूध में पीसकर पीने से गर्भिणी गुणवान् और शक्तिशाली पुत्र को पैदा करती है।

उक्त सभी नुश्खों में सर्वाधिक सुलभ दो ही नुश्खे हैं—वटवृक्ष का अंकुर और पलाशपत्र। एक मित्र के साथ निश्चय किया था कि यद्यपि यह प्रकृति की व्यवस्था के साथ छेड़खानी अवश्य है फिर भी परीक्षा और लोकोपकार की दृष्टि से इसका प्रयोग किया जाना चाहिये; तथा ऐसे ही लोगों को बतलाया जाना चाहिये जो अनेक लड़कियों के उत्पन्न हो जाने से परेशान हैं और पुत्र के लिये लालायित हैं। मित्र ने वटांकुर का अभ्यास अपने हाथ में लिया और मैंने पलाश-पत्र पर परीक्षण करना प्रारम्भ किया। मित्र ने जिन मामलों को हाथ में लिया उनमें शत प्रतिशत सफलता मिली; किन्तु मुझे ५ स्थानों को छोड़कर सफलता

प्राप्त हुई। बाद में उन पाँच स्थानों के विषय में जांच करने से कुछ ऐसे कारण दृष्टिगत हुए जो असफलता के लिये उत्तरदायी थे। अत: यह कहने में संकोच नहीं होता ८० प्रतिशत नहीं शत प्रतिशत ही सफलता मिली। वैसे यह भी सच है कि पलाश पत्र का उल्लेख केवल एक स्थान पर है जबकि धार्मिक और आयुर्वेदिक प्रायः सभी ग्रन्थों में जहाँ यह प्रकरण उठाया गया है सर्वत्र वटांकुर का ही विधान पाया जाता है। वट वृक्ष पुरुष का प्रतीक माना जाता है। स्त्रियाँ ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या को व्रत करके वटांकुर का सेवन करती हैं। यह एक विचित्र संयोग है कि चैत्र शुल्क अष्टमी को स्त्रियाँ अशोक का पूजन करती हैं और उसके ठीक ५२वें दिन सवित्री व्रत में वटांकुर का सेवन करती हैं। अशोक गर्भद होता है और ५२वां दिन पुंसवन का होता है जिसमें पुत्रद वटांकुर खाया जाता है। क्या भारतीय त्यौहार किसी विशेष मन्तव्य से बनाये गये हैं? क्या यह केवल संयोग है या इसमें कुछ वास्तविकता भी है? यह ऋषियों की मान्यता है और हजारों वर्षों से यह अपनाया जाता रहा है, अतः सर्वथा इस पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। किन्तु जब तक वैज्ञानिक परीक्षण न हो जाय निश्चयात्मक रूप में इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

उत्तम पुत्र उत्पन्न करने की विधि

चरक शारीर स्थान का अष्टम अध्याय इसी विषय को लेकर चला है। पद्मश्री ने भी यहाँ यह विषय उठाया है। किन्तु तारा पूजन और तन्त्र विधि तक ही इसे सीमित रक्खा है। वस्तुतः आस्तिकता और देवाराधन व्यर्थ कभी नहीं होते। शर्त यह है कि उनमें श्रद्धा होनी चाहिये। धर्म वाह्य वस्तु नहीं हृदय और भावना की वस्तु है तथा उसी का फल मिलता है। पुत्रोत्पादन में स्त्रियों की श्रद्धा-भक्ति विशेष कारण होती है। वाल्मीकि रामायण में कौशल्या परम विष्णु पूजक दिखलाई गई हैं। वेदों में विष्णु का अर्थ सूर्य होता है। वाणभट्ट ने महाराज हर्ष के जन्म में उनकी माता की सूर्यपूजा को कारण माना है। महात्मा गान्धी ने आत्मकथा में लिखा है कि उनकी माता जी इतवार के दिन विना सूर्य का दर्शन किये पानी भी नहीं पीती थीं। 'जिस दिन मेघ घिरा होता था हम सब बच्चे छत पर बैठ कर सूर्य दर्शन की प्रतीक्षा किया करते थे। जैसे ही सूर्य दिखलाई देता था हम सब चिल्लाकर कहते थे कि सूर्य दिखलाई पड़ने लगा। जब तक माता जी दौड़कर आतीं सूर्य पुनः मेघाडम्बर में विलीन हो जाता। तब माँ यह कह कर लौंट जातीं कि आज भगवान की इच्छा नहीं है कि मैं जल पान करूं।' गाँधी जी की मातृभक्ति प्रसिद्ध है।

चरक संहिता-शरीर स्थान में उत्तम पुत्र पैदा करने की विधि पर विस्तार से विचार किया गया है। उसका संक्षेप में परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

उत्तम सन्तान प्राप्त करने के लिये सात्त्विक जीवन विताना और वस्त्राभरण ऋतुमाल्य इत्यादि से साफ सुथरा और सुसज्जित रहना अत्यन्त आवश्यक है। इससे मन प्रसन्न रहता है तथा इसका भावी सन्तान की मनोवृत्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है। चरक का कहना है

कि भूखी, प्यासी, डरी हुई, खिन्न मन वाली, शोकाकुल, क्रुद्ध, किसी अन्य पुरुष को चाहने वाली, जिसको लगातार मैथुन में लगे रहना ही पसन्द हो अर्थात् बहुत कामुकी ऐसी स्त्री या तो गर्भ धारण ही नहीं करती या करती है तो उससे विरूप, भद्दी और गुणहीन सन्तान पैदा होती है। इसी प्रकार जो बहुत कम उमर वाली हो, अति वृद्धा हो, दीर्घ रोगिणी हो या किसी अन्य विकार से ग्रस्त हो उससे अच्छी सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती। जो दोष स्त्री के बतलाये गये हैं वे ही सब पुरुषों के विषय में भी लागू होते हैं।

अच्छा पुत्र प्राप्त करने के लिये सर्व प्रथम शरीर के मलोंका शोधन करना चाहिये। विशेष रूप इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जननाङ्गों में किसी प्रकार का विकार न हो। इस प्रकार शरीर-शोधन कर शक्ति संचार के लिये पुरुष घी और दूध का आस्थापन और अनुवासन (एनिमा का प्रयोग) करे तथा स्त्री को चाहिये कि तेल और मांस रस का अनुवासन (डूस प्रयोग) करे। किसी अच्छे चिकित्सक के परमार्श से यह निश्चय कर लेना चाहिये कि शरीर नीरोग है तथा उसमें उचित मात्रा में शक्तिवर्धक एवं चिकनाहट वाले तत्त्वों का समावेश किया जा चुका है।

जिस मासिक धर्म के बाद गर्भाधान की इच्छा हो उस मासिक धर्म के प्रथम तीन दिनों ब्रह्मचारिणी के सभी नियमों का पालन करे। जमीन पर लेटें, किसी पुराने वर्तन या मिट्टी के बर्तन अथवा हाथ पर रखकर भोजन करें। फिर सर से ऋतुस्नान कर, स्वच्छ सुन्दर वस्त्र धारण करे। जौं के सत्तुओं में पौष्टिक तत्त्व डाल कर उसे मथकर (मन्थ बनाकर) उसमें शहद और घी मिलाकर, बछड़े वाली, एकमात्र सफेद रंग वाली गाय का दूध मिलाकर उसे पी जाये। यह क्रिया ७ दिन करनी चाहिये। फिर ८वें दिन (४ दिन मासिक अपवित्रता के मिलाकर ४+७ = ११ दिन छोड़कर अर्थात् १२ वें दिन) सहवास करे। इस बीच (उक्त ७ दिनों में सुन्दर, सुसज्जित श्वेत चादर से ढके विस्तर पर आराम से लेटे। इन दिनों निरन्तर निम्नलिखित स्मरण दोनों स्त्री पुरुष करते रहें।

अहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठासि,
धातात्वा दधातु विधातात्वा दधातु।
ब्रह्म वर्चसा भवेदिति॥ १॥
ब्रह्माबृहस्पति विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाश्विनौ।
भगोथ मित्रावरुणौ वीरं पुत्रं दधातु मे॥२॥

यह सब क्रिया तब करनी चाहिये जब महान व्यक्तित्व वाले गौर वर्ण के, सिंह के समान पराक्रमी एवं सिंह के समान ही गम्भीर, दर्प से भरी हुई दृष्टि वाले, ओजस्वी, पवित्र सत्ता वाले, सब गुणों एवं सम्पत्तियों से सम्पन्न पुत्र को पैदा करने की इच्छा हो। यह ध्यान रहे कि सहवास पीठ के पल सीधी लेटकर कराये क्योंकि उस अवस्था में सारीधातुयें यथा स्थान स्थिर रहती हैं। यदि स्त्री सहवास काल में मुख को नीचा कर के लेटती है तो बलवान् वायु योनि को पीडित करता है; दाहिने पसवाड़े करवट लेटकर सहवास कराने में कफ टपक

कर गर्भाशय को ढक लेता है। बाईं करवट से सहवास कराने में दबाव के कारण पीड़ित हुआ पित्त रज और शुक्र को दूषित कर देता है।

उक्त क्रिया से पहले हवन का भी विधान किया गया है। चरक ने यज्ञ की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। गर्भाधान भी एक संस्कार है। अतः अनेक संस्कार पद्धतियों में यज्ञ विधि का प्रतिपादन किया गया है। यदि यज्ञ करने की इच्छा हो तो चरक में या किसी संस्कार विधि पुस्तिका से उसका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये अथवा किसी योग्य पुरोहित को नियुक्त कर इस विधि का सम्पादन करना चाहिये।

गर्भाधान के बाद गर्भावस्था के शेष महीनों में भी नियमों के पालन का विधान है। इस अवस्था में स्त्री जिस क्रिया कलाप का पालन करती है सन्तान के अन्दर वे सब गुण आ जाते हैं। चरक के अनुसार गर्भावस्था के दिनों में प्रातःकाल और सायंकाल नित्यप्रति एक विशाल सफेद बैल (साँड) को और पीले चन्दन से चर्चित एक विशाल घोड़ा को देखा करे। उस स्त्री को बहुत अच्छी सदाचार परक ऐसी कथायें सुनाना चाहिये और ऐसी बातचीत करनी चाहिये जो उस स्त्री को अच्छी मालूम पड़ें। उसे दुष्ट दुराचारिणी विरोध स्वभाव वाली तथा हित न चाहने वाली स्त्रियों से दूर रक्खे और ऐसे स्त्री पुरुषों के सम्पर्क में आने दे जो देखने सुनने में सुन्दर हों; जिनकी बोलचाल, आचार व्यवहार एवं चेष्टायें सदाचार परक तथा मन को पसन्द आने वाली हों। इसके साथ ही आँख, कान इत्यादि इन्द्रियों के विषयों से संबद्ध कलात्मक कृतियों का अनुशीलन करे, अच्छे गाने सुने, अच्छे दृश्य देखे, अच्छी पुस्तकें पढ़े; इसकी सहेलियाँ प्यारी और हितकारक बातें कहती हुई निरन्तर इसकी सेवा करें। पति भी उसी प्रकार मिलता रहे उसके मन को प्रसन्न रखने की चेष्टा करे।

ऊपर गौर वर्ण की उच्च व्यक्तित्व वाली सन्तति के गर्भाधान में एहतियातों और कर्तव्यों का वर्णन किया गया। यदि श्याम वर्ण, लाल नेत्र, विशाल कन्धों वाली ऐसी सन्तान उत्पन्न करना चाहती हो जिसका वर्ण श्याम हो, केश कोमल एवं विशाल हों, दाँत सफेद हों; जो तेजस्वी हो तथा आत्मबल से परिपूर्ण हो इन दोनों प्रकार के पुत्र या पुत्री को जन्म देने के लिये विधि तो वही अपनाई जानी चाहिये जो पहले बतलाई गई है; उसी प्रकार होम करना चाहिये। किन्तु काट-छाँट बनाव-शृङ्गार में अन्तर कर देना चाहिये। (श्वेत वर्ण एवं दूसरे प्रकार की श्वेत आसन के स्थान पर जिस प्रकार की सन्तान चाहती हो उसी के रंग इत्यादि से मिलती हुई सारी सामग्री का अपने आस पास संग्रह करना चाहिये, वैसा ही भोजन हो, वैसा ही परिवर्धन हो। जो स्त्री जैसी सन्तान को पैदा करना चाहे वैसी ही हवन सामग्री का उपयोग करे; ब्राह्मणों से वैसे ही आशीर्वाद ले तथा मन से भी उसी प्रकार की वस्तुओं का स्मरण करे। जिस प्रकार के पराक्रमी पुत्रों को उत्पन्न करना चाहे वैसे ही महापुरुषों के जीवन चरित्र पढ़े; जिस प्रदेश के आचार विचार पसन्द हों विहार, उपचार, शय्या इत्यादि में उन्हीं का पालन करे।)

उक्त समस्त विधि से कुछ अन्तर अवश्य पड़ता है किन्तु उससे पूर्ण सफलता मिल ही जायेगी इसकी गारण्टी नहीं दी जा सकती। सन्तान के रंग उसकी शक्ति इत्यादि के विषय में अन्य कारण भी होते हैं—यदि वीर्य में तेज धातु और उदक् धातु तथा अन्तरिक्ष धातु की अधिकता है तो सन्तान गौर वर्ण की होगी। पृथ्वी और वायुधातु अधिक होने से कृष्ण वर्ण होता है और सब धातुयें समान होने से श्याम वर्ण होगा। गर्भाधान में स्त्री को खेत और पुरुष को बीज डालने वाला कृषक बतलाया गया है। इसमें बीज की प्रधानता होती है। जो भी बोया जाता है वही पैदा होता है। खेत की विशेषता बीज को बदल नहीं सकती; किन्तु उपज को अच्छा या बुरा कर सकती है। यह कभी नहीं हो सकता कि बोया हुआ गेहूं चना बन जाये; किन्तु उपज खेत की विशेषता से अच्छी या बुरी हो सकती है। यदि बीज अच्छा है और खेत भी दोष रहित है तो सन्तान भी अच्छी ही होगी। अच्छी सन्तान पैदा करने के लिये खेत और बीज दोनों के अच्छे होने की आवश्यकता है। जो कर्म जैसे देश, जैसे समय में किया जाता है तथा उसमें जो सामग्री विधिवत् प्रयुक्त की जाती है उसका वैसा फल भी होता है। इसलिये जो कर्म उत्तम रीति से उत्तम सामग्री द्वारा उत्तम समय में किया जाता है उसका फल उत्तम होता है। तथा इसके विपरीत करने से विपरीत फल प्राप्त होता है।

जो स्त्री पुत्र की इच्छा करती हो उसे गर्भ-स्थिति का पता चल जाने के बाद दूसरे महीने के अन्तिम १० दिन शेष रह जाने पर पुंसवन संस्कार करना चाहिये। जैसाकि बतलाया जा चुका है मासिक प्रवृत्ति के ५२वां दिन पुंसवन का उचित समय है। पुंसवन विधि का परिचय पहले दिया जा चुका है। इसी प्रसंग में चरक में गर्भ स्थापक एवं गर्भ नाशक भावों का वर्णन किया गया है; साथ ही गर्भनाशक भावों की चिकित्सा का निर्देश भी किया गया है

सत्त्व भेद

शिशु का स्वभाव और चरित्र भी गर्भाशय में ही बन जाता है जिसको लेकर वह इस संसार में अवतीर्ण होता है। उसके चरित्र, प्रवृत्तियों और स्वभाव पर गर्भावस्था के दिनों में माता के आचार व्यवहार का बहुत प्रभाव पड़ता है। इस विषय में चरक में कुछ विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। इस विषय में आचार्य का कथन है कि जो गर्भवती नग्न होकर सोती है अथवा इधर उधर घूमती फिरती है उसके गर्भ से उत्पन्न सन्तान पगली होती है। यदि वह अधिक कलह करने वाली तथा उपद्रवशील होती है तो उसकी सन्तान अपस्मार (मिरगी) रोग वाली होती है। यदि गर्भवती अधिक मैथुन करे तो वह सन्तान विकल निर्लज्ज एवं स्त्रैण (स्त्रियों जैसे स्वभाव वाली) होती है। यदि गर्भवती निरन्तर शोक से व्याकुल रहा करे तो उसकी सन्तान डरपोक, दुबली और अल्पायु होती है। यदि गर्भकाल में स्त्री परधन की अभिलाषिणी हो तो उसकी सन्तान परायी संपत्ति को देखकर जलने वाली, ईर्ष्यालु और स्त्रैण होती है। अथवा चोर आलसी अति द्रोही एवं कुकर्म करने वाली सन्तान होती है।

यदि गर्भकाल में स्त्री अत्यन्त क्रोध किया करे तो उसकी सन्तान अत्यन्त क्रोधी, छली और चुगुलखोर उत्पन्न होती है। अत्यन्त सोने वाली गर्भवती स्त्री की सन्तान निद्रालु आलसी मूर्ख और मन्दाग्निवाली उत्पन्न होती है। यदि गर्भवती स्त्री मद्य पिये तो तृषार्त एवं विकल चित्त सन्तान होती है। जो स्त्री गौ का मांस खाय तो उसके गर्भ से सरकरा, पथरी, और शनैर्मेह वाली सन्तान होती है। वराह का मांस खाने वाली गर्भवती से लाल नेत्रों वाला हत्यारा तथा कठोर रोमों वाला पुत्र उत्पन्न होता है। मछली खाने वाली गर्भवती की सन्तान बहुत देर में पलक झपकाने वाली तथा टेढे नेत्रों वाली होती है। गर्भवती के अत्यन्त मीठा खाने से प्रमेही, गूंगी और अधिक स्थूल सन्तान होती है। गर्भवती के अत्यन्त खट्टा खाने से रक्त पित्त रोग वाली, त्वचा के रोग तथा नेत्र रोग वाली सन्तान होती है। अधिक लवण रस सेवन करने से अकाल में सफेद बाल हो जाने वाली सलवट वाली तथा गंजी सन्तान होती है। गर्भवती के चर्परे रस के अत्यन्त सेवन से दुर्बल, अल्पशुक्र तथा अनपत्य सन्तान उत्पन्न होती है। अत्यन्त कडुये रस के सेवन से सूखे हुये शरीर वाला अथवा शोथ रोगी, निर्बल और कृश सन्तान उत्पन्न होती है। अत्यन्त कषाय रस के सेवन से काले वर्ण की अफारा और उदावर्त रोग वाली सन्तान होती है।

आयुर्वेद में रोगों के जो जो कारण बतलाये गये हैं उन सबका गर्भिणी द्वारा सेवन करने से विकार बहुल सन्तान उत्पन्न होती है। जैसाकि बतलाया जा चुका है पुरुष का वीर्य अनेक शारीरिक ग्रन्थियों को लेकर बनता है। अतः विकृत वीर्य का रोगोत्पादन में अधिक महत्त्व है; किन्तु स्त्री का गर्भावस्था में अन्यथा आचार व्यवहार सन्तति को प्रभावित अवश्य करता है। अतः जब तक माता पिता दोनों संयम का पालन नहीं करते उत्तम सन्तान उत्पन्न हो ही नहीं सकती। गर्भिणी का उपचार इस प्रकार करना चाहिये जैसे तेल से भरे दीपक को लेकर चलना पड़ता है यह ध्यान रखते हुये कि कहीं तेल बिखर न जाय। थोड़ी भी असावधानी यातो गर्भपात में कारण हो जाती है या रुग्ण सन्तान उत्पन्न होती है। जन्मजात रोग औषधियों से बड़ी कठिनाई से शान्त होते हैं या वे प्रायः असाध्य ही होते हैं।

(इसी प्रसंग में चरक में योनियों के अनेक प्रकार के रोगों पर आधारित नामकरण और उनकी चिकित्सा का विवरण दिया गया है जो वर्तमान निबन्ध के क्षेत्र में नहीं आता। यह विवरण उच्चकोटि के वैद्यों के लिये उपयोगी है।)

गर्भ के वृद्धि को प्राप्त होने के लिये मासिक कर्म

यदि लक्षणों को देख कर सुन्दरी को विश्वास हो जाय कि गर्भ रह गया तब पहले महीने में बिना किसी औषधि के दूध पिया करे जिसकी मात्रा हाजमें की शक्ति के अनुसार होनी चाहिये। प्रातःकाल और सायंकाल ऐसा भोजन करे जो शक्तिवर्धक हो और अपनी प्रकृति के अनुकूल पड़ता हो। दूसरे महीने में जीवनीयगण की औषधियों से सिद्ध किया हुआ दूध पीना चाहिये। तीसरे महीने में शहद और घी मिलाकर दूध पीना लाभदायक होता है। दूसरे महीने के अन्त और तीसरे महीने के प्रारम्भ में पुंसवन करना चाहिये जिसका

विवरण पहले दिया जा चुका है। चौथे महीने में एक तोला मक्खन मिलाकर दूध पीना चाहिये। पाँचवें महीने में घी डालकर दूध पीना चाहिये। छठे और सातवें महीने में दूध में मधुरगण की औषधियाँ मिलाकर उनसे सिद्ध करके तथा उसमें घी मिलाकर पीना चाहिये।

गर्भ के लिये सातवाँ महीना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी महीने में सीमन्तोन्नयन संस्कार किया जाता है। चरककार का कहना है कि स्त्रियाँ कहती हैं कि इस महीने में बालक के केश उगते हैं जिससे गर्भिणी को जलन का अनुभव होने लगता है। किन्तु भगवान आत्रेय (चरक के उपदेशक आचार्य) इस सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका कहना है कि गर्भ के उत्पीड़न से वात पित्त और कफ हृदय देश में पहुंचकर जलन डालते हैं। खाज सी उठ खड़ी होती है और पेट चर्म को फाड़ देने वाली किक्कस नाम की खाज उठ खड़ी होती है। ऐसी स्थिति पैदा होने पर वेर के क्वाथ में मधुरगण की औषधियों के साथ दो तोला मक्खन खिलाना चाहिये। इसके अतिरिक्त उस खाज को दूर करने के लिये आचार्य ने कई एक प्रलेप बतलाये हैं। खुजलाना नहीं चाहिये, यदि खुजली असहनीय हो जाय तो हाथ से घिसना या रगड़ना चाहिये। उस खज में वात नाशक आहार में थोड़ी सी चिकनाई मिलाकर भोजन में लेना हितकर होता है। आठवें महीने में घी डालकर हलुवा बनाकर तथा उसमें मधुरगण की औषधियाँ डालकर गर्भिणी को खिलाना चाहिये। हलुवा दूध में बनाना चाहिये।

नवें महीने में मधुरगण की औषधियों के साथ तेल को सिद्ध कर उससे स्त्री का अनुवासन करना चाहिये अर्थात् उस तेल से उसके शरीर को सुगन्धित करना चाहिये तथा उस तेल से एनिला और डूस देना चाहिये तथा तेल में फोड़ा डुबाकर उसे नित्य स्त्री की योनि पर रखना चाहिये जिससे योनि में चिकनाहट प्रसव को सुविधाजनक बनाने में सहायक होती है।

उत्तम पुत्र उत्पन्न करने के ये ही संक्षिप्त उपाय हैं।

गर्भस्थ शिशु का रोग विज्ञान (Pathology)

सन्तान की उत्तमता की प्रथम आवश्यकता है उसका नीरोग कलेवर। गर्भस्थ शिशु निपट एकाकी होता है; न तो उसके रोग की सूचना देने का कोई माध्यम होता है और न स्वयं उसमें इतनी शक्ति होती है कि वह अपने दुःख दर्द की बात किसी से कह सके। उसकी इच्छा का परिज्ञान तो माता की इच्छा के रूप में प्रकट हो जाता है जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है। किन्तु रोग का पता चलने का ऐसा कोई साधन नहीं जबकि वह अत्यन्त कोमल होता है और पिता के वीर्यजन्य एवं माता के खानपान जन्य विकार उसे पीडित ही करते रहते हैं। इस ओर हमारे प्राचीन आचार्यों का ध्यान था और उन लोगों ने गर्भ की अनेक विकृतियों तथा उपचारों का वर्णन किया है। इस विषय में चरक का शरीर स्थान देखने योग्य है। जब नये दम्पत्ति तथा उनके परिवार गर्भ प्रवृत्ति का प्रथम समाचार सुनते हैं तो वे हर्ष विभोर हो जातेहैं और नवागत्तुक के विषय में अनेक कल्पनायें करने लगते हैं। किन्तु कभी कभी उनका हर्ष अचिरस्थायी होता है और उन्हें निराश होना पड़ता

है। केवल इतना ही नहीं किन्तु कभी कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं जबकि माता के स्वास्थ्य पर भी आ पड़ती है और कभी कभी तो माँ की मृत्यु भी हो जाती है। यद्यपि ७०-८० प्रतिशत बच्चे ठीक ही उत्पन्न होते हैं किन्तु हिसाव लगाकर देखा गया है कि उनमें कम से कम दो प्रतिशत बच्चे गर्भ से ही रोग लेकर उत्पन्न होते हैं और उन्हें जीवन भर भुगतना पड़ता है। एक प्रतिशत बच्चे प्रसव की अव्यवस्था से कोई रोग ग्रहण कर लेते हैं और गर्भगत रोग के कारण कम से कम उतने ही बच्चे विकृत या कमजोर दिमाग को लेकर पैदा होते हैं। समस्त गर्भों में कम से कम १५ प्रतिशत गर्भपात प्रथम तीन महीनों में ही हो जाता है; एक दो प्रतिशत गर्भपात चौथे से सातवें महीने के मध्य में हो जाता है। एक दो प्रतिशत गर्भपात जन्म समय में या उसके कुछ पहले होता है। वैज्ञानिकों का ध्यान गर्भ जन्य असामान्य बाल रोगों की ओर गया है। वैसे तो स्त्री गर्भ धारण कर लेती है और गर्भगत शिशु स्वतः स्वाभाविक रूप में बढ़ता है। किन्तु जब कभी गर्भपात जैसी अव्यवस्था बन जाती है तब समझ लिया जाता है कि दैवी या भूतप्रेत सम्बन्धी किसी अज्ञात शक्ति की यह करामात है। अज्ञान के कारण गर्भगत विकारों की ओर प्रायः ध्यान नहीं जाता। कभी कभी माँ के किसी भोजन को कारण समझ लिया जाता है या माँ के चलने फिरने या कोई काम करने पर उसका उत्तर दायित्व डाल दिया जाता है। कभी कभी यह भी कह दिया जाता है कि सूर्य ग्रहण या चन्द्र ग्रहण देख लेने से गर्भस्थ शिशु में विकार आ गया है।

तीसरे या चौथे महीने से गर्भस्थ शिशु के क्रिया कलाप की प्रतीति होने लगती है। वह इधर उधर घूमता है जिसे फड़कने की संज्ञा दी जाती है। उसका हृदय क्रियाशील हो जाता है। क्रमबद्ध श्वास प्रश्वास की परम्परा भी प्रारम्भ हो जाती है। जब तक शिशु की इस प्रकार की गतिविधि चालू रहती है माँ को प्रतीति होती रहती है कि गर्भस्थ शिशु जीवित है और स्वस्थ है। आवश्यकता इस बात की होती है कि गर्भस्थ एकाकी एवं असहाय शिशु पर पूरा ध्यान दिया जाय और जितना अधिक सम्भव हो उसे चिकित्सा की सुविधा पहुंचाई जाय, उसका अध्ययन किया जाय जिससे समय पर स्वस्थ शिशु जन्म ले सके। बच्चे के स्वस्थ होने का चिह्न माँ और चिकित्सक दोनों के द्वारा यही समझा जाता रहा है कि गर्भ इधर उधर हिलता डुलता रहता है।

लगभग आधी शताब्दी पहले वैज्ञानिकों का ध्यान दैवी शक्ति तक सीमित रहने के साथ गर्भ के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर भी गया। गर्भस्थ शिशु के हृदय की धड़कन को सुनने की चेष्टा की गई और यह अध्ययन किया गया कि शिशु में जीवनी शक्ति कितनी है। १९६० के आसपास गर्भ के एलेक्ट्रानिक अनुसन्धाताओं ने गर्भस्थ शिशु की हृदय की धड़कन की माप और उसके साथ कतिपय गर्भ विकृतियों का परिज्ञान प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। गर्भगत द्रव को लेकर अजात शिशु के विकारों का गहराई से अध्ययन किया जा सका; जरायु, भ्रूण इत्यादि के रक्त और ऊतकों (tissues) के नमूने लेकर उनका परीक्षण किया जा सका। यदि कोई निपुण वैज्ञानिक ४-५ महीने के गर्भ की अल्ट्रासाउण्ड से परीक्षा

करता है तो उसे गर्भस्थ शिशु की ऐसी असामान्य स्थितियों का पता चल जाता है जिनका जन्म के बाद उपचार सम्भव हो। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि अब तक अधिक से अधिक योग्य वैज्ञानिक भी और अधिक से अधिक शक्तिशाली अल्ट्रासाउण्ड भी सभी विकारों को पकड़ सकने में समर्थ नहीं हो सका है। यह शारीरिक विकारों को तो पकड़ सकता है किन्तु न तो निर्दोष प्रसूति की और न गर्भ के समस्त अस्वाभाविक विकारों की व्याख्या कर सकता है।

पिछले दो दशकों से (लगभग १९७० से) इस दिशा में प्रयत्न चल रहा है कि गर्भाशय के ऊतक खण्डों को लेकर बच्चे की गुणवृत्तियों (क्रोमोसोम) के विकारों और उसकी वस्तु-स्थिति की परीक्षा की जा सके। सन् १९७५ में चीन के डाक्टरों ने गर्भाशय के मुख में पतली सी नली डालकर गर्भाशय के कुछ ऊतक कण निकाल लिये। यह कार्य उन लोगों ने गर्भ के तीसरे महीने की समाप्ति के पहले किया जिससे अध्ययन से यह परिणाम निकला कि उन्हें गर्भस्थ शिशु के लिंग का पता चल गया। चीन में छोटे परिवारों की परम्परा चल पड़ी थी; अतः वहाँ के लोग अपनी इच्छा के अनुसार लड़के या लड़की के प्राप्त करने का आग्रह करने लगे।

अब जरायु के ऊतक का नमूना लेकर तथा उसका अध्ययन कर यह बात सम्भव हो गयी है कि गर्भ के लिंग का परिचय शिशु के जन्म से पहले ही प्राप्त किया जा सके तथा उसके विकारों का अध्ययन किया जा सके। यह प्रक्रिया सुरक्षित भी है, निर्दोष भी और विश्वसनीय भी। इस परीक्षा के बाद यदि माँ गर्भ को वाञ्छनीय और दोष रहित समझे तो उसे सुरक्षित रक्खे नहीं तो उससे छुटकारा ले ले। किन्तु यह प्रक्रिया अत्यन्त खर्चीली है; साथ ही भारतीय वातावरण के अनुकूल भी नहीं जहाँ लड़के-लड़की की सामाजिक स्थिति में अत्यधिक अन्तर किया जाता है। यदि यह प्रक्रिया सामान्यतः चालू हो गई तो गर्भ में पल रही कन्याओं के भ्रूण को तो नष्ट ही कर दिया जायेगा, लड़कों के भ्रूण सुरक्षित रक्खे जायेंगे जिससे दोनों का सन्तुलन बिगड़ जायेगा जो एक महान समस्या को जन्म देगा। अतः कतिपय प्रान्तीय सरकारों ने इस परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगा दिया है और शेष सरकारें इस दिशा में विचार कर रही हैं। वह वाञ्छनीय कदम है तो तत्काल उठाया जाना चाहिये।

जहाँ तक गर्भ विकृति के अध्ययन का प्रश्न है यह बहुत आवश्यक है। स्वास्थ्य पहली आवश्यकता है। मस्तिष्क की स्वस्थता के लिये शारीरिक स्वास्थ्य अत्यन्त उपयोगी है। माता पिता से प्राप्त होने वाले विकारों से यदि छुटकारा मिल सके और जन्मजात (कनजेनिटल) रोगों से सन्तति मुक्त हो सके तो उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा इसमें सन्देह नहीं।

परिशिष्ट ४

पद्याधीनुक्रमणी

(ख)

(ग)

(घ)

कामशास्त्र-ग्रन्थाः

* **अनङ्गरङ्गः ।** कल्याणमल्ल । हिन्दीभाषानुवाद तथा 'रञ्जिनीति' विस्तृत हिन्दी व्याख्या संकलित ।
  टीकाकार—डॉ॰ रामसागर त्रिपाठी
* **कामसूत्र ।** वात्सायनमुनि कृत । हिन्दी अनुवाद सहित
* **कामसूत्र ।** वात्सायनमुनि कृत । यशोधरकृत 'जयमंगला' संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार—डॉ॰ पारसनाथ द्विवेदी
* **कामसूत्र परिशीलन** (वात्स्यायन कृत कामसूत्र का प्रमाणिक शास्त्रीय विवेचन) वाचस्पति गैरोला
* **नागरसर्वस्वम् ।** पद्मश्री विरचित । हिन्दी टीका सहित ।
  व्याख्याकार—रामसागर त्रिपाठी
* **Ratiratnapradipika** : Text with Transliteration and English Translation Translated by K.R. Iyengar Edited by V. Narain

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली-110007

महापण्डित भिक्षु पद्मश्री लिखित 'नागरसर्वस्व' एक प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित काम शास्त्रीय कृति है जिसमें लेखक का दावा है उसने व्यर्थ के विवरणों को छोड़कर उपयोगी तत्व का ही इस रचना में समावेश किया है। निस्सन्देह लेखक अपने इस दावे में पूर्व रूप से आप्त काम हुआ है। इस ग्रन्थ में अनेक महत्वपूर्ण कामशास्त्रीय विषय उठाये गये हैं और संक्षेप में उनका समाहार कर दिया गया है। मानो लेखक कहना चाहता है कि कामशास्त्र का कम से कम इतना ज्ञान तो प्रत्येक नागरिक को होना चाहिये। लेखक का प्रधान उद्देश्य लोकोपकार है और कामशास्त्र सम्बन्धी विषयों को भी लोकोपकार की दृष्टि से ही विवेचित किया गया है।

इस पुस्तक का सर्वाधिक महत्व इस बात में है कि इसमें ऐसे विषय उठाये गये हैं जो प्रायः कामशास्त्रीय पुस्तकों में नहीं आते हैं। ग्रहदशा की शान्ति के लिये रत्न धारण ज्योतिष का विषय है; भाव विवेचन काव्यशास्त्र का विषय है। घर में पतिपत्नी भी विस्सङ्कोच बात नहीं कर पाते जिनको संकेतों से बात करनी पड़ती है। संकेत ज्ञान एक पृथक् तत्व है। पुत्रोत्पादन आयुर्वेद का विषय है। इनका तथा इनके जैसे और विषयों का समावेश लेखक की लोकोपकार परक दृष्टि का परिचायक है और नागरसर्वस्व नाम को चरितार्थ करता है। ग्रन्थकार तन्त्र युग में हुआ था जिसमें बीजमन्त्रों का प्राधान्य था। लेखक बौद्ध भिक्षु था अतः अपने सम्प्रदाय और सामयिक परिस्थिति के अनुकूल बीजमन्त्रों से स्वार्थ साधन और प्रेम संयोजन पर भी यथेष्ठ प्रकाश डाला गया है।

लेखक की प्रतिभा और अभिव्यञ्जना शक्ति प्रशस्त है—यही कारण है कि इसके अनेक पद्यों का उद्धरण दिया जाता है। सम्पादकों ने समीक्षात्मक टिप्पणियों और भावविषयक, रत्नविषयक तथा गर्भ विषयक अनुबन्धों का समावेश कर प्रस्तुतीकरण में चार चाँद लगा दिये हैं जिससे ग्रन्थ का उपयोग बढ़ गया है इसमें सन्देह नहीं।